प्रवचन -क्रम

82...धर्म तुम हो
....2
83..क्षण है द्वार प्रभु का
....27
84...मन की मृत्यु का नाम मौन
....51
85..जागरण ही ज्ञान
....74
86...सौंदर्य तो है अंतर्मार्ग में
....93
87...जुहो ! जुहो ! जुहो !
....115
88...एकांत ध्यान की भूमिका है
....137
89..आचरण बोध की छाया है
....159
90...अकेला होना नियति है
....183
91...सत्य अनुभव है अंतश्चक्षु का
....204

एस धम्मो सनंतनो, भाग 9
बयासीवां प्रवचन

धर्म तुम हो

न तेन होति धम्मट्ठो येनत्थं सहसा नये।
यो च अत्थं अनत्थंच उभो निच्छेय्य पंडितो।। 213।।

असाहसेन धम्मेन समेन नयती परे।
धम्मस्स गुत्तो मेधावी धम्मट्ठोति पवुच्चति।। 214।।

न तेन पंडितो होति होति यावता बहु भासति।
खेमी अवेरी अभयो पंडितोति पवुच्चति।। 215।।

न तेन थेरो होति येनस्स पलितं सिरो।
परिपक्को वयो तस्स मोघजिण्णोति वुच्चति।। 216।।

यम्हि सच्चंच धम्मो च अहिंसा सांंमो दमो।
स वे वंतमलो धीरो थेरो इति पवुच्चति।। 217।।

गौतम बुद्ध के संबंध में सात बातें।
पहली, गौतम बुद्ध दार्शनिक नहीं, द्रष्टा हैं।
दार्शनिक वह, जो सोचे। द्रष्टा वह, जो देखे। सोचने से दृष्टि नहीं मिलती। सोचना अज्ञात का हो भी नहीं सकता। जो ज्ञात नहीं है, उसे हम सोचेंगे भी कैसे? सोचना तो ज्ञात के भीतर ही परिभ्रमण है। सोचना तो ज्ञात की ही धूल में लोटना है। सत्य अज्ञात है। ऐसे ही अज्ञात है जैसे अंधे को प्रकाश अज्ञात है। अंधा लाख सोचे, लाख सिर मारे, तो भी प्रकाश के संबंध में सोचकर क्या जान पाएगा! आंख की चिकित्सा होनी चाहिए। आंख खुलनी चाहिए। अंधा जब तक द्रष्टा न बने, तब तक सार हाथ नहीं लगेगा।
तो पहली बात बुद्ध के संबंध में स्मरण रखना, उनका जोर द्रष्टा बनने पर है। वे स्वयं द्रष्टा हैं। और वे नहीं चाहते कि लोग दर्शन के ऊहापोह में उलझें।
दार्शनिक ऊहापोह के कारण ही करोड़ों लोग दृष्टि को उपलब्ध नहीं हो पाते हैं। प्रकाश की मुफ्त धारणाएं मिल जाएं, तो आंख का महंगा इलाज कौन करे! सस्ते में सिद्धांत मिल जाएं, तो सत्य को कौन खोजे! मुफ्त, उधार सब उपलब्ध हो, तो आंख की चिकित्सा की पीड़ा से कौन गुजरे! और चिकित्सा कठिन है। और चिकित्सा में पीड़ा भी है।
बुद्ध ने बार-बार कहा है कि मैं चिकित्सक हूं। उनके सूत्रों को समझने में इसे याद रखना। बुद्ध किसी सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं कर रहे हैं। वे किसी दर्शन का सूत्रपात नहीं कर रहे हैं। वे केवल उन लोगों को बुला रहे हैं जो अंधे हैं और जिनके भीतर प्रकाश को देखने की प्यास है। और जब लोग बुद्ध के पास गए, तो बुद्ध ने उन्हें कुछ शब्द नहीं पकड़ाए, बुद्ध ने उन्हें ध्यान की तरफ इंगित और इशारा किया। क्योंकि ध्यान से खुलती है आंख, ध्यान से खुलती है भीतर की आंख।
विचारों से तो पर्त की पर्त तुम इकट्ठी कर लो, आंख खुली भी हो तो बंद
हो जाएगी। विचारों के बोझ से आदमी की दृष्टि खो जाती है। जितने विचार के पक्षपात गहन हो जाते हैं, उतना ही देखना असंभव हो जाता है। फिर तुम वही देखने लगते हो जो तुम्हारी दृष्टि होती है। फिर तुम वह नहीं देखते, जो है। जो है, उसे देखना हो तो सब दृष्टियों से मुक्त हो जाना जरूरी है।
इस विरोधाभास को ख्याल में लेना, दृष्टि पाने के लिए सब दृष्टियों से मुक्त हो जाना जरूरी है। जिसकी कोई भी दृष्टि नहीं, जिसका कोई दर्शनशास्त्र नहीं, वही सत्य को देखने में समर्थ हो पाता है।
दूसरी बात, गौतम बुद्ध पारंपरिक नहीं, मौलिक हैं। गौतम बुद्ध किसी परंपरा, किसी लीक को नहीं पीटते हैं। वे ऐसा नहीं कहते हैं कि अतीत के

ऋषियों ने ऐसा कहा था, इसलिए मान लो। वे ऐसा नहीं कहते हैं कि वेद में ऐसा लिखा है, इसलिए मान लो। वे ऐसा नहीं कहते हैं कि मैं कहता हूं, इसलिए मान लो। वे कहते हैं, जब तक तुम न जान लो, मानना मत। उधार श्रद्धा दो कौड़ी की है। विश्वास मत करना, खोजना। अपने जीवन को खोज में लगाना, मानने में जरा भी शक्ति व्यय मत करना। अन्यथा मानने में ही फांसी लग जाएगी। मान-मानकर ही लोग भटक गए हैं।
तो बुद्ध न तो परंपरा की दुहाई देते, न वेद की। न वे कहते हैं कि हम जो कहते हैं, वह ठीक होना ही चाहिए। वे इतना ही कहते हैं, ऐसा मैंने देखा। इसे मानने की जरूरत नहीं है। इसको अगर परिकल्पना की तरह ही स्वीकार कर लो, तो काफी है।
परिकल्पना का अर्थ होता है, हाइपोथीसिस। जैसे कि मैंने तुमसे कहा कि भीतर आओ, भवन में दीया जल रहा है। तो मैं तुमसे कहता हूं कि यह मानने की जरूरत नहीं है कि भवन में दीया जल रहा है। इसको विश्वास करने की जरूरत नहीं। इस पर किसी तरह की श्रद्धा लाने की जरूरत नहीं है। तुम मेरे साथ आओ और दीए को जलता देख लो। दीया जल रहा है तो तुम मानो या न मानो, दीया जल रहा है। और दीया जल रहा है तो तुम मानते हुए आओ कि न मानते हुए आओ, दीया जलता ही रहेगा। तुम्हारे न मानने से दीया बुझेगा नहीं, तुम्हारे मानने से जलेगा नहीं।
इसलिए बुद्ध कहते हैं, तुम सिर्फ मेरा निमंत्रण स्वीकार करो। इस भवन में दीया जला है, तुम भीतर आओ। और यह भवन तुम्हारा ही है, यह तुम्हारी ही अंतरात्मा का भवन है। तुम भीतर आओ और दीए को जलता देख लो। देख लो, फिर मानना।
और ख्याल रहे, जब देख ही लिया तो मानने की कोई जरूरत नहीं रह जाती है।
हम जो देख लेते हैं, उसे थोड़े ही मानते हैं। हम तो जो नहीं देखते, उसी को मानते हैं। तुम पत्थर-पहाड़ को तो नहीं मानते, परमात्मा को मानते हो। तुम सूरज-चांद-तारों को तो नहीं मानते, वे तो हैं। तुम स्वर्गलोक, मोक्ष, नर्क को मानते हो। जो नहीं दिखायी पड़ता, उसको हम मानते हैं। जो दिखायी पड़ता है, उसको तो मानने की जरूरत ही नहीं रह जाती है, उसका यथार्थ तो प्रगट है।
तो बुद्ध कहते हैं, मेरी बात पर भरोसा लाने की जरूरत नहीं, इतना ही काफी है कि तुम मेरा निमंत्रण स्वीकार कर लो। इतना पर्याप्त है। इसको वैज्ञानिक कहते हैं, हाइपोथीसिस, परिकल्पना। एक वैज्ञानिक कहता है, सौ डिग्री तक पानी गर्म करने से पानी भाप बन जाता है। मानने की कोई जरूरत नहीं, चूल्हा तुम्हारे घर में है, जल उपलब्ध है, आग उपलब्ध है, चढ़ा दो चूल्हे पर जल को, परीक्षण कर लो। परीक्षण करने के लिए जो बात मानी गयी है, वह परिकल्पना। अभी स्वीकार नहीं कर ली है कि यह सत्य है, लेकिन एक आदमी कहता है, शायद सत्य हो, शायद असत्य हो, प्रयोग करके देख लें, प्रयोग ही सिद्ध करेगा--सत्य है या नहीं?
तो बुद्ध पारंपरिक नहीं हैं, मौलिक हैं। विचार की परंपरा होती है, दृष्टि की मौलिकता होती है। विचार अतीत के होते हैं, दृष्टि वर्तमान में होती है। विचार दूसरों के होते हैं, दृष्टि अपनी होती है।
तीसरी बात, गौतम बुद्ध शास्त्रीय नहीं हैं। पंडित नहीं हैं, वैज्ञानिक हैं। बुद्ध ने धर्म को पहली दफे वैज्ञानिक प्रतिष्ठा दी। बुद्ध ने धर्म को पहली दफे विज्ञान के सिंहासन पर विराजमान किया। इसके पहले तक धर्म अंधविश्वास था। बुद्ध ने उसे बड़ी गरिमा दी। बुद्ध ने कहा, अंधविश्वास की जरूरत ही नहीं है। धर्म तो जीवन का परम सत्य है। एस धम्मो सनंतनो। यह धर्म तो शाश्वत और सनातन है। तुम जब आंख खोलोगे तब इसे देख लोगे।
इसलिए बुद्ध ने यह नहीं कहा कि नरक के भय के कारण मानो, और यह भी नहीं कहा कि स्वर्ग के लोभ के कारण मानो। और इसलिए यह भी नहीं कहा कि परमात्मा सताएगा अगर न माना, और परमात्मा पुरस्कार देगा अगर माना। नहीं, ये सब व्यर्थ की बातें बुद्ध ने नहीं कहीं।
बुद्ध ने तो सारसूत्र कहा। बुद्ध ने तो कहा, यह धर्म तुम्हारा स्वभाव है। यह तुम्हारे भीतर बह रहा है, अहर्निश बह रहा है। इसे खोजने के लिए आकाश

में आंखें उठाने की जरूरत नहीं है, इसे खोजने के लिए भीतर जरा सी तलाश करने की जरूरत है। यह तुम हो, यह तुम्हारी नियति है, यह तुम्हारा स्वभाव है। एक क्षण को भी तुमने इसे खोया नहीं, सिर्फ विस्मरण हुआ है।
तो बुद्ध ने चैतन्य की सीढ़ियां कैसे पार की जाएं, मूर्च्छा से कैसे आदमी अमूर्च्छा में जाए, बेहोशी कैसे टूटे और होश कैसे जगे, इसका विज्ञान थिर किया। और जो उनके साथ भीतर गए, उन्हें निरपवाद रूप से मान लेना पड़ा कि बुद्ध जो कहते हैं, ठीक कहते हैं।
यह अपूर्व क्रांति थी। ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था। बुद्ध मील के पत्थर हैं मनुष्य-जाति के इतिहास में। संत तो बहुत हुए, मील के पत्थर बहुत थोड़े लोग होते हैं। महावीर भी मील के पत्थर नहीं हैं। क्योंकि महावीर ने जो कहा, वह तेईस तीर्थंकर पहले कह चुके थे। कृष्ण भी मील के पत्थर नहीं हैं। क्योंकि कृष्ण ने जो कहा, वह उपनिषद और वेद सदा से कहते रहे थे। बुद्ध मील के पत्थर हैं, जैसे लाओत्सू मील का पत्थर है। कभी-कभार, करोड़ों लोगों में एकाध संत होता है, करोड़ों संतों में एकाध मील का पत्थर होता है। मील के पत्थर का अर्थ होता है, उसके बाद फिर मनुष्य-जाति वही नहीं रह जाती। सब बदल जाता है, सब रूपांतरित हो जाता है। एक नयी दृष्टि और एक नया आयाम और एक नया आकाश बुद्ध ने खोल दिया।
बुद्ध के साथ धर्म अंधविश्वास न रहा, अंतर्खोज बना। बुद्ध के साथ धर्म ने बड़ी छलांग ली। आस्तिक को ही धर्म में जाने की सुविधा न रही, नास्तिक को भी सुविधा हो गयी। ईश्वर को नहीं मानते, कोई हर्ज नहीं, बुद्ध कहते ही नहीं कि मानना जरूरी है। कुछ भी नहीं मानते, बुद्ध कहते हैं, तो भी कोई चिंता की बात नहीं। कुछ मानने की जरूरत ही नहीं है। बिना कुछ माने अपने भीतर तो जा सकते हो। भीतर जाने के लिए मानने की आवश्यकता क्या है! न तो ईश्वर को मानना है, न आत्मा को मानना है, न स्वर्ग-नर्क को मानना है। इसे तो नास्तिक भी इनकार न कर सकेगा कि मेरा भीतर है। इसे तो नास्तिकों ने भी नहीं कहा है कि भीतर नहीं है। भीतर तो है ही। नास्तिक कहते हैं, यह भीतर शाश्वत नहीं है। बुद्ध कहते हैं, फिकर छोड़ो, पहले यह जितना है उसे जान लो, उसी जानने से अगर शाश्वत का दर्शन हो जाए तो फिर मानने की जरूरत न होगी; तुम मान ही लोगे।
बुद्ध ने नास्तिकों को धार्मिक बनाने का महत कार्य पूरा किया। इसलिए बुद्ध के पास जो लोग आकर्षित हुए, बड़े बुद्धिमान लोग थे। आमतौर से धार्मिक साधु-संतों के पास बुद्धिहीन लोग इकट्ठे होते हैं। जड़, मूर्च्छित, मुर्दा। बुद्ध ने मनुष्य-जाति की जो श्रेष्ठतम संभावनाएं हैं, उनको आकर्षित किया। बुद्ध के पास नवनीत इकट्ठा हुआ चैतन्य का। ऐसे लोग इकट्ठे हुए जो और किसी तरह तो धर्म को मान ही नहीं सकते थे, उनके पास प्रज्वलित तर्क था। इसलिए बुद्ध दार्शनिक नहीं हैं, लेकिन बुद्ध के पास इस देश के सबसे बड़े से बड़े दार्शनिक इकट्ठे हो गए। बुद्ध अकेले एक व्यक्ति के पीछे इतना दर्शनशास्त्र पैदा हुआ, जितना मनुष्य-जाति के इतिहास में किसी दूसरे व्यक्ति के पीछे नहीं हुआ। और बुद्ध के पीछे इतने महत्वपूर्ण विचारक हुए कि जिनकी तुलना सारी पृथ्वी पर कहीं भी खोजनी मुश्किल है।
कैसे यह घटित हुआ? बुद्ध ने महानास्तिकों को आकर्षित किया। आस्तिक को बुला लेना मंदिर में तो कोई खास बात नहीं, नास्तिक को बुला लेने में कुछ खास बात है। बुद्ध वैज्ञानिक हैं, इसलिए नास्तिक भी उत्सुक हुआ। विज्ञान को तो नास्तिक ठुकरा न सकेगा। बुद्ध ने कहा, संदेह है, चलो, संदेह की ही सीढ़ी बनाएंगे। संदेह से और शुभ क्या हो सकता है! संदेह के पत्थर को सीढ़ी बना लेंगे। संदेह से ही तो खोज होती है। इसलिए संदेह को फेंको मत।
इस बात को समझना। जिसके पास जितनी विराट दृष्टि होती है, उतना ही वह
हर चीज का उपयोग कर लेना चाहता है। सिर्फ क्षुद्र दृष्टि के लोग काटते हैं। क्षुद्र दृष्टि का आदमी कहेगा, संदेह नहीं चाहिए, श्रद्धा चाहिए। काटो संदेह को। लेकिन संदेह तुम्हारा जीवंत अंग है, काटोगे तो तुम अपंग हो जाओगे। संदेह का रूपांतरण होना चाहिए, खंडन नहीं। संदेह ही श्रद्धा बन जाए, ऐसी कोई प्रक्रिया होनी चाहिए।

कोई कहता है, काटो कामवासना को। लेकिन काटने से तो तुम अपंग हो जाओगे। कुछ ऐसा होना चाहिए कि कामवासना राम की वासना बन जाए। ऊर्जा का अधोगमन ऊर्ध्वगमन बन जाए। तुम ऊर्ध्वरेतस बन जाओ। कुछ ऐसा होना चाहिए कि तुम्हारे कंकड़-पत्थर भी हीरों में रूपांतरित हो जाएं। कुछ ऐसा होना चाहिए कि तुम्हारे जीवन की कीचड़ कमल बन सके।
बुद्ध ने वह कीमिया दी।
चौथी बात, गौतम बुद्ध वायवी, एब्सट्रेक्ट नहीं, अत्यंत व्यावहारिक हैं। ऊंचे से ऊंची छलांग ली है उन्होंने, लेकिन पृथ्वी को कभी नहीं छोड़ा।
जड़ें जमीन में जमाए रखीं। वह सिर्फ हवा में ही पंख नहीं मारते रहे।
एक बहुत प्राचीन कथा है कि ब्रह्मा ने जब सृष्टि बनायी और सब चीजें बनायीं, तभी उसने यथार्थ और स्वप्न भी बनाया। बनते ही झगड़ा शुरू हो गया। यथार्थ और स्वप्न का झगड़ा तो प्राचीन है। पहले दिन ही झगड़ा शुरू हो गया। यथार्थ ने कहा, मैं श्रेष्ठ हूं; स्वप्न ने कहा, मैं श्रेष्ठ हूं, तुझमें रखा क्या है! झगड़ा यहां तक बढ़ गया कि कौन महत्वपूर्ण है दोनों में कि दोनों झगड़ते हुए ब्रह्मा के पास गए। ब्रह्मा हंसे और उन्होंने कहा, ऐसा करो, सिद्ध हो जाएगा प्रयोग से। तुममें से जो भी जमीन पर पैर गड़ाए रहे और आकाश को छूने में समर्थ हो जाए, वही श्रेष्ठ है।
दोनों लग गए। स्वप्न ने तो तत्क्षण आकाश छू लिया, देर न लगी, लेकिन पैर उसके जमीन तक न पहुंच सके। टंग गया आकाश में। हाथ तो लग गए आकाश से, लेकिन पैर जमीन से न लगे--स्वप्न के पैर होते ही नहीं। यथार्थ जमीन में पैर गड़ाकर खड़ा हो गया, जैसे कि कोई वृक्ष हो, लेकिन ठूंठ की तरह, आकाश तक उसके हाथ न पहुंचे।
ब्रह्मा ने कहा, समझे कुछ? स्वप्न अकेला आकाश में अटक जाता है, यथार्थ अकेला जमीन पर भटक जाता है। कुछ ऐसा चाहिए कि स्वप्न और यथार्थ का मेल हो जाए।
तो बुद्ध वायवी नहीं हैं। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि उन्होंने आकाश नहीं छुआ। उन्होंने आकाश छुआ, लेकिन यथार्थ के आधार पर छुआ।
इस फर्क को समझना।
बुद्ध ने अपने पैर तो जमीन पर रोके, बुद्ध ने यथार्थ को तो जरा भी नहीं भुलाया, यथार्थ में बुनियाद रखी; भवन उठा, मंदिर ऊंचा उठा, मंदिर पर स्वर्णकलश चढ़े। लेकिन मंदिर के स्वर्णकलश टिकते तो जमीन में छिपे हुए पत्थरों पर हैं, भूमि के भीतर छिपे हुए बुनियाद के पत्थरों पर टिकते हैं। बुद्ध ने एक मंदिर बनाया, जिसमें बुनियाद भी है और शिखर भी।
बहुत लोग हैं, जिनको हम नास्तिक कहते हैं, वे जमीन पर अटके रह जाते हैं। वे ठूंठ की तरह हैं। यथार्थ का ठूंठ। मार्क्सवादी हैं या चार्वाकवादी हैं, वे यथार्थ का ठूंठ। वे जमीन में तो पैर गड़ा लेते हैं, लेकिन उनके भीतर आकाश तक उठने की कोई अभीप्सा नहीं है, आकाश तक उठने की कोई क्षमता नहीं है। और चूंकि वे सपने को काट डालते हैं बिल्कुल और कह देते हैं, आदर्श है ही नहीं जगत में। बस यही सब कुछ है, मिट्टी ही सब कुछ है। उनके जीवन में कमल नहीं फूलता, कमल नहीं उठता। कमल का उपाय ही नहीं रह जाता। जिसको इनकार कर दिया आग्रहपूर्वक, उसका जन्म नहीं होता।
और फिर दूसरी तरफ सिद्धांतवादी हैं; एब्सट्रेक्ट, वायवी विचारक हैं;
वे आकाश में ही पर मारते रहते हैं, वे कभी जमीन पर पैर नहीं रोकते हैं। वे आदर्श में जीते हैं, यथार्थ से उनका कभी कोई मिलन ही नहीं होता। उनकी आंखों में आकाश-कुसुम खिलते हैं, असली कुसुम नहीं।
बुद्ध स्वप्नवादी नहीं हैं, परम व्यावहारिक हैं। लेकिन चार्वाक जैसे व्यवहारवादी भी नहीं हैं। उनका व्यवहारवाद अपने भीतर परम आदर्श की संभावना छिपाए हुए है। लेकिन वे कहते हैं, शुरू तो करना होगा जमीन पर पैर टेकने से। जिसके पैर जमीन में जितनी मजबूती से टिके हैं, वह उतनी ही आसानी से आकाश को छूने में समर्थ हो पाएगा। मगर यात्रा तो शुरू करनी पड़ेगी जमीन में पैर टेकने से।
इसलिए जब कोई बुद्ध के पास आता है और ईश्वर की बात पूछता है, वे कहते हैं, व्यर्थ की बातें मत पूछो। अनेकों को तो लगा कि बुद्ध अनीश्वरवादी

हैं, इसलिए ईश्वर के बाबत जवाब नहीं देते। यह बात सच नहीं है। बुद्ध कहते हैं, पहले जमीन में तो पैर गड़ा लो, पहले ध्यान में तो उतरो, पहले अंतस चेतना में तो जड़ें फैला लो, पहले तुम जो हो उसको तो पहचान लो, फिर यह पीछे हो लेगा। यह अपने से हो लेगा। यह एक दिन अचानक हो जाता है। जब जमीन में वृक्ष की जड़ें खूब मजबूती से रुक जाती हैं, तो वृक्ष अपने आप आकाश की तरफ उठने लगता है। एक दिन आकाश में उठे वृक्ष में फूल भी खिलते हैं, वसंत भी आता है। मगर वह अपने से होता है। असली बात जड़ की है।
तो बुद्ध बहुत गहरे में यथार्थवादी हैं, लेकिन उनका यथार्थ आदर्श को समाहित किए हुए है। वह आदर्श समन्वित है यथार्थ में।
पांचवीं बात, गौतम बुद्ध विधिवादी नहीं, मानवीय हैं। एक तो विधिवादी होता है, जैसे मनु। सिद्धांत महत्वपूर्ण हैं, मनुष्य महत्वपूर्ण नहीं है। ऐसा लगता है मनु में, जैसे मनुष्य सिद्धांत के लिए बना है। मनुष्य की आहुति चढ़ायी जा सकती है सिद्धांत के लिए, लेकिन सिद्धांत में फेर-बदल नहीं की जा सकती।
बुद्ध अति मानवीय हैं, ह्यूमनिस्ट। मानववादी हैं। वे कहते हैं, सिद्धांत का उपयोग है मनुष्य की सेवा में तत्पर हो जाना। सिद्धांत मनुष्य के लिए है, मनुष्य सिद्धांत के लिए नहीं। इसलिए बुद्ध के वक्तव्यों में बड़े विरोधाभास हैं। क्योंकि बुद्ध एक-एक व्यक्ति की मनुष्यता को इतना मूल्य देते, इतना चरम मूल्य देते हैं कि अगर उन्हें लगता है इस आदमी को इस सिद्धांत से ठीक नहीं पड़ेगा, तो वे सिद्धांत बदल देते हैं। अगर उन्हें लगता है कि थोड़े से सिद्धांत में फर्क करने से इस आदमी को लाभ होगा, तो उन्हें फर्क करने में जरा भी झिझक नहीं होती। लेकिन मौलिक रूप से ध्यान उनका व्यक्ति पर है, मनुष्य पर है। मनुष्य परम है। मनुष्य चरम है। मनुष्य मापदंड है। सब चीजें मनुष्य पर कसी जानी चाहिए।
इसलिए बुद्ध वर्ण-व्यवस्था को न मान सके। इसलिए बुद्ध आश्रम-व्यवस्था को भी न मान सके। क्योंकि ये जड़ सिद्धांत हैं। बुद्ध ने कहा, ब्राह्मण वही जो ब्रह्म को जाने। ब्राह्मण-घर में पैदा होने से कोई ब्राह्मण नहीं होता। और शूद्र वही जो ब्रह्म को न जाने। शूद्र-घर में पैदा होने से कोई शूद्र नहीं होता। तो अनेक ब्राह्मण शूद्र हो गए, बुद्ध के हिसाब से, और अनेक शूद्र ब्राह्मण हो गए। सब अस्तव्यस्त हो गया। मनु के पूरे शास्त्र को बुद्ध ने उखाड़ फेंका।
हिंदू अब तक भी बुद्ध से नाराजगी भूले नहीं हैं। वर्ण-व्यवस्था को इस बुरी तरह बुद्ध ने तोड़ा। यह कुछ आकस्मिक बात नहीं थी कि डाक्टर अंबेडकर ने ढाई हजार साल बाद फिर शूद्रों को बौद्ध होने का निमंत्रण दिया। इसके पीछे कारण है। अंबेडकर ने बहुत बातें सोची थीं। पहले उसने सोचा कि ईसाई हो जाएं, क्योंकि हिंदुओं ने तो सता डाला है, तो ईसाई हो जाएं। फिर सोचा कि मुसलमान हो जाएं। लेकिन यह कोई बात जमी नहीं, क्योंकि मुसलमानों में भी वही उपद्रव है। वर्ण के नाम से न होगा तो शिया-सुन्नी का है।
अंततः अंबेडकर की दृष्टि बुद्ध पर पड़ी और तब बात जंच गयी अंबेडकर को
कि शूद्र को सिवाय बुद्ध के साथ और कोई उपाय नहीं है। क्योंकि शूद्र के लिए भी अपने सिद्धांत बदलने को अगर कोई आदमी राजी हो सकता है तो वह गौतम बुद्ध हैं--और कोई राजी नहीं हो सकता--जिसके जीवन में सिद्धांत का मूल्य ही नहीं, मनुष्य का चरम मूल्य है।
यह आकस्मिक नहीं है कि अंबेडकर बौद्ध हुए। यह पच्चीस सौ साल के बाद शूद्रों का फिर बौद्धत्व की तरफ जाना, या बौद्धत्व के मार्ग की तरफ जाना, बौद्ध होने की आकांक्षा, बड़ी सूचक है। इससे बुद्ध के संबंध में खबर मिलती है।
बुद्ध ने वर्ण की व्यवस्था तोड़ दी और आश्रम की व्यवस्था भी तोड़ दी। जवान, युवकों को संन्यास दे दिया। हिंदू नाराज हुए। संन्यस्त तो आदमी होता है आखिरी अवस्था में, मरने के करीब। अगर बचा रहा, तो पचहत्तर साल के बाद उसे संन्यस्त होना चाहिए। तो पहले तो पचहत्तर साल तक लोग बचते नहीं।
अगर बच गए, तो पचहत्तर साल के बाद ऊर्जा नहीं बचती जीवन में। तो हिंदुओं का

संन्यास एक तरह का मुर्दा संन्यास है, जो आखिरी घड़ी में कर लेना है। मगर इसका जीवन से कोई बहुत गहरा संबंध नहीं है।
बुद्ध ने युवकों को संन्यास दे दिया, बच्चों को संन्यास दे दिया और कहा कि यह बात मूल्यवान नहीं है, लकीर के फकीर होकर चलने से कुछ भी न चलेगा। अगर किसी व्यक्ति को युवावस्था में भी परमात्मा को खोजने की, सत्य को खोजने की, जीवन के यथार्थ को खोजने की प्रबल आकांक्षा जगी है, तो मनु महाराज का नियम मानकर रुकने की कोई जरूरत नहीं है। वह अपनी आकांक्षा को सुने, वह अपनी आकांक्षा से जाए। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आकांक्षा को सुने। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आकांक्षा से जीए। उन्होंने सब सिद्धांत एक अर्थ में गौण कर दिए, मनुष्य प्रमुख हो गया।
तो वे सैद्धांतिक नहीं हैं, विधिवादी नहीं हैं। लीगल नहीं है उनकी पकड़, उनकी पकड़ मानवीय है। कानून इतना मूल्यवान नहीं है, जितना मनुष्य मूल्यवान है। और हम कानून बनाते ही इसीलिए हैं कि मनुष्य के काम आए। मनुष्य कानून के काम आने के लिए नहीं है। इसलिए जब जरूरत हो, कानून बदला जा सकता है। जब मनुष्य के हित में हो, ठीक है, जब अहित में हो जाए तो तोड़ा जा सकता है। जो-जो मनुष्य के अहित में हो जाए, तोड़ देना है। कोई कानून शाश्वत नहीं है, सब कानून उपयोग के लिए हैं।
और छठवीं बात, गौतम बुद्ध नियमवादी नहीं हैं, बोधवादी हैं।
अगर बुद्ध से पूछो, क्या अच्छा है, क्या बुरा है, तो बुद्ध उत्तर नहीं देते। बुद्ध यह नहीं कहते कि यह काम बुरा है और यह काम अच्छा है। बुद्ध कहते हैं, जो बोधपूर्वक किया जाए, वह अच्छा; जो बोधहीनता से किया जाए, बुरा।
इस फर्क को ख्याल में लेना। बुद्ध यह नहीं कहते कि हर काम हर स्थिति में भला हो सकता है। या कोई काम हर स्थिति में बुरा हो सकता है। कभी कोई बात पुण्य हो सकती है, और कभी कोई बात पाप हो सकती है--वही बात पाप हो सकती है, भिन्न परिस्थिति में वही बात पाप हो सकती है। इसलिए पाप और पुण्य कर्मों के ऊपर लगे हुए लेबिल नहीं हैं। अभी जो तुमने किया, पुण्य है; और सांझ को दोहराओ तो शायद पाप हो जाए। भिन्न परिस्थिति।
तो फिर हमारे पास शाश्वत आधार क्या होगा निर्णय का? बुद्ध ने एक नया आधार दिया। बुद्ध ने आधार दिया--बोध, जागरूकता। इसे ख्याल में लेना। जो मनुष्य जागरूकतापूर्वक कर पाए, जो भी जागरूकता में ही किया जा सके, वही पुण्य है। और जो बात केवल मूर्च्छा में ही की जा सके, वही पाप है। जैसे, तुम पूछो, क्रोध पाप है या पुण्य? तो बुद्ध कहते हैं, अगर तुम क्रोध जागरूकतापूर्वक कर सको, तो पुण्य है। अगर क्रोध तुम मूर्च्छित होकर ही कर सको, तो पाप है।
अब फर्क समझना। इसका मतलब यह हुआ कि हर क्रोध पाप नहीं होता और हर क्रोध पुण्य नहीं होता। कभी मां जब अपने बेटे पर क्रोध करती है, तो जरूरी नहीं है कि पाप हो। शायद पुण्य भी हो, पुण्य हो सकता है। शायद बिना क्रोध के बेटा भटक जाता। लेकिन इतना ही बुद्ध का कहना है, होशपूर्वक किया जाए। मैंने एक झेन कहानी सुनी है। एक समुराई, एक क्षत्रिय के गुरु को किसी
ने मार दिया। और जापान में ऐसी व्यवस्था है, अगर किसी का गुरु मार डाला जाए, तो शिष्य का यह कर्तव्य है कि बदला ले। और जब तक वह मारने वाले को न मार दे, तब तक चैन न ले। ये समुराई तो बड़े भयानक योद्धा होते हैं। गुरु को किसी ने मार डाला, तो उसका जो शिष्य था, वह तो सब कुछ छोड़कर बस इसी में लग गया।
दो साल बाद उसका पीछा करते-करते एक जंगल में, एक गुफा में उसको पकड़ लिया। बस उसकी छाती में छुरा भोंकने को था ही कि उस आदमी ने उस समुराई के ऊपर थूक दिया। जैसे ही उसने थूका, उसने छुरा वापस रख लिया अपनी म्यान में और वापस गुफा के बाहर निकल आया।
उस आदमी ने कहा, क्यों भाई, क्या हो गया? दो साल से मेरे पीछे पड़े हो, बमुश्किल तुम मुझे खोज पाए, मैं जंगल-जंगल भागता रहा, आज तुम्हें मिल गया, आज क्या बात हो गयी कि छुरा निकाला हुआ वापस रख लिया?

उसने कहा कि मुझे क्रोध आ गया। तुमने थूक दिया, मुझे क्रोध आ गया। मेरे गुरु का उपदेश था, मारो भी अगर किसी को, तो मूर्च्छा में मत मारना। तो मारने में भी कोई पाप नहीं है। लेकिन तुमने जो थूक दिया, दो साल तक मैंने होश रखा--यह तो सिर्फ एक व्यवस्था की बात थी कि गुरु को मेरे तुमने मारा तो मैं तुम्हें मार रहा था, मेरा इसमें कुछ वैयक्तिक लेना-देना नहीं था-- लेकिन तुमने थूक क्या दिया मुझ पर, मैं भूल ही गया गुरु को और मेरे मन में भाव उठा कि मार डालूं इस आदमी को, इसने मेरे ऊपर थूका! मैं बीच में आ गया, मूर्च्छा आ गयी। अहंकार बीच में आ गया, मूर्च्छा आ गयी। इसलिए अब जाता हूं। अब फिर जब यह मूर्च्छा हट जाएगी तब सोचूंगा। लेकिन मूर्च्छा में कुछ किया नहीं जा सकता।
बुद्ध ने कहा है, जो तुम मूर्च्छा में करो, वही पाप; जो तुम जागरूकता में करो, वही पुण्य है। यह पाप और पुण्य की बड़ी नयी व्यवस्था थी। और इसमें व्यक्ति को परम स्वतंत्रता है। कोई दूसरा तय नहीं कर सकता कि क्या पाप है, क्या पुण्य है। तुमको ही तय करना है। बुद्ध ने व्यक्ति को परम गरिमा दी। और सातवीं बात, गौतम बुद्ध असहज के पक्षपाती नहीं, सहज के उपदेष्टा हैं। गौतम बुद्ध कहते हैं, कठिन के ही कारण आकर्षित मत होओ। क्योंकि कठिन में अहंकार का लगाव है।
इसे तुमने देखा कभी? जितनी कठिन बात हो, लोग करने को उसमें उतने ही उत्सुक होते हैं। क्योंकि कठिन बात में अहंकार को रस आता है, मजा आता है-- करके दिखा दूं। अब जैसे पूना की पहाड़ी पर कोई चढ़ जाए, तो इसमें कुछ मजा नहीं है, एवरेस्ट पर चढ़ जाऊं तो कुछ बात है। पूना की पहाड़ी पर चढ़कर कौन तुम्हारी फिकर करेगा, तुम वहां लगाए रहो झंडा, खड़े रहो चढ़कर! न अखबार खबर छापेंगे, न कोई वहां तुम्हारा चित्र लेने आएगा। तुम बड़े हैरान होओगे कि फिर यह हिलेरी पर और तेनसिंग पर इतना शोरगुल क्यों मचाया गया! आखिर इन ने भी कौन सी बड़ी बात की थी, जाकर हिमालय पर झंडा गाड़ दिया था, मैंने भी झंडा गाड़ दिया! लेकिन तुम्हारी पहाड़ी छोटी है। इस पर कोई भी चढ़ सकता है। जिस पहाड़ी पर कोई भी चढ़ सकता है, उसमें अहंकार को तृप्ति का उपाय नहीं है।
तो बुद्ध ने कहा कि अहंकार अक्सर ही कठिन में और दुर्गम में उत्सुक होता है। इसलिए कभी-कभी ऐसा हो जाता है कि जो सहज और सुगम है, जो हाथ के पास है, वह चूक जाता है और दूर के तारों पर हम चलते जाते हैं।
देखते हैं, आदमी चांद पर पहुंच गया। अभी अपने पर नहीं पहुंचा! तुमने कभी देखा, सोचा इस पर? चांद पर पहुंचना तकनीक की अदभुत विजय है। गणित की अदभुत विजय है। विज्ञान की अदभुत विजय है। जो आदमी चांद पर पहुंच गया, यह अभी छोटी-छोटी चीजें करने में सफल नहीं हो पाया है। अभी एक ऐसा फाउंटेनपेन भी नहीं बना पाया जो लीकता न हो। और चांद पर पहुंच गए! छोटी सी बात भी, अभी सर्दी-जुखाम का इलाज नहीं खोज पाए, चांद पर पहुंच गए! अब ऐसे फाउंटेनपेन को बनाने में उत्सुक भी कौन है जो लीके न! छोटी-मोटी बात है, इसमें रखा क्या है!
फाउंटेनपेन सदा लीकेंगे। कोई आशा नहीं दिखती कि कभी ऐसे फाउंटेनपेन बनेंगे जो लीकें न। और सर्दी-जुखाम सदा रहेगी, इससे छुटकारे का उपाय नहीं है। क्योंकि चिकित्सक कैंसर में उत्सुक हैं, सर्दी-जुखाम में नहीं। बड़ी चीज अहंकार को चुनौती बनती है। आदमी अपने भीतर नहीं पहुंचा जो निकटतम है और चांद पर पहुंच गया। मंगल पर भी पहुंचेगा, किसी दिन और तारों पर भी पहुंचेगा, बस, अपने को छोड़कर और सब जगह पहुंचेगा।
तो बुद्ध असहजवादी नहीं हैं। बुद्ध कहते हैं, सहज पर ध्यान दो। जो सरल है, सुगम है, उसको जीओ। जो सुगम है, वही साधना है। इसको ख्याल में लेना। तो बुद्ध ने जीवनचर्या को अत्यंत सुगम बनाने के लिए उपदेश दिया है। छोटे बच्चे की भांति सरल जीओ। साधु होने का अर्थ बहुत कठिन और जटिल हो जाना नहीं, कि सिर के बल खड़े हैं, कि खड़े हैं तो खड़े ही हैं, बैठते नहीं, कि भूखों मर रहे हैं, कि लंबे उपवास कर रहे हैं, कि कांटों की शय्या बिछाकर उस पर लेट गए हैं, कि धूप में खड़े हैं, कि शीत में खड़े हैं, कि नग्न खड़े हैं। बुद्ध ने इन सारी बातों पर कहा कि ये सब अहंकार की ही दौड़ हैं। जीवन तो सुगम है, सरल

है। सत्य सुगम और सरल ही होगा। तुम नैसर्गिक बनो और अहंकार के आकर्षणों में मत उलझो।
ये सात बातें ध्यान में रहें, फिर आज के सूत्र--
प्रथम दृश्यः

श्रावस्ती नगर, उन दिनों की प्रसिद्ध राजधानी। कुछ भिक्षु भिक्षाटन करके भगवान के पास वापस लौट रहे थे कि अचानक बादल उठा और वर्षा होने लगी। भिक्षु सामने वाली विनिश्चयशाला (अदालत) में पानी से बचने के लिए गए। उन्होंने वहां जो दृश्य देखा, वह उनकी समझ में ही न आया। कोई न्यायाधीश पक्षपाती था, कोई न्यायाधीश बहरा था--सुनता नहीं था, ऐसा नहीं, कान तो ठीक थे, मगर उसने पहले ही से कुछ मान रखा था, इसलिए सुनता नहीं था, इसलिए बहरा था। और कोई आंखों के रहते ही अंधा था। किसी ने रिश्वत ले ली थी, कोई वादी- प्रतिवादी को सुनते समय झपकी खा रहा था, कोई धन के दबाव में था, कोई पद के, कोई जाति-वंश के, कोई धर्म के। और उन्होंने वहां देखा कि सत्य झूठ बनाया जा रहा है और झूठ सच बनाया जा रहा है। न्याय से किसी को भी कोई प्रयोजन नहीं। और जहां न्याय तक न हो, वहां करुणा तो हो ही कैसे सकती थी!
उन भिक्षुओं ने लौटकर यह बात भगवान को कही। भगवान ने कहा, ऐसा ही है भिक्षुओ! जैसा नहीं होना चाहिए वैसा ही हो रहा है। इसका नाम ही तो संसार है।
और तब उन्होंने ये दो गाथाएं कहीं--

न तेन होति धम्मट्ठो येनत्थं सहसा नये।
यो च अत्थं अनत्थंच उभो निच्छेय्य पंडितो।।
असाहसेन धम्मेन समेन नयती परे।
धम्मस्स गुत्तो मेधावी धम्मट्ठोति पवुच्चति।।

"बिना विचार किए यदि कोई धर्म-निर्णय (न्याय) करता है, तो वह धर्मस्थ (न्यायाधीश) नहीं है।"
"जो पंडित अर्थ और अनर्थ--न्याय और अन्याय--दोनों का निर्णय कर विचार, धर्म और समत्व के साथ न्याय करता है, वही धर्म से रक्षित मेधावी पुरुष न्यायाधीश है।"
गाथाएं तो सीधी-साफ हैं, फिर भी गहरी हैं। अक्सर ऐसा होता है कि सीधे
और सरल सत्य ही गहरे होते हैं। जटिल सत्य तो सिर्फ उथलेपन को छिपाने के लिए कहे जाते हैं। सीधी-सादी बात में जितनी गहराई होती है, उतनी और किसी बात में नहीं होती। बुद्ध के वचन सीधे-सादे हैं। इन्हें समझने के लिए किसी बहुत बड़े पांडित्य की जरूरत नहीं है। अगर न समझने की जिद्द ही न कर रखी हो तो समझ लेना घट जाएगा।
सूत्र के पहले इस छोटी सी कहानी को भी समझ लेना चाहिए। ये कहानियां बड़ी सारगर्भित हैं।
श्रावस्ती नगर। राजधानी थी उस समय की, बड़ी राजधानी थी।
राजधानी सदा से ही पागलों का आवास रही है। राजधानी का अर्थ ही होता है, जहां सब तरह के चोर, बेईमान, लुच्चे-लफंगे इकट्ठे हो गए हों। राजधानी का अर्थ ही होता है, जहां सब तरह के चालाक, चार सौ बीस इकट्ठे हो गए हों।
राजधानी में सब तरह के उपद्रवियों का अपने आप आगमन हो जाता है।
अंग्रेजी में राजधानी के लिए शब्द है, कैपिटल। वह शब्द बड़ा अच्छा है। कैपिटल बनता है कैपिटा से। कैपिटा का अर्थ होता है, सिर। कहते हैं न--पर कैपिटा। कैपिटल बनता है कैपिटा से। उसका अर्थ होता है, जहां सिर ही सिर इकट्ठे हो गए हैं। इसका अर्थ हुआ कि जहां पागल ही पागल इकट्ठे हो गए हैं। जहां हृदय बिल्कुल नहीं है। जहां हृदय सूख गया है। जहां हृदय से कुछ भी नहीं घटता है। जहां हर चीज गणित से चलती है, तर्क से चलती, खोपड़ी से चलती। जहां करुणा के कोई फूल नहीं खिलते। बुद्धि बड़ी कठोर है, गणित में कोई दया नहीं होती। गणित जहरीला है। और जहां तर्क से ही सब चलने लगता है, वहां हम

परमात्मा के बिल्कुल विपरीत हो जाते हैं। क्योंकि परमात्मा के जीवन की जो धारा है, वह भाव से बहती है। हृदय में उसकी तरंगें उठतीं।
तो श्रावस्ती थी राजधानी। बहुत बार यह सवाल भी उठा है बौद्धों को कि बुद्ध बहुत बार श्रावस्ती गए; इतनी बार श्रावस्ती क्यों गए? इन्हीं पागलों की वजह से गए होंगे। चिकित्सक वहीं जाता है न, जहां ज्यादा बीमार हों। चिकित्सक की वहां जरूरत भी ज्यादा होती है।
श्रावस्ती नगर, कुछ भिक्षु भिक्षाटन करके भगवान के पास वापस लौट रहे थे।
बुद्ध ने संन्यास में एक क्रांति घटित की। बुद्ध के पहले संन्यासी को कहते थे, स्वामी। स्वामी शब्द प्यारा है, उसका अर्थ होता है, अपना मालिक। लेकिन मूर्च्छित लोगों को कितना ही प्यारा शब्द दो, उसमें से गड़बड़ कर लेंगे। स्वामी लोग समझने लगे कि हम दूसरों के मालिक। नाम तो दिया था अपने मालिक के लिए, लेकिन स्वामी समझने लगे, हम दूसरों के मालिक।
हिंदू स्वामी अभी भी वैसा ही समझता है, कि और सबका काम यही है कि चरण छुओ। जैन-मुनि भी वैसा ही समझता है, और सबका काम यही है कि आओ, सेवा करो। अपनी मालकियत की तो बात भूल गयी, दूसरों की मालकियत, दूसरों पर कब्जा, दूसरों के ऊपर होने का भाव प्रगाढ़ हो गया।
बुद्ध ने वह शब्द बदल दिया। बुद्ध ने नया शब्द गढ़ा--भिक्षु। ठीक उलटा शब्द। कहां स्वामी कहां भिक्षु! ठीक दूसरी तरफ बात को बदल दिया। बुद्ध ने कहा कि नहीं, यह शब्द खतरनाक हो गया है। शब्द के अर्थ तो ठीक थे, लेकिन गलत लोगों के हाथ में ठीक शब्द भी पड़ जाएं तो खराब हो जाते हैं। गलत पात्र में अमृत भी पड़ जाए तो जहर हो जाता है।
तो बुद्ध ने भिक्षु शब्द चुना। बुद्ध ने कहा कि तुम यही ख्याल रखना कि तुम भिखारी से ज्यादा नहीं हो। और तुम मांगकर ही जीना। ताकि प्रतिदिन तुम्हें याद आती रहे कि अहंकार को बसाने की कोई गुंजाइश नहीं है। भिखारी को क्या अहंकार की गुंजाइश! मांगकर जो खाए, कोई दे दे तो ले, कोई न दे तो हट जाए द्वार से--और अधिक द्वारों पर तो खबर यही मिले कि आगे जाओ।
बुद्ध के जो भिक्षु थे, साधारण घरों से न आए थे। क्षत्रिय घरों से आए थे, राजघरों से आए थे, अनेक तो उनमें राजाओं के बेटे थे, उनको भिखारी बना दिया। और उनको कहा कि यह प्रतिपल तुम्हें याद दिलाएगा, यह तुम्हारी साधना है। द्वार-द्वार तुम जाओगे, द्वार-द्वार दुतकारे जाओगे, कोई देगा दो रोटी, कोई न भी देगा। जो दे, उसे भी धन्यवाद देना है; जो न दे, उसे भी धन्यवाद देना है। क्योंकि तुम्हारा कोई आग्रह नहीं है कि कोई दे ही, तुम्हारा कोई बल नहीं है, तुम कोई स्वामी नहीं हो कि जिसने न दिया तो नाराज हो गए। देना किसी का कर्तव्य नहीं है। कोई प्रेम से दे देगा, ठीक है, तो धन्यवाद दे देना; जो न दे, उसे भी धन्यवाद दे देना।
भिक्षु में एक खूबी है, लेकिन वह भी खराब हो गयी। आदमी के हाथ में जो
भी शब्द पड़ जाते हैं, खराब हो जाते हैं। समझना। यह भिक्षु शब्द बड़ा प्यारा था, उतना ही प्यारा था जितना कि स्वामी शब्द था। लेकिन तब क्या हुआ? अहंकार को मिटाने की तो बात धीरे-धीरे भूल गयी और भिक्षु शोषक हो गया। वह पर-निर्भर हो गया। लोग इसीलिए बौद्ध भिक्षु होने लगे कि न कमाना, न धमाना! श्रम की कोई जरूरत न रही, शोषण की सुविधा मिल गयी। बड़ा समूह समाज के ऊपर जीने लगा, शोषक होकर जीने लगा। स्वामी खराब हो गया था, भिक्षु भी खराब हो गया।
इसलिए हमें बदलते रहना होता है। फिर नए शब्द गढ़ने होते हैं, या पुराने शब्दों को फिर नया अर्थ देना होता है। मैंने फिर स्वामी शब्द का प्रयोग शुरू किया है। क्योंकि बौद्ध का भिक्षु पर-निर्भर हो गया। और उन दिनों तो संपन्न दुनिया थी, कोई अड़चन न थी। गांव में आसानी से दस-पचास लोग भिक्षु हो जाएं तो पल सकते थे। उन दिनों ऐसी दुनिया थी कि एक आदमी कमाता था और घर में बीस आदमी खाते थे। कोई अड़चन न थी, एक और आदमी भीख मांग ले गया तो कोई अड़चन न थी। अब वैसी दुनिया भी न रही। अब तो बीस आदमी कमाएं तो भी सबका पेट नहीं भर पाता। तब एक कमाता था, बीस का पेट भर जाता था, देना बहुत सुगम था। अब देना बहुत कठिन है। और अब भिक्षु बोझ हैं।

इसलिए मैंने स्वामी की एक नयी धारणा को जन्म दिया है। स्वामी तो तुम बनना, लेकिन हिंदू जैसे स्वामी नहीं। और तुम किसी पर निर्भर मत हो जाना। स्वामी तो तुम बनना, लेकिन जैसे हो वैसे ही रहे बनना। दुकान करते हो तो दुकान जारी रहे, दफ्तर जाते हो तो दफ्तर जारी रहे, मजदूरी करते हो तो मजदूरी जारी रहे। तुम्हारा आर्थिक भार समाज पर किसी तरह से न पड़े। स्वामी मालिक हो गया था, हिंदुओं का। मालिक होकर भी खतरा है। क्योंकि जिनके तुम मालिक हो जाते हो उन पर निर्भर हो जाते हो। फिर उनकी तरफ तुम्हें ध्यान रखना पड़ता है। क्योंकि तुम्हारी कुर्सी वे ही सम्हाले हुए हैं, अगर वे नाराज हो जाएं तो कुर्सी गिर जाएगी। तो वे जैसा कहते हैं, वैसा ही मानकर चलना पड़ता है। भिक्षु भी निर्भर हो गया। जिनसे तुम भोजन खाते हो, जिनसे तुम भोजन लेते हो, उनके विपरीत नहीं जा सकते। तो बुद्ध की बड़ी जो क्रांति थी, वह भिक्षुओं के कारण समाप्त हो गयी। भिक्षु क्रांतिकारी नहीं हो सकता है। क्रांतिकारी तो वही हो सकता है जो अपने पर निर्भर है। पर-निर्भर क्रांतिकारी नहीं हो सकता। अगर तुम किसी पर निर्भर हो तो क्रांति मर जाएगी।
इसलिए फिर मैं संन्यासी के लिए स्वामी शब्द लौटाया हूं, क्योंकि स्वामी शब्द बहुमूल्य है। स्वयं की मालकियत। और इस बार स्वामी को किसी पर निर्भर नहीं होना है, स्व-निर्भर रहना है। उस अर्थ में भी उसे अपना मालिक रहना है। उस अर्थ में भी उसे अपनी मालकियत नहीं खोनी है।
तो बुद्ध के भिक्षु भिक्षाटन करके लौटे हैं। रोज भिक्षाटन के लिए जाते थे, यह उनकी साधना थी, यह उनका ध्यान था। यह ध्यान का अनिवार्य अंग था कि रोज भिक्षा मांगने जाओ और देखो, कैसे तुम्हारा मन जरा-जरा सी बात से चोट खाता है। किसी ने भिक्षा दे दी तो तुम प्रसन्न हो जाते हो। किसी ने न दी तो नाराज हो जाते हो। किसी ने अच्छा भोजन दे दिया तो तुम खूब-खूब धन्यवाद देते हो और बड़ा लंबा उपदेश करके आते। और अगर किसी ने अच्छा भोजन न दिया, तुम्हारा उपदेश छोटा होता है, फिर तुम ठीक से धन्यवाद भी नहीं देते। बेमन से धन्यवाद देते हो। जिस घर से अच्छा भोजन मिला, वहां तुम दुबारा पहुंच जाते हो। जिस घर अच्छा भोजन नहीं मिला, वहां तुम दुबारा नहीं जाते। जिस घर से इनकार मिला, वहां फिर दुबारा तुम दस्तक नहीं देते।
बुद्ध ने इस सबको ध्यान की प्रक्रिया बताया था। चुनाव मत करना, जो आज हुआ, आज हुआ। कल का क्या पता! आज जिसने इनकार कर दिया, कल शायद दे। और आज जिसने दिया, कल शायद इनकार कर दे। इसलिए आज से कल का कोई निर्णय मत लेना। रोज-रोज नए-नए जाना। और कल की धारणा को बीच में अवरोध मत बनने देना। और रोज-रोज देखना कि जब कोई हलुवा और पूड़ी तुम्हारे पात्र में डाल देता है, तो तुम्हारे मन में विशेष धन्यवाद का भाव उठता है। और जब कोई रूखी-सूखी रोटी डाल देता है, तो विशेष धन्यवाद का भाव नहीं उठता। तब तुम धन्यवाद कहते भी हो तो औपचारिक। इस सब बात पर ध्यान रखना, इस पर जागना और धीरे-धीरे ऐसी घड़ी आ जाए कि सब समत्व हो जाए, सब समान हो जाए। कोई अच्छा दे तो ठीक, कोई बुरा दे तो ठीक; न दे तो ठीक, दे तो ठीक। और हर हालत में तुम्हारा तराजू कंपे नहीं। तो भिक्षु इस ध्यान की प्रक्रिया को करके, गांव से भिक्षाटन करके वापस लौट रहे थे। अचानक बादल उठा और वर्षा होने लगी।
तो कहीं शरण लेने को पास के ही मकान में वे चले गए होंगे। वह थी राजधानी की बड़ी अदालत--विनिश्चयशाला। उन्होंने वहां जो दृश्य देखा, उनकी समझ में ही न आया।
ये भिक्षु ध्यान में लगे थे, ये भिक्षु साधना में तत्पर थे, इनकी आंखें खुली थीं, साफ थीं, इसीलिए इन्हें दिखायी पड़ा। कोई संसारी गया होता तो दृश्य दिखायी ही नहीं पड़ता। हमें वही दिखायी पड़ता है जो हम देख सकते हैं। इन भिक्षुओं के पास बड़ी स्पष्ट आंख रही होगी। इन्होंने वहां क्या देखा, ये बड़े हैरान हुए। देखा कि कोई न्यायाधीश झपकी खा रहा है। वादी- प्रतिवादी दलील कर रहे हैं और न्यायाधीश झपकी खा रहा है। यह कैसे निर्णय करेगा! शायद इसने पहले ही निर्णय कर रखा है। यह सुनने की फिकर में ही नहीं पड़ा है। या शायद इसी नींद में यह निर्णय कर देगा। इसे इतनी भी चिंता नहीं है कि दूसरों के जीवन का सवाल है। और यह झपकी ले रहा है। शायद रात देर तक

ताश खेलता रहा होगा, या शराब पी होगी, या वेश्या के घर गया होगा। और यह निर्णय करने बैठा है, लोगों के जीवन का निर्णय!
किसी को देखा कि उसकी आंख से साफ पक्षपात दिखायी पड़ रहा है। साफ दिखायी पड़ रहा है कि उसने निर्णय पहले ही कर लिया है, अब तो वह कामचलाऊ सुन रहा है। शायद उसने रिश्वत ले ली है, शायद उसका कोई संबंध है, शायद उसकी कोई नाते-रिश्तेदारी है, कोई भाई-भतीजावाद है।
देखा कि कोई बिल्कुल बहरे की तरह सुन रहा है। आंखें तो खुली हैं, कान
भी खुले हैं, मगर कहीं और है। कोई और विचार में पड़ा होगा। किसी स्त्री के प्रेम में पड़ा होगा, उसकी तस्वीर चल रही है। या कुछ और धन कमाना होगा, उसकी योजना बन रही है। तो बहरे की तरह सुन रहा है कोई।
कोई अंधे की तरह देख रहा है। आंखें तो खुली हैं, लेकिन देख नहीं रहा है। कहीं और देख रहा होगा, कोई दूर के दृश्य में उलझा होगा।
यह भिक्षुओं को दिखायी पड़ा। यह तुम गए होते तो तुम्हें दिखायी न पड़ता। क्योंकि तुम उसी दुनिया के हिस्से हो, जिस दुनिया में ये अदालतें चलती हैं। तुम्हें कुछ भी अड़चन न मालूम पड़ती।
गुरजिएफ अपने शिष्यों को लेकर एक बार तीन महीने के लिए जंगल में रहा।
और तीन महीने पूर्ण मौन में अपने शिष्यों को रखा। पूर्ण-मौन, बेशर्त मौन था, उसमें कोई समझौते की गुंजाइश न थी। मौन का अर्थ था, न तो बोलना, न दूसरे की तरफ देखना, न आंख से कोई इशारा करना, न हाथ से कोई इशारा करना--क्योंकि वह सब बोलना है। अगर दो मौन में मिलने वाले रास्ते पर मिले और उन्होंने ऐसे सिर झुका दिया तो बात खतम हो गयी। गुरजिएफ ने तो यह भी कहा कि अगर तुम्हारे चलते किसी के पैर पर पैर पड़ जाए तो भी तुम इस तरह का भाव प्रगट मत करना कि तुमने दूसरे के पैर पर पैर रख दिया, क्षमा करो। सरक भी मत जाना इस तरह, नहीं तो वक्तव्य हो गया। बोले न बोले, यह सवाल नहीं है।
एक छोटे से बंगले में तीस आदमियों को रख दिया, बड़ी मुश्किल हो गयी। एक-
एक कमरे में चार-चार, छह-छह लोग थे। अब चार-चार, छह-छह लोगों के साथ कैसे बिल्कुल बिना इशारा किए भी बैठे रहो! अनजाने इशारे होने लगे, गुरजिएफ लोगों को निकालने लगा। तीन महीने पूरे होते-होते तीस में से केवल तीन व्यक्ति बचे। जिसको भी उसने देखा कि जरा भी उसकी भाव-भंगिमा बोलने की है, उसको उसने बाहर कर दिया। मगर उन तीन व्यक्तियों पर अपूर्व घटना घटी।
तीन महीने के बाद उन तीन व्यक्तियों को लेकर गुरजिएफ ने कहा, आओ, अब तुम्हें मैं नगर ले चलूं। अब तुम पहली दफे देखोगे कि आदमी कैसा है। तो वह तीनों शिष्यों को लेकर नगर में आया। उनमें से एक शिष्य आस्पेंस्की ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि हमने पहली दफे देखा कि आदमी कैसा है! उसके पहले तो हमने देखा ही नहीं था। रहते आदमी में थे!
तिफलिस नगर में आकर पहली दफे देखा कि लाशें चल रही हैं। कोई जिंदा नहीं मालूम होता। कोई होश में नहीं है। मुर्दे बातें कर रहे हैं। सोए-सोए लोग चले जा रहे हैं रास्तों पर, भागे चले जा रहे हैं। लोग बात भी कर रहे हैं, लेकिन एक-दूसरे को सुन ही नहीं रहे हैं। कोई कुछ कह रहा है, कोई कुछ जवाब दे रहा है। कोई जमीन की कह रहा है, कोई आकाश की मार रहा है। तीन महीने का सन्नाटा ऐसी स्वच्छता दे गया, दर्पण ऐसा साफ हो गया कि दूसरों के हृदय के बिंब बनने लगे, दूसरों के चित्त के बिंब उतरने लगे।
आस्पेंस्की ने अपने गुरु को कहा, वापस चलें, बहुत घबड़ाहट होती है, यह
तो मुर्दों का गांव है, कहां ले आए? यह वही गांव, जहां वर्षों रहे। लेकिन कभी इन आदमियों को देखा नहीं, क्योंकि हम भी वैसे ही थे, तो कैसे देखते! अंधों के बीच अंधे थे, तो अंधों का पता कैसे चलता। अंधों के बीच अगर तुम एक बार आंखें तुम्हारी ठीक हो जाएं और लौटो, तब तुम देखोगे कि सब टटोल रहे हैं! सब भटक रहे हैं। कोई गड्ढे में गिर गया है, कोई नाली में गिर गया है, कोई कुएं में गिर गया है, सब गिरे हुए हैं। अजीब हालत चल रही है, किसी के पास आंखें नहीं हैं और सबको भरोसा है कि सब जो कर रहे हैं, ठीक कर रहे हैं।
ऐसा ही भरोसा तुम्हें भी था।
तुम अगर इस अदालत में गए होते तो तुम्हें ऐसा कुछ भी न दिखायी पड़ता।
लेकिन उन भिक्षुओं को दिखायी पड़ा।

कोई धन के दबाव में था, कोई पद के दबाव में था, कोई जाति-वंश के दबाव में था।
कोई किसी, कोई किसी, लेकिन वहां न्याय की स्थिति में कोई भी नहीं था। न्याय तो वही कर सकता है जिसके भीतर का तराजू समतुल हो गया हो। अपना ही तराजू समतुल न हो तो न्याय कैसे होगा! जो भीतर सम्यकत्व को उपलब्ध हो गया हो, वही तो न्याय कर सकता है। जिसके भीतर ही अभी समता नहीं... समझो कि तुम ब्राह्मण हो और ब्राह्मण पर मुकदमा चल रहा है, तो अनजाने ही तुम कम सजा दोगे। अनजाने ही! नहीं कि तुम जानकर कम सजा दोगे, यह भी नहीं कहा जा रहा है। तुम्हें पता ही न चलेगा, यह अचेतन हो जाएगा। तुम अगर हिंदू हो और हिंदू पर मुकदमा चल रहा है, तो तुम थोड़ी कम सजा दोगे। वही जुर्म अगर मुसलमान ने किया हो तो थोड़ी ज्यादा सजा हो जाएगी।
अब कुछ बहुत नाप-तौल के उपाय तो नहीं हैं, उसी जुर्म के लिए साल की सजा
दी जा सकती है, उसी जुर्म के लिए डेढ़ साल की सजा दी जा सकती है। उसी जुर्म के लिए माफ भी किया जा सकता है। तुम तरकीबें खोज लोगे। तुम उपाय खोज लोगे। और ऐसा नहीं कि तुम जानकर यह कर रहे हो, ख्याल रखना, यह सब अनजाने हो रहा है। तुम्हें पता ही न चलेगा, यह चुपचाप अचेतन का खेल है जो तुमसे करवा लेगा। लोग जब तक होश में न हों तब तक अचेतन की बड़ी शक्ति होती है। सहज ही हो जाता है।
समझो कि एक सुंदर स्त्री अदालत में खड़ी है, उस पर मुकदमा चल रहा है, तुम्हारा मन सहज ही उसे कम सजा देने का होगा। नहीं कि तुम सोच रहे हो ऐसा। लेकिन सुंदर स्त्री अगर तुम्हें आकर्षित करती है, तो स्वभावतः तुम कम सजा दोगे।
इस बात को सारी दुनिया समझ गयी है। इसलिए पश्चिम के देशों में दुकानों पर चीजें बेचने के लिए आदमी हटा लिए गए हैं, औरतें आ गयी हैं। यह बात समझ में आ गयी।
समझो कि तुम एक जूते की दुकान पर जूता खरीदने गए हो और एक सुंदर स्त्री अपने सुकोमल हाथों से तुम्हें जूता पहनाती है--तुम्हारा पैर साफ करती, जूता पहनाती--जूता गौण हो गया, उसके सुंदर हाथ, उसका सुंदर चेहरा, उसकी सुगंध महत्वपूर्ण हो गयी। और जब वह जूता पहनाकर तुमसे कहती है, कितना सुंदर लगता है! तो मुश्किल हो जाता है तुम्हें कहना कि नहीं-नहीं, काट रहा है। तुम भी कहते हो, हां, बहुत सुंदर। और जब वह दूर खड़े होकर तुम्हारे पैर को देखती है, निहारती है, जैसे इससे सुंदर पैर कभी उसने देखा ही नहीं, तब तुम जल्दी से खीसे में अपना हाथ डालकर पैसा देकर रास्ता पकड़ लेते हो। फिर अगर वह बीस रुपए के बाईस रुपए भी दाम बताती है, तो भी चलता है। इसलिए पश्चिम में दुकानों से आदमी हट गए, स्त्रियां आ गयीं। पाया गया है कि स्त्रियां सुगमता से चीजें बेच लेती हैं। जल्दी बिक जाती हैं चीजें। इसकी जगह समझो कि एक आदमी होता और वह भी बदशकल होता, तो जूता काटने लगता। तुम पच्चीस जोड़ियां बदलते और जब वह बाईस रुपए कहता तो तुम कहते कि दुगुने दाम बता रहे हो, बारह रुपए से ज्यादा का नहीं है, दस रुपए से ज्यादा का नहीं है।
आदमी अचेतन से जी रहा है।
तो उन भिक्षुओं ने जो देखा, ठीक ही देखा। वहां बहुत कुछ हो रहा था, जो न्याय के नाम पर हो रहा था और न्याय नहीं था। उन्होंने वहां देखा कि सत्य झूठ बताया जा रहा है, झूठ सच बताया जा रहा है--सच झूठ बनाया जा रहा है, झूठ सच बनाया जा रहा है।
अदालतों का काम ही यही है। वकालत का पूरा धंधा यही है। वकील की जरूरत इसीलिए है कि वह कैसे सच को झूठ बनाए, कैसे झूठ को सच बनाए। उसकी सारी कुशलता इसमें है। जो सच को ही सच कहे, जो झूठ को झूठ कहे, वह वकील तो नहीं हो सकता। वह कुछ और हो जाए, मगर वकील नहीं हो सकता। वकील का तो मतलब ही यही है कि उसमें ऐसी कुशलता हो कि झूठ को सच की तरह स्थापित करे, सच को झूठ की तरह स्थापित करे। इसमें जितनी कुशलता होगी, उतना बड़ा वकील। फिर यही बड़े वकील न्यायाधीश बन जाते हैं। एक अजीब जाल है।

वकील की जरूरत ही नहीं होनी चाहिए। जब तक वकील है, तब तक दुनिया में न्याय नहीं हो सकता। न्याय के लिए वकील की क्या जरूरत है! एक आदमी ने कसूर किया है, वह आदमी खड़ा हो, जिसके साथ कसूर किया है, वह आदमी खड़ा हो, इन दोनों के बीच वकील की क्या जरूरत है! वकील जब तक बीच में खड़ा है, तब तक बात साफ नहीं हो सकती। वह जाल निकालेगा, तरकीब निकालेगा, उपाय निकालेगा, वह बातों को घुमाएगा, फिराएगा, वह उनको नया रंग देगा, नया ढंग देगा, वह सारी चीज को ऐसा उलझा देगा कि सुलझाना मुश्किल हो जाए।
न्यायाधीश कैसे न्याय करेगा जब तक उसे ध्यान की किसी प्रक्रिया से गुजरने का मौका न मिला हो। और कहीं दुनिया की किसी कानून की किताब में नहीं लिखा है कि न्यायाधीश पहले ध्यान करे। लिखा ही नहीं है! ध्यान से न्यायाधीश का क्या संबंध!
न्यायाधीश पहले ध्यान करे, पहले चित्त की उस अवस्था को उपलब्ध हो, जहां उस पर अचेतन के प्रभाव नहीं पड़ते। नहीं तो बलशाली आदमी खड़ा है अदालत में, मुश्किल हो जाता है। धनी आदमी खड़ा है अदालत में, मुश्किल हो जाता है। अचेतन बलपूर्वक काम करवा लेता है। पद वाला आदमी खड़ा है, मुश्किल हो जाता है।
तुम देखते हो, अभी इस देश में थोड़े दिन पहले जो लोग पद पर थे, तब तक एक बात थी। तब तक अदालतें उनके पक्ष में थीं, न्यायाधीश उनके पक्ष में थे, कानून उनके पक्ष में था। अब सब उनके विपक्ष में हैं। अब हजार भूलें खोजी जा रही हैं। यह सब भूलें तब हुई थीं, अब नहीं हो रही हैं। जब हुई थीं, तब किसी ने न खोजीं, अब खोजी जा रही हैं।
यह कैसे होता है? जिनके पास ताकत है, जिनके पास पद है, प्रतिष्ठा है, उनकी भूलें कोई खोजता ही नहीं। और तुम यह मत सोचना कि अब जो भूलें खोजी जा रही हैं, वे सभी सच होंगी। यह भी मत सोचना। अब जो भूलें खोजी जा रही हैं, वे नए सत्ताधिकारियों को प्रसन्न करने के लिए खोजी जा रही हैं, उसमें पचास प्रतिशत झूठ होंगी। उससे भी ज्यादा झूठ हो सकती हैं। जैसे पहले भूलें न खोजने का झूठ चला, अब भूलें खोजने का झूठ चलेगा।
और तुम यह मत सोचना कि पहले जो लोग चुप रहे, वे बेईमान थे; और अब जो लोग बोल रहे हैं, वे ईमानदार हैं। अब इनके बोलने में उतनी ही बेईमानी है, जितनी कि न बोलने वालों के न बोलने में बेईमानी थी।
मनुष्य का चित्त इतना उलझा हुआ है! अब तुम यह मत सोचना कि ये बड़े क्रांतिकारी लोग हैं, जो सारी बातें निकालकर रख रहे हैं। ये ठीक वही के वही बेईमान हैं। कल जब सत्ता फिर बदल जाएगी तब तुम फिर पाओगे, इन्होंने फिर चेहरे बदल लिए। ये मुखौटे बदलते रहते हैं। जिसकी लाठी उसकी भैंस। भैंस से कोई संबंध ही नहीं है किसी को। किसकी है, इससे भी कोई संबंध नहीं है, जिसकी लाठी! लाठी तुम्हारे हाथ में नहीं, तुम्हारी भैंस भी गयी। कहते हैं न गांव में--गरीब की औरत सबकी भौजाई। सब उससे भौजाई का नाता-रिश्ता बना लेते हैं। कोई भी मजाक करे, ठिठोली करे, कोई भी कुछ कह दे, कोई अड़चन नहीं-- गरीब की औरत!
आदमी जब तक ध्यानस्थ न हो, तब तक उसके जीवन से न्याय तो हो ही नहीं सकता। इस छोटी सी कहानी में बुद्ध न्याय की आधारशिला रख रहे हैं।
न्याय से वहां किसी को प्रयोजन न था। और जहां न्याय ही न हो, वहां करुणा तो कैसे हो सकती है!
यह भी ख्याल रखना कि करुणा न्याय से भी बड़ा सिद्धांत है। न्याय तो मानवीय है, करुणा ईश्वरीय है। न्याय का तो मतलब ऐसा है, जैसा जीसस ने कहा कि पुरानी किताब कहती है, इंजील कहती है कि जो तुम्हारी एक आंख फोड़े, उसकी दोनों आंख फोड़ देना, यह तो न्याय है। जो तुम्हें ईंट मारे, उसे पत्थर मार देना, यह तो न्याय है। लेकिन यह करुणा तो नहीं है।
एक आदमी ने चोरी की, वह किसी के पचास रुपए जेब से काट लिए। न्याय यह है
कि वह पचास रुपए वापस लौटाए और पचास रुपए चुराने के जुर्म में कुछ महीने दो महीने की सजा काटे। न्याय यह है। यह ठीक है। न्याय ही नहीं हो रहा है दुनिया में। यह भी नहीं हो रहा है। इस पर भी हजार बातें निर्णायक होंगी कि इस आदमी को सजा मिलेगी कि पुरस्कार मिलेगा। कोई कुछ जानता नहीं।

लेकिन करुणा और बड़ी बात है। करुणा तो यहां तक सोचेगी कि इस आदमी को पचास रुपए चुराने क्यों पड़े? क्या इसकी पत्नी बीमार थी? क्योंकि कोई भी चीज संदर्भ के बाहर तो नहीं हो सकती, इस आदमी ने ऐसे ही आकस्मिक तो पचास रुपए नहीं चुरा लिए। इसका बच्चा मर रहा था? इसकी पत्नी बीमार थी, दवा के लिए पैसे न थे? अगर पत्नी मर रही हो और कोई पचास रुपए चुरा ले, तो क्या यह इतना बड़ा जुर्म है! पत्नी को बचाने की आकांक्षा को अगर हम ध्यान में रखें तो पचास रुपए चुरा लेना क्या इतना बड़ा जुर्म है! और फिर जिससे इसने पचास रुपए चुराए हैं, उसके पास करोड़ों हैं। वह भी संदर्भ में ध्यान रखने की जरूरत है। उससे चुराए पचास, कुछ भी न चुराए। और इसकी पत्नी बच गयी!
इसको दंड मिलना चाहिए? कितना दंड मिलना चाहिए? इससे पचास रुपए छीने जाने चाहिए? इसको दो महीने की सजा देनी चाहिए? क्योंकि इससे पचास रुपए छीनने का मतलब होगा कि इसकी पत्नी न बचेगी। और दो महीने इसे जेल भेजने का मतलब होगा, इसके बच्चे भी मरेंगे। और इसकी पत्नी बीमार रहेगी, पत्नी शायद न बचे, बच्चे बीमार हो जाएं, बच्चे आवारा हो जाएं, दो महीने बाद जब यह वापस लौटेगा, तो इसकी हालत दो महीने पहले से भी ज्यादा बुरी होगी। जब उस हालत में इसने पचास रुपए चुराए थे, तो दो महीने बाद यह सौ रुपए चुराने की स्थिति में आ गया। यह तो अदालत ने कुछ काम नहीं किया! यह तो बात और गलत हो गयी।
तो न्याय तो छोटा सिद्धांत है। न्याय ही नहीं हो रहा है। होनी तो करुणा चाहिए, करुणा तो बहुत बड़ी बात है। करुणा का तो मतलब है, हम सारा संदर्भ सोचें। क्योंकि जो बात एक संदर्भ में ठीक है, दूसरे में गलत हो सकती है। संदर्भ तो सोचो, किसके चुरा लिए हैं? किससे ले लिए, किसलिए लिए, किस अवस्था में लिए? उस अवस्था में न्यायाधीश अगर होता, तो वह भी ये पचास रुपए चुराता या नहीं चुराता?
पुरानी एक कहानी है। एक युवक ने अपने गुरु को कहा कि मैं ध्यान में उतरना चाहता हूं। और ऐसे ध्यान में उतरना चाहता हूं जहां कोई चीज शेष न रह जाए, बस ब्रह्म ही शेष हो। गुरु ने कहा, तू ध्यान कर। उसके लिए सब सुविधा जुटा दी। वह शांत सारी सुविधाओं के रहते ध्यान करने लगा। कुछ दिन बाद वह उदघोष करने लगा उपनिषद के महावाक्य का--अहं ब्रह्मास्मि! और शिष्यों ने कहा कि वह तो ज्ञान को उपलब्ध हो गया, मालूम होता है। अब तो वह जब भी बात करता है तो अहं ब्रह्मास्मि, इसकी ही बात करता है। बैठे-बैठे ध्यान में अहं ब्रह्मास्मि का उच्चार होने लगता है।
गुरु ने उसे बुलाया, उसकी तरफ देखा और कहा, ठीक! अब तू इक्कीस दिन भोजन बंद कर दे। इक्कीस दिन तो दूर, पांच-सात दिन के बाद ही अहं ब्रह्मास्मि का उदघोष बंद हो गया। दो सप्ताह बीतते-बीतते तो वह गाली-गलौज बकने लगा। यह क्या बदतमीजी है! मुझे भूखा मारा जा रहा है! तीन सप्ताह होते-होते तो उसकी हालत विक्षिप्त की हो गयी।
गुरु ने उसे बुलाया और कहा, क्या विचार है--अहं ब्रह्मास्मि? उसने कहा, छोड़ो जी बकवास, भोजन! अन्नं ब्रह्म! बस इन तीन सप्ताह तो सिर्फ एक ही बात याद रही कि अन्न ही ब्रह्म है। और कोई ब्रह्मास्मि वगैरह सब व्यर्थ की बातें हैं। तो गुरु ने कहा, अब तू ठीक समझा। इतना सस्ता नहीं है! न्यायाधीश भी तो अपने को जरा रखकर देखे उस परिस्थिति में, जहां एक आदमी ने चोरी की! उस परिस्थिति में रखकर सोचे जहां उसे चोरी के लिए मजबूर होना पड़ा। तो करुणा होगी।
लेकिन करुणा तो बहुत दूर है, न्याय ही नहीं हो रहा है। उन भिक्षुओं ने देखा कि न्याय कैसे संभव है? और भगवान, आप तो कहते हैं कि करुणा होनी चाहिए जगत में, यहां न्याय ही नहीं हो रहा है! न्याय तो बिल्कुल गणित की बात है, उसमें हृदय की कोई गुंजाइश नहीं है। करुणा तो हृदय की बात है, वह तो गणित से बहुत ऊपर है।
तो उन भिक्षुओं ने लौटकर यह सारी बात भगवान को कही। भगवान ने कहा, ऐसा
ही है भिक्षुओ! जैसा नहीं होना चाहिए वैसा ही हो रहा है। इसका नाम ही तो संसार है।
जैसा होना चाहिए वैसा ही हो, इसका नाम निर्वाण। वही तो परमदशा है।
जैसा होना चाहिए वैसा ही हो। और जैसा नहीं होना चाहिए वैसा जहां होता रहे,

उसी का नाम संसार है। यह एक मूर्च्छित जगत, यह एक निद्रा में डूबी हुई अवस्था है। यह एक दुख-स्वप्न है।
और तब उन्होंने ये दो गाथाएं कहीं।
"विचार किए बिना यदि कोई धर्म-निर्णय (न्याय) करता है, तो वह धर्मस्थ नहीं, न्यायाधीश नहीं।"
तो पहले तो विवेक उपलब्ध हो, विचार उपलब्ध हो; पहले तो ध्यान की शांति जगे, देखने की क्षमता आए, दृष्टि हो, निष्पक्ष देखने की दृष्टि हो, तभी कोई धर्मस्थ। तो पहले तो कोई धर्मस्थ हो, तब धर्म कर सकेगा। पहले तो स्वयं न्याय में ठहरे, तब न्यायाधीश हो सकेगा।
"जो पंडित अर्थ और अनर्थ--न्याय और अन्याय--दोनों का निर्णय कर विचार, धर्म और समत्व के साथ न्याय करता है... ।"
जिसे पता है, क्या सार, क्या असार; जिसे पता है, क्या न्याय, क्या अन्याय; और जो अपने भीतर समत्व को धारण किए हुए है, वही केवल न्याय कर सकता है। तो न्याय के लिए तो समत्व अनिवार्य शर्त है। और समत्व समाधि का लक्षण है।
कभी शायद मनुष्य-जाति उस ऊंचाई पर आएगी, जब न्यायाधीश होने के लिए समाधि अनिवार्य होगी। और जब तक ऐसा नहीं होता, तब तक कभी न्याय संभव नहीं है। तब तक न्याय के नाम पर अन्याय ही चलता है। बलशाली का अन्याय न्याय कहलाता है। बलशाली मारता है तो रोने भी नहीं देता। रोओ तो जुर्म। बलशाली मारे तो हंसो, प्रसन्न होओ।
जर्मनी का एक सम्राट था, फ्रेडरिक। उससे लोग बहुत डरते थे। क्योंकि
वह किसी को भी मारने-पीटने लगता था। हाथ में कोड़ा रखे रहता था, जरा सी बात से कोड़े फटकार देता था। अजीब आदमी था। बलशाली तो बहुत था ही। सड़क पर घूमने निकलता, किसी को गलती कोई काम करते देख लेता तो वहीं मारपीट कर देता। अब सम्राट से तो कोई क्या कहे! लोग डरते थे, उसको देखकर लोग दरवाजा बंद कर लेते। कोई आ रहा होता रास्ते पर, जल्दी से बगल की गली से निकल जाते कि कोई भूलचूक हो जाए! कुछ कहो मत, नमस्कार करने ही में कुछ भूलचूक हो जाए!
एक आदमी को उसने देखा--एक सांझ वह घूमने निकला है--उसने देखा, एक आदमी चला आ रहा था, फिर जल्दी से गली में चला गया। वह भागा, उसने पकड़ा कि तू गली में क्यों गया? तू पहले तो सीधा चला जा रहा था! उसने कहा, आपके डर के कारण-- सत्य निकल गया उसके मुंह से--कहा, आपके डर के कारण। उसने कहा, यह बात ही गलत है! प्रजा को प्रेम करना चाहिए राजा को, डरना नहीं चाहिए। और उसने कोड़े फटकारे और कोड़े फटकारकर वह बोला कि बोल, अब प्रेम करता है कि नहीं? उसने कहा, महाराज, करता हूं, प्रेम तो पहले ही से करता हूं।
अब यह प्रेम कोड़ों के बल पर अगर उपलब्ध होता हो, तो कैसे प्रेम हो सकेगा? लेकिन अब तक न्याय के नाम पर बलशाली का न्याय चल रहा है। अन्याय का अर्थ ही यह है कि तुम कमजोर हो, तो तुमने जो किया, वह अन्याय है। तुम अगर बलशाली हो तो तुमने जो किया, वह न्याय।
समत्व के आधार पर न्याय होना चाहिए। समता को उपलब्ध व्यक्ति के द्वारा न्याय होना चाहिए। सिर्फ संन्यासी ही न्यायाधीश होने चाहिए।
"जो समत्व के साथ न्याय करता है, वही धर्म से रक्षित मेधावी पुरुष न्यायाधीश कहलाता है।"
दूसरा सूत्र और दूसरा दृश्यः

एकुदान नामक एक छीनास्रव--आस्रव क्षीण हो गए हैं जिनके--ऐसे अर्हत थे, भिक्षु थे। वे जंगल में अकेले रहते थे। उन्हें एक ही उपदेश आता था--बस एक ही उपदेश, जैसा मुझे आता है--बस रोज उसी को कहते रहते थे। वे उसे ही रोज देते उपदेश को। स्वभावतः उनका कोई शिष्य नहीं था।
हो भी कैसे! कोई आता भी तो भाग जाता, वही उपदेश रोज। शब्दशः वही। उसमें कभी भेद ही नहीं पड़ता था। उन्हें कुछ और इसके अलावा आता ही नहीं था। लेकिन वे देते रोज थे।
कोई आदमी तो उनके पास टिकता नहीं था, लेकिन जंगल के देवता उनका उपदेश सुनते थे। और जब वे उपदेश पूरा करते तो जंगल के देवता साधुकार देकर स्वागत

करते थे--साधु! साधु! सारा जंगल गुंजायमान हो जाता था--साधु! साधु! धन्यवाद! धन्यवाद!
एक दिन पांच-पांच सौ शिष्यों के साथ दो त्रिपटकधारी साधु आए, भिक्षु आए। एकुदान ने उनका हार्दिक स्वागत किया और प्रसन्न होते हुए बोले, भंते, आप भले पधारे। मैं एक ही उपदेश जानता हूं, बेचारे जंगल के देवता उसे ही बार-बार सुनकर थक गए होंगे। आज आप लोग उपदेश दें। हम भी सुनेंगे और देवतागण भी आनंदित होंगे। दयावश वे इस बूढ़े के एक ही उपदेश का भी साधु- साधु कहकर स्वागत करते हैं, आप दोनों ज्ञानी हैं, त्रिपटकधारी हैं, आपके पांच-पांच सौ शिष्य हैं, देखें मेरा तो एक भी शिष्य नहीं है--एक ही उपदेश देना हो तो शिष्य कोई बनेगा ही क्यों? बनेगा ही कोई कैसे?
तो उस बूढ़े ने कहा कि मुझ बूढ़े का भी उपदेश वे सुनते हैं, देवता हैं, भले लोग हैं, तो धन्यवाद भी देते हैं, हालांकि मैं जानता हूं, ऊब गए होंगे। ये त्रिपटकधारी महापंडित इस बूढ़े पागल की बात सुनकर एक-दूसरे की तरफ अर्थगर्भित दृष्टियों से देखते हुए मुस्कुराए। अकेले रहते-रहते यह एकुदान विक्षिप्त हो गया है, उन्होंने सोचा। अन्यथा कोई एक ही उपदेश रोज-रोज देता है! फिर कहां के देवता! आह, बेचारा! इस बूढ़ी अवस्था में मन इसका कपोल-कल्पनाओं से भर गया है। यह यथार्थ से च्युत हो गया है।
फिर उन दोनों ने बारी-बारी से उपदेश दिया। वे बड़े पंडित थे, त्रिपटक
के ज्ञाता थे, बुद्ध के सारे वचन उन्हें कंठस्थ थे, पांच-पांच सौ उनके शिष्य थे। उन्होंने बारी-बारी से उपदेश दिया--शास्त्र-सम्मत, पांडित्य से भरपूर, तर्क से प्रतिष्ठित। उनके शिष्यों ने हर्षध्वनि की--साधु! साधु! बूढ़ा एकुदान भी परम आनंदित हुआ। बस एक ही बात उसे खटक रही थी कि जंगल के देवता कुछ भी न बोले। जंगल के देवता चुप थे सो चुप ही रहे। उसने यह बात पंडितों को भी कही कि बात क्या है? आज जंगल के देवता चुप ही क्यों हैं? इनको क्या हो गया? आज ये कहां चले गए? ये रोज मेरा उपदेश सुनते हैं और साधुवाद से पूरा जंगल भर जाता है। और आज ऐसा परम उपदेश हुआ, ऐसा ज्ञान से भरा!
वे फिर, वे पंडित फिर इस बूढ़े पागल की बात पर हंसे। मजाक में ही उन्होंने इस बूढ़े को भी उपदेश देने को कहा। उन्होंने सोचा कि चलो इसका एक उपदेश भी सुन लें।
बूढ़ा बड़े संकोच से धर्मासन पर गया और उसने और भी संकोच और झिझक से अपना वह एक ही संक्षिप्त सा उपदेश दिया। उपदेश के पूरे होते ही जंगल साधु! साधु! साधु! के अपूर्व निनाद से गूंज उठा। जैसे वृक्ष-वृक्ष से आवाज उठी, पत्थर-पत्थर से आवाज उठी--सारे जंगल के देवता!
पंडित तो बड़े हैरान हुए। तो यह बूढ़ा पागल नहीं था। देवता थे। और अब पंडितों ने सोचा, मालूम होता है, देवता पागल हैं। क्योंकि इसके उपदेश में कुछ खास बात ही नहीं, साधारण सा उपदेश है, जो कोई भी दे दे।
अब ऐसा उन पंडितों ने सोचा कि ये जंगल के देवता पागल हैं। पहले सोचते
थे, यह बूढ़ा पागल है, देवता कहीं होते! अब उन्होंने सोचा कि देवता तो जरूर हैं और बूढ़ा पागल भी नहीं है, मगर देवता पागल हैं। क्योंकि हमने इतने पांडित्य की बातें कहीं और इनकी समझ में न आयीं, और इस बूढ़े का वही उपदेश! वे दोनों तो इस संबंध में चुप ही रहे, लेकिन उनके शिष्यों ने भगवान से जाकर यह अपूर्व चमत्कार की बात कही। भगवान ने उनसे कहा, सत्य शास्त्र में नहीं है, सत्य शब्द में भी नहीं है, सत्य तथाकथित बौद्धिक ज्ञान में भी नहीं है, सत्य है अनुभव। और अनुभव शून्य में प्रगट होता है, मौन और आंतरिक एकांत में प्रगट होता है। और वैसे जीवंत अनुभव की अभिव्यक्ति पर सारा अस्तित्व आह्लादित हो उठे, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं।
और तब उन्होंने यह गाथा कही--

न तेन पंडितो होति होति यावता बहु भासति।
खेमी अवेरी अभयो पंडितोति पवुच्चति।।

"बहुत भाषण करने से कोई पंडित नहीं होता; बल्कि जो क्षेमवान, अवैरी और निर्भय होता है, वही पंडित है।"
यह कथा बड़ी प्यारी है। पहले तो यह बूढ़ा एकुदान क्षीणास्रव था। क्षीणास्रव बौद्धों का पारिभाषिक शब्द है, इसका अर्थ होता है, जिसके आस्रव क्षीण हो गये। चार आस्रव हैं। पहला आस्रव है--कामास्रव। जिसके मन में अब कामना नहीं उठती, जिसके मन में वासना नहीं उठती, महत्वाकांक्षा नहीं उठती; जो अब ऐसा नहीं सोचता, यह कर लूं, वह कर लूं। जिसके मन में करने का रोग चला गया, तो पहला आस्रव क्षीण हो गया। जो अब बस है, करने की धुन नहीं है।
तुम देखते हो अपने को, जब भी बैठे, करने की धुन रहती--यह कर लें, वह कर लें। कुछ तो करके दिखा दें, इतिहास में नाम छोड़ जाएं। ऐसे ही आए, ऐसे ही न चले जाएं। हम तो चले जाएंगे लेकिन नाम रह जाएगा, कुछ कर लें, कहीं पत्थरों पर खोद जाएं नाम। हम तो मिट जाएंगे, लेकिन नाम रह जाए। इसका नाम है, कामास्रव।
दूसरा आस्रव है--भवास्रव। भवों के लिए कामना। स्वर्ग मिल जाए, मोक्ष मिल जाए, अच्छी योनि मिल जाए कम से कम। जीवन मिले, लंबा जीवन मिले, आयु मिले, मैं होता ही रहूं, सदा होता रहूं; यह हो जाऊं, वह हो जाऊं, इसका नाम भवास्रव। कुछ होते हैं जो करने की धुन में लगे रहते हैं--यह कर लूं, वह कर लूं। कुछ होते हैं जो होने की धुन में लगे रहते हैं कि यह हो जाऊं, वह हो जाऊं। यह दूसरा आस्रव है। जिनका भवास्रव गिर गया, जिनकी होने की धुन गिर गयी, जो कहते हैं--अब जो हूं, हूं; जैसा हूं, हूं; जिनकी जीवेषणा गिर गयी, वे क्षीणास्रव।
तीसरा आस्रव है--दृष्टास्रव। दृष्टिराग, शास्त्रराग, सिद्धांतराग। मैं हिंदू हूं, मैं मुसलमान हूं, मैं ईसाई हूं, मैं जैन हूं, मैं बौद्ध हूं, ऐसे जिनके राग पैदा हो जाते हैं। ऐसे राग को बुद्ध कहते हैं, दृष्टास्रव।
इनकी बुद्धि निर्मल नहीं रहती। इनकी आंखों पर पर्तें पड़ जाती हैं। फिर अपने ही चश्मे से ये दुनिया को देखते हैं। अगर उन्होंने लाल चश्मा लगा लिया तो सारी दुनिया लाल दिखायी पड़ती है, ये सोचते हैं कि दुनिया लाल है। जिनका दृष्टास्रव भी गिर गया, वे क्षीणास्रव।
और चौथा आस्रव है--अविद्यास्रव। मैं हूं, मैं आत्मा हूं, यह है अविद्यास्रव। यह बड़ी अनूठी बात है। बुद्ध कहते हैं, यह मानना कि मैं हूं, अविद्या के कारण है। सर्व है, मैं कहां? सागर है, लहर कहां? अलग-अलग हम हैं ही नहीं, बस एक ही है। अलग-अलग होने का जो दावा है--मेरी सीमा, मेरी परिभाषा, मैं यह, मैं वह--यह दावा अविद्या है।
जिनके ये चारों आस्रव गिर गए हैं, उनके लिए पारिभाषिक शब्द है, क्षीणास्रव।
तो यह एकुदान नाम का बूढ़ा भिक्षु क्षीणास्रव था। इसके सब आस्रव गिर
गए थे। यह परमदशा है। अर्हत की दशा है।
अर्हत शब्द भी महत्वपूर्ण है। उसका अर्थ होता है, जिसके सब शत्रु गिर गए। अरि का अर्थ होता है शत्रु, और जिसके सब शत्रु हत हो गए, अब बचे नहीं।
यही चार शत्रु हैं। ये शत्रु गिर गए तो आदमी अर्हत हो गया।
जैनों में इसी के लिए शब्द है, अरिहंत। अर्हत के लिए ही पर्यायवाची है।
ऐसे यह बूढ़े भिक्षु थे, यह जंगल में अकेले रहते। अब दूसरे की कोई आकांक्षा भी न थी। कोई आ जाता कभी, रुक जाता, ठीक। कोई न आता, ठीक। न यह कहीं जाते, न आते। लेकिन नियम से रोज उपदेश देते थे। अकेले होते तो भी। कोई न होता तो भी।
यह भी बड़ी महत्व की बात है। ऐसे ही समझो कि एकांत में फूल खिला तो सुगंध तो बहेगी ही न, चाहे कोई सुगंध लेने वाला हो या न हो, चाहे कोई राहगीर पास से गुजरे कि न गुजरे। कि अंधेरे में दीया जला, रोशनी तो फैलेगी ही न, कोई हो आंख वाला या न हो आंख वाला। मंदिर खाली ही क्यों न हो, लेकिन दीया जलेगा तो रोशनी तो फैलेगी ही न। इसलिए उपदेश फैलता था। यह उपदेश सुगंध

जैसा था। यह किसी के लिए दिया गया, ऐसा नहीं। यह हो रहा था। जैसे झरने बहते हैं, फूल खिलते हैं, दीया जलता है, चांद-तारे चलते हैं, ऐसी यह सहज घटना थी।
इसका मतलब तुम यह मत समझना कि इसमें कोई मजबूरी थी, कि देना पड़ता था। नहीं, एकुदान अपने को पाते होंगे कि उनसे कुछ बहा जा रहा है। जो मिला है, वह बहता है। जो जाना है, वह बंटता है।
महावीर को जब पहली दफा ज्ञान हुआ, तो उनसे ज्ञान झरा। बड़ी प्यारी कथा है। आदमी वहां कोई भी न था, देवता ही थे, तो देवताओं ने सुना। उन्होंने बड़ा निनाद किया, उदघोष किया धन्यवाद का। बस बात खतम हो गयी।
देवताओं के साथ एक खराबी है। वे केवल धन्यवाद कर सकते हैं, कुछ कर नहीं सकते। देवता एक अर्थ में नपुंसक हैं। इसलिए सारे भारत के मनीषियों ने कहा है, मुक्ति का द्वार मनुष्य से जाता है, देवताओं से नहीं। देवताओं को भी फिर मनुष्य होना पड़ता है, तभी मुक्त हो सकते हैं। देवता कुछ कर नहीं सकते, बातचीत कर सकते हैं। करने के लिए तो देह चाहिए, उनके पास देह नहीं है।
तुम ऐसा ही समझो कि तुम्हारा मन ही तैर रहा है आकाश में, बस वही देवता है। मन ही बचा। कर कुछ नहीं सकते। सोच बहुत सकते हो, बोल बहुत सकते हो, लेकिन करोगे कैसे? करने के लिए देह का उपकरण चाहिए।
पशु नहीं कर सकते हैं, क्योंकि उनके पास मन नहीं है। और देवता नहीं कर सकते हैं, क्योंकि उनके पास देह नहीं है। केवल मनुष्य कर सकता है कुछ, क्योंकि उसके पास मन, देह, दोनों हैं। देवता ऐसे हैं--भाप ही भाप, इंजिन नहीं है। पशु-पक्षी ऐसे हैं--इंजिन तो है, भाप नहीं है। आदमी भर ऐसा है कि इंजिन भी है, भाप भी है। चल सकता है, कुछ हो सकता है।
तो महावीर की बात देवताओं ने सुनी, खूब साधुवाद किया, लेकिन बस सन्नाटा हो गया। तब महावीर को चलना पड़ा बस्तियों की तरफ, आदमी खोजने पड़े। क्योंकि देवता सुनते रहेंगे, साधुवाद करते रहेंगे, और तो कुछ होगा नहीं। यह एकुदान जंगल में रहते थे, इनसे उपदेश झरता होगा। किया उपदेश, ऐसा कहना ठीक नहीं, झरा उपदेश, ऐसा ही कहना ठीक है। जैन ठीक कहते हैं, वे कहते हैं, महावीर से वाणी झरी। बोले, ऐसा कहना ठीक नहीं, बोलने में तो वासना आ जाती है; झरी, घटी।
और वही उपदेश रोज-रोज था। अब बेला खिलेगा तो बेले की ही गंध निकलेगी न,
और गुलाब खिलेगा तो गुलाब की ही गंध निकलेगी। अब तुम यह थोड़े ही कहोगे कि रोज-रोज गुलाब गुलाब की ही गंध दिए जा रहा है, और बेला रोज-रोज बेले का ही संचरण किए जा रहा है। वही तो होगा न जो घटा है। तो एक ही तो सार था, वही सार निनादित होता रहता था। वे रोज वही कहते थे और जंगल पूरा गुंजित हो जाता था। देवता साधुवाद देते थे। देवता कहते, साधु-साधु! सुंदर! श्रेष्ठ! सत्य! फिर आए ये दो पंडित, जिन्हें बुद्ध के सारे वचन याद थे। बड़े पंडित थे, इनके पांच-पांच सौ शिष्य थे। वे तो समझे कि यह बूढ़ा पागल हो गया है। पंडित तो सदा से यही समझा है कि समाधिस्थ जो है वह पागल हो गया है। पंडित को तो समझ में ही नहीं आती है बात हृदय की। पंडित को तो केवल शब्द ही समझ में आते हैं, शांति समझ में नहीं आती। पंडित को सिद्धांत समझ में आते हैं, समाधि समझ में नहीं आती। तो वे हंसे, एक-दूसरे की तरफ देखकर मुस्कुराए कि यह बूढ़ा, इसका दिमाग गड़बड़ हो गया है। एक तो अकेले में ही रहता है और कहता है, मैं उपदेश करता हूं; अकेले में किसको उपदेश! दूसरी बात, कह रहा है कि देवता साधुवाद करते हैं, कहां के देवता! सब बातचीत है। निश्चित ही यह बेचारा विक्षिप्त हो गया, अकेले में रहते-रहते पगला गया है।
लेकिन उस बूढ़े ने कहा, आप आ गए तो भला हुआ। मेरा एक ही उपदेश सुनते- सुनते देवता थक भी गए होंगे। आप कुछ उपदेश करें, मैं भी सुन लूंगा, देवता भी सुन लेंगे। उन्होंने उपदेश किया भी, शास्त्र-सम्मत, ठीक-ठीक जैसा होना चाहिए। लेकिन ठीक-ठीक पर्याप्त थोड़े ही है। तुम बिल्कुल दोहरा दो मशीन की तरह बुद्ध के वचन, लेकिन अगर बुद्धत्व तुम्हारे भीतर फलित न हुआ हो, तो तुम्हारी वाणी निर्वीर्य होगी, निष्प्राण होगी।
देवता चुप रहे। कोई निनाद न हुआ, कोई उदघोषणा न हुई। तब उस बूढ़े ने उपदेश किया, झिझकते-झिझकते, संकोच से भरे हुए। बड़ा परेशान हुआ होगा बूढ़ा

कि क्या हुआ? मुझ अज्ञानी की बात सुनकर देवता साधुवाद करते हैं, इन ज्ञानियों की बात सुनकर साधुवाद न किया! तो झिझका होगा। लेकिन जब उसने अपना वही संक्षिप्त सा उपदेश दोहराया, तो साधुवाद का झंकार उठा। सारा जंगल मन-प्राण से साधुवाद कर उठा।
पंडित की भ्रांति देखो। पहले सोचा, यह बूढ़ा पागल। अब बात तो बदल दी, अब
तो यह बात समझ में आ गयी कि देवता भी हैं, तो अब देवता पागल! क्योंकि इस बूढ़े की बात में क्या रखा है। फिर भी पंडितों को न दिखायी पड़ा--पंडित का अंधापन बड़ा गहरा होता है--फिर भी उन्हें न दिखायी पड़ा कि जब इतना विराट उदघोष उठा है, तो जरूर इस बात में कुछ होगा, जो हमारी समझ में नहीं आ रहा है। बात सीधी-सादी थी। कुछ बड़ी गहरी न थी। लेकिन बात की गहराई बात में थोड़े ही होती है, बात की गहराई अनुभव में होती है।
वे दोनों तो चुप ही रहे। लौटकर उन्होंने बुद्ध को यह बात भी न बतायी, क्योंकि यह तो उनके अहंकार का खंडन होता। लेकिन उनके शिष्यों ने बुद्ध को कहा।
तो बुद्ध ने कहा, सत्य शास्त्र में नहीं, सत्य शब्द में नहीं, सत्य तथाकथित बौद्धिक ज्ञान में नहीं; सत्य है अनुभव, अनुभूति। जिसने समाधि जानी, उसने सत्य जाना। और समाधि से जो सुगंध उठती है, उस सुगंध में अगर जगत आंदोलित हो उठे, उत्सव से भर जाए, तो इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है।
वही उपदेश था, एकुदान ने जो उपदेश किया, वही उपदेश था। इन पंडितों ने
जो कहा, वह तो व्यर्थ की बकवास थी।
इसे स्मरण रखना। जब तक तुम्हारी समाधि न पके तब तक तुम जो भी कहोगे, वह बातचीत ही बातचीत है। इसलिए सारी शक्ति समाधि के पकने में लगाना। सारी शक्ति, सारी ऊर्जा एक ही बात पर दांव पर लगा देनी है कि तुम्हारे भीतर अनुभव घटित हो जाए। ईश्वर-ईश्वर की गुहार न मचाओ, आत्मा-आत्मा के शब्द मत दोहराओ, कुछ जीओ, कुछ जानो। किसी दिन ऐसा हो सके कि तुम क्षीणास्रव हो जाओ और तुम्हारे भीतर से सत्य का सहज उदघोष उठे।
तब बुद्ध ने कहा, बहुत भाषण करने से कोई पंडित नहीं, बल्कि जो क्षेमवान है, जिसके भीतर अवैर है, निर्भय है जो, और जिसके भीतर क्षमा है, और जिसके भीतर धैर्य है... ।
ये सब समाधि की छायाएं हैं। समाधि के आते ही धैर्य आ जाता है, अनंत धैर्य आ जाता है, कोई तड़फन नहीं रह जाती। कुछ हो, ऐसी वासना नहीं रह जाती। जो होता है, ठीक होता है; और जो होता, समय पर होता है। कोई चीज गैर-समय पर नहीं होती। सब चीजें अपने समय पर होती हैं। जब बसंत आता, फूल खिल जाते हैं; जब ऋतु पकती, वृक्ष फलों से लद जाते। सब समय पर होता है। अधैर्य क्या है? अधैर्य करने की जरूरत क्या है? समय के अन्यथा कभी कुछ होता नहीं। सब अपने समय पर होता है। सब जैसा हो रहा है, ठीक ही हो रहा है, ऐसी प्रतीति का नाम धैर्य है। तो ऐसे व्यक्ति में बड़ी क्षमता पैदा हो जाती है। अपूर्व झील बन जाता है ऐसा व्यक्ति। उसमें लहर नहीं उठती तनाव की।
और अवैर। किससे वैर? यहां सब एक ही का वास है। यहां एक ही का निवास है।
ये एक ही की तरंगें हैं। तो किससे वैर, कोई दूसरा नहीं है। और निर्भय। जब वैर नहीं और दूसरा नहीं, तो फिर भय कैसा! ऐसी दशा में ही कोई व्यक्ति पंडित कहलाता है।
यह बुद्ध की पंडित की नयी परिभाषा। इसमें न तो वेद के जानने से पांडित्य को कहा, न ब्राह्मण के घर में पैदा होने से पांडित्य को कहा, समाधिस्थ होने से पांडित्य को कहा। पंडित शब्द का मौलिक अर्थ यही है, प्रज्ञावान। जिसकी प्रज्ञा जाग गयी हो। समाधि में ही जगती है प्रज्ञा। तीसरा दृश्यः

लकुंटक भद्दीय स्थविर नाटे थे--अति नाटे। एक दिन अरण्य से तीस भिक्षु भगवान का दर्शन करने के लिए जेतवन आए। जिस समय वे शास्ता की वंदना करने जा रहे थे, उसी समय लकुंटक भद्दीय स्थविर भगवान को वंदना करके लौटे थे। उन भिक्षुओं के आने पर भगवान ने पूछा, क्या तुम लोगों ने जाते हुए एक स्थविर को देखा है? भंते, हम लोगों ने स्थविर को तो नहीं देखा, केवल एक श्रामणेर

जा रहा था। भगवान ने कहा, भिक्षुओ, वह श्रामणेर नहीं, स्थविर है। भिक्षु बोले, भंते, अत्यंत छोटा है। इतना छोटा, कैसे कोई स्थविर होगा! भगवान ने कहा, भिक्षुओ, वृद्ध होने और स्थविर के आसन पर बैठने मात्र से कोई स्थविर नहीं होता। किंतु जो आर्य-सत्यों का ज्ञान प्राप्त कर महा जनसमूह के लिए अहिंसक हो गया है, वही स्थविर है। स्थविर का संबंध उम्र या देह से नहीं, बोध से है। बोध न तो समय में और न स्थान में ही सीमित है। बोध समस्त सीमाओं का अतिक्रमण है। बोध तादात्म्य से मुक्ति है।
और तब उन्होंने ये गाथाएं कहीं--

न तेन थेरो होति येनस्स पलितं सिरो।
परिपक्को वयो तस्स मोघजिण्णोति वुच्चति।।
यम्हि सच्चंच धम्मो च अहिंसा सांंमो दमो।
स वे वंतमलो धीरो थेरो इति पवुच्चति।।

"सिर के बाल के पकने से कोई स्थविर नहीं होता, केवल उसकी आयु पक गयी है। वह तो वृथा वृद्ध कहलाता है।"
"जिसमें सत्य, धर्म, अहिंसा, संयम और दम हैं, वही विगतमल और धीरपुरुष स्थविर कहलाता है।"
पहले तो स्थविर शब्द को समझना।
स्थविर शब्द के दो अर्थ हैं। एक तो वही जो कृष्ण का गीता में स्थितप्र्रज्ञ का है। जिसकी प्रज्ञा स्थिर हो गयी है। जिसके भीतर चंचलता नहीं रही। जो भीतर अचंचल हो गया है। जैसे दीया जलता हो अकंप। कोई चीज उसे कंपा न पाती हो। पहला।
दूसरा, स्थविर का अर्थ होता है--प्रौढ़, वृद्ध। जिसने जीवन के अनुभव से सार निचोड़ लिया। जिसने जीवन को देखा, जाना, पहचाना और जीवन के रहस्य को समझ गया। अब जीवन में उसे भ्रम नहीं होते। जीवन में सपने नहीं उठते। जीवन के यथार्थ में जीता है। स्थविर का दूसरा अर्थ, प्रौढ़, मैच्योर।
अब यह छोटी सी कहानी--
यह लकुंटक भद्दीय स्थविर नाटे थे, बहुत छोटे थे, लंबाई उनकी कम। और कोई उन्हें देखे तो यही समझे कि कोई छोकरा है। एक दिन कुछ भिक्षु बुद्ध को मिलने आए तो उन्होंने पूछा कि अभी-अभी लकुंटक स्थविर गए हैं, तुम्हें राह में मिले? तो उन्होंने कहा कि नहीं प्रभु, स्थविर तो हमने कोई नहीं देखा, एक श्रामणेर... श्रामणेर का अर्थ होता है, उम्मीदवार भिक्षु। अभी भिक्षु हुआ नहीं, सिर्फ उम्मीदवार है, सिक्खड़। श्रामणेर का अर्थ होता है, एप्रेंटिस। उन्होंने देखा, एक छोटा सा, एक लड़का सा जाता था, श्रामणेर होगा ज्यादा से ज्यादा, स्थविर तो बूढ़ा आदमी होता है। बाल पक गए होते हैं, उम्र हो गयी होती है। तो उन्होंने कहा कि नहीं प्रभु, स्थविर को तो नहीं देखा, केवल एक श्रामणेर जाता था। भगवान ने कहा, भिक्षुओ, वह श्रामणेर नहीं, स्थविर है। भिक्षु बोले, भंते, अत्यंत छोटा है। इतनी छोटी उमर में कहीं कोई स्थविर होता है!
हमारी सदा यह धारणा होती है कि ज्ञान का कोई संबंध उम्र से है। उम्र
से ज्ञान का कोई संबंध नहीं। अज्ञानी की अज्ञानता ही बढ़ती जाती है उम्र के साथ-साथ और कुछ नहीं। ज्ञान का कोई संबंध उम्र से नहीं है। ज्ञान कभी भी घट सकता है। इसलिए ज्ञान के लिए प्रतीक्षा मत करना कि जब बूढ़े हो जाओगे तब घटेगा। अक्सर तो बाल धूप में ही पकते हैं, प्रौढ़ता के कारण नहीं।
बुद्ध का जन्म हुआ, तो जब बुद्ध का जन्म हुआ तो हिमालय से एक बूढ़ा ऋषि, जिसकी उम्र सौ साल थी, भागा हुआ बुद्ध के पिता के महल में आया। उस वृद्ध ऋषि को देखकर बुद्ध के पिता तो उसके चरणों में झुक गए। उन्होंने कहा, आपका कैसा आगमन हुआ? वह बड़ा ख्यातिनाम था। उन्होंने कहा, मैं समाधि में बैठा था और मैंने देखा कि तुम्हारे घर एक बच्चा उत्पन्न हुआ है जो भविष्य में बुद्ध होगा, मैं उसके दर्शन करने आया हूं।
पिता तो चौंके। पिता ने कहा, अभी वह चार दिन का बच्चा है, आप उसका दर्शन करने आए! लेकिन आए तो ठीक। बेटे को लाकर उनकी गोद में रख दिया। वह

चार दिन का बच्चा है, अभी आंख भी मुश्किल से खुली है। वह वृद्ध तपस्वी छोटे से बच्चे के चरणों में सिर रखकर लेट गया साष्टांग और उसकी आंखों से आंसू की धारा बहने लगी। बुद्ध के पिता थोड़े चिंतित हुए। उन्होंने कहा कि यह बात क्या है? एक तो यह शोभन नहीं कि आप एक चार दिन के बच्चे के चरणों में झुकें। आप जगत-प्रसिद्ध, लाखों आपके भक्त, आप यह क्या कर रहे हैं! आपका मन तो कुछ गड़बड़ नहीं हो गया? आप यह कैसा पागलों जैसा कृत्य कर रहे हैं! और फिर आप रो क्यों रहे हैं?
तो उस वृद्ध तपस्वी ने कहा कि मैं रो रहा हूं इसलिए कि मेरे तो दिन समाप्त हुए। यह तुम्हारा बेटा जब बुद्ध होगा, तब मैं इस पृथ्वी पर नहीं होऊंगा। नहीं तो इसके चरणों में बैठता, इसकी वाणी सुनता, इसकी तरंगों में डोलता। वे धन्यभागी हैं जो, जब यह बुद्धत्व को उपलब्ध होगा, तब यहां पृथ्वी पर होंगे। मैं अभागा हूं, मैं तो चला, मेरे तो जाने के दिन करीब आ गए। इसलिए मैं भागा आया हूं कि चलो कुछ हर्ज नहीं, वृक्ष तो नहीं देखेंगे तो बीज को ही नमस्कार कर आएं, बीज में भी फूल तो छिपा ही है।
उम्र से कोई संबंध नहीं है। बुद्ध ने यह जो कहा, भिक्षुओ, वृद्ध होने
और स्थविर के आसन पर बैठने मात्र से कोई स्थविर नहीं होता।
यह कोई पदवी नहीं है कि बूढ़े हो गए तो स्थविर हो गए। यह तो बोध की एक दशा है कि प्रौढ़ हो गए, कि तुमने जीवन को जागकर जीना शुरू कर दिया, कि तुम्हारे भीतर समाधि का फल लग गया, कि तुम्हारी प्रज्ञा ठहर गयी--अब तुम्हारे भीतर चंचल लहरें नहीं उठतीं, अब तुम्हारा दर्पण निर्मल है। जिसने आर्य-सत्यों का ज्ञान प्राप्त कर लिया है।
चार आर्य-सत्य हैं, बुद्ध ने कहे। एक, कि जीवन दुख है। दूसरा, कि जीवन
के दुख से पार होने का उपाय है। तीसरा, कि पार होने की दशा है, पार होने की व्यवस्था है। और चौथा, दुख के पार निर्वाण है। ये चार आर्य-सत्य हैं। दुख है, दुख को मिटाने का मार्ग है, दुख को मिटाने के साधन हैं, दुख के मिटने के बाद एक चित्त की दशा है, चैतन्य की दशा है। जिसने इन चार आर्य-सत्यों को अनुभव कर लिया है, वही स्थविर है।
जो अहिंसक हो गया है।
हिंसा तभी तक उठती है जब तक हमारे भीतर तरंगें हैं, जब तक यह कर लूं, तो फिर जो भी मार्ग में पड़ जाता है उसे मिटा दूं। फिर यह बन जाऊं और जो भी प्रतिस्पर्धा करता है, उससे दुश्मनी हो जाती है। जिसे न कुछ बनना है, न कुछ होना है, न कुछ पाना है, जो अपने होने से राजी हो गया, जो अपने भीतर राजी हो गया, जिसकी तथाता फल गयी, फिर उसकी कैसी हिंसा! उसका किसी से कोई वैमनस्य नहीं है, स्पर्धा नहीं है, प्रतियोगिता नहीं है, वह अहिंसक हो जाता है। अहिंसा यानी महत्वाकांक्षा से मुक्ति।
स्थविर का संबंध उम्र या देह से नहीं, बोध से है।
जिसके भीतर चैतन्य का अनुभव जिसे होने लगा कि मैं देह नहीं, चेतना हूं। यह देह तो मेरा मकान है, मैं उसके भीतर निवास कर रहा हूं। मैं मिट्टी का दीया नहीं, दीए के भीतर जलती ज्योति हूं। जिसे ऐसा अनुभव होने लगा, वही व्यक्ति स्थविर है।
बोध न तो समय में और न स्थान में सीमित है। बोध समस्त सीमाओं का अतिक्रमण है, बोध तादात्म्य से मुक्ति है।
ये तीन छोटी-छोटी कथाएं हैं, इनके साथ बंधी हुई ये छोटी-छोटी गाथाएं हैं, ये तुम्हारे जीवन के बहुत से पृष्ठों को उघाड़ दे सकती हैं। ये तुम्हारे जीवन में नए अध्याय की शुरुआत बन सकती हैं।
ऐसे ही हम बुद्ध के और सूत्रों पर विचार करेंगे। और मैं इन गाथाओं को उनकी कहानियों के साथ रख रहा हूं, ताकि तुम्हें पूरा संदर्भ समझ में आ जाए, पूरी परिस्थिति समझ में आ जाए। क्यों, किस स्थिति में बुद्ध ने कोई वचन कहा है।
ये वचन अपूर्व हैं। सीधे-सरल, पर बहुत गहरे। तुम्हारे मन पर इनकी चोट
पड़ जाए तो कोई कारण नहीं है कि तुम भी किसी दिन बुद्धत्व को क्यों न उपलब्ध हो जाओ!
बुद्धत्व सबका जन्मसिद्ध अधिकार है।

एस धम्मो सनंतनो, भाग 9
तिरासीवां प्रवचन

क्षण है द्वार प्रभु का

पहला प्रश्नः संन्यास लेना चाहता हूं; कब लूं?

कब पूछा तो कभी न ले सकोगे। कब में कभी नहीं छिपा है। कब का अर्थ ही है, टालना चाहते हो; स्थगित करना चाहते हो। कल है नहीं, आज ही है। जो भी करना हो, अभी कर लो। अगर टालने की ही बहुत आदत हो तो बुरे को टालना, भले को मत टालना। क्रोध करना हो तो पूछना, कब? प्रेम करना हो तो मत पूछना। लोभ करना हो तो पूछना, कब? दान करना हो तो मत पूछना। शुभ को तत्क्षण कर लेना।
शुभ के संबंध में इतना ध्यान रखना, क्षणभर भी बीत गया तो शायद तुम चैतन्य की उस ऊंचाई पर न रह जाओ, जहां शुभ घटित हो सकता था। तुम सदा ही तो उस अवस्था में नहीं होते जहां प्रेम कर सको। कभी-कभी होते हो। कभी-कभी खिड़की खुलती है। फिर भटक जाते हो। कभी-कभी तारा दिखायी पड़ता है, फिर अंधेरा हो जाता है। तो जब तारा दिखायी पड़े, तभी कर लेना।
इसे ख्याल रखो, यह सूत्र जीवन में क्रांतिकारी हो सकता है--बुरे को टालना, कहना, कल कर लेंगे, जल्दी क्या है; भले को अभी कर लेना, कल पर मत टालना; क्योंकि कौन जाने कल हो, न हो। कल का इतना भरोसा नहीं। और अगर बुरा न भी हुआ तो अच्छा ही है, कल पर टाला था, टल गया। लेकिन भला अगर न हुआ, तो जीवन की संपदा से वंचित रह जाओगे।
और संन्यास जीवन की गहनतम बात है। तुम्हें संन्यास का अर्थ भी समझ में नहीं आया होगा, इसलिए पूछते हो, कब? संन्यास का अर्थ ही होता है, वर्तमान में जीने की कला। अभी और यहीं जीने की कला। यह क्षण बिना जीआ न निकल जाए, इतना ही संन्यास है। इस क्षण को हम किसी और क्षण के लिए निछावर न करें, यह क्षण किसी और क्षण की बलि-वेदी पर न चढ़ाया जाए, इस क्षण को हम पूरा का पूरा समग्र भाव से जी लें। इस क्षण से ही द्वार खुलता परमात्मा का।
न तो भविष्य में परमात्मा है, न अतीत में। अतीत में तो राख है, स्मृतियां हैं, पदचिह्न हैं समय की रेत पर छूटे हुए; और भविष्य में कल्पनाएं हैं, आकांक्षाएं हैं, वासनाएं हैं। न तो परमात्मा अतीत में हो सकता है, क्योंकि परमात्मा इतना मुर्दा नहीं है कि अतीत में हो। जो बीत गया कल, उसमें परमात्मा नहीं है। वह कल परमात्मा से छूट गया, अलग हो गया; वह सूख गया पत्ता, वृक्ष से गिर गया, अब उसका वृक्ष से कोई संबंध नहीं है। अब उस सूखे पत्ते में वृक्ष की रसधार मत खोजना। रसधार ही होती तो वह टूटता नहीं, सूखता नहीं, गिरता नहीं। अतीत का अर्थ है, सूखे पत्ते, जो गिर गए। अब उनमें जीवन नहीं रहा। उन्होंने जीवन को छोड़ दिया, ऐसा नहीं, जीवन ने उन्हें छोड़ दिया। जीवन उनसे सरक गया। जीवन नए पत्तों में आ गया। जो बीत गए दिन, वे मृत हो गए।
अतीत में परमात्मा को मत खोजना। बहुत से लोग अतीत में खोजते हैं। जब उन्हें परमात्मा की सुध आती है तो वेद, कुरान, बाइबिल में खोजते हैं। वहां न मिलेगा। अभी खोजना होगा, यहीं खोजना होगा, इसी क्षण का पर्दा उठाना होगा। और कुछ लोग हैं जो भविष्य में खोजते हैं, कहते हैं, कल खोजेंगे, परसों खोजेंगे; बूढ़े हो जाएंगे तब खोजेंगे। अभी तो जीवन है, अभी तो जवान हैं, अभी तो बहुत कुछ और करना है। या होगा, तो देखेंगे फिर कभी। अभी और जरूरी बातें द्वार पर खड़ी हैं।
परमात्मा, अगर कभी कोई सोचता भी है उसके लिए, तो क्यू में अंत में खड़ा
कर देता है। क्यू का अंत कभी आता नहीं, परमात्मा वहीं खड़ा-खड़ा थक जाता है। तुम्हारा क्यू बढ़ता जाता है। संसार में हजार काम करने हैं। परमात्मा हजार के बाद है। ये हजार कभी चुकते नहीं, एक काम से दस काम निकलते हैं, दस काम से फिर सौ काम निकलते हैं--पत्ते में पत्ते, शाखाओं में प्रशाखाएं और संसार फैलता चला जाता है। और परमात्मा जहां खड़ा है वहीं खड़ा रहता है। और-और दूर होता जाता है। बच्चों के परमात्मा ज्यादा पास है, बूढ़ों से और भी ज्यादा दूर हो जाता है।

इसलिए तो समस्त ज्ञानियों ने कहा है, जब तक तुम बालक की भांति निर्दोष
न हो जाओ, तब तक तुम उसे न पा सकोगे।
भविष्य में नहीं है परमात्मा, भविष्य में तो तुम्हारी वासनाएं हैं। वासनाओं की दुर्गंध में परमात्मा का मंदिर कैसे बनेगा? भविष्य है ही कहां सिवाय तुम्हारी आकांक्षा के? अतीत वह, जो नहीं हो गया। भविष्य वह, जो अभी हुआ नहीं। इन दोनों के मध्य में है, अतीत और भविष्य के मध्य में है, वह जो छोटा सा द्वार है वर्तमान का, वहीं है। वहीं से सरकना होगा। संकरा है द्वार, होश न रखा तो चूक जाओगे। अति जागरूकता रही तो ही प्रवेश कर सकोगे। और तुम पूछते हो, "संन्यास लेना चाहता हूं, कब लूं?"
कब पूछो ही मत। तुमसे एक छोटी कहानी कहूं--
दक्षिण भारत में एक अपूर्व संन्यासी हुआ। उसका नाम था, सदाशिव स्वामी। अपने गुरु के घर था, युवा था, तब संन्यस्त न हुआ था। तब तो गुरु के पास ज्ञान सीखने गया था। अक्सर ऐसा होता है, जाते हो ज्ञान सीखने, संन्यास सीखकर लौट आते हो। गुरु का अर्थ ही यही है, कि तुम गए किसी कारण से और गुरु ने कुछ और तुम्हें पकड़ा दिया। लोग जाते हैं प्रश्न हल करने और गुरु उन्हें ही हल कर देता है। लोग जाते हैं कि थोड़ी जानकारी बढ़ाकर लौट आएंगे, थोड़े और पंडित होकर लौट आएंगे, और गुरु की कीमिया से गुजरते वक्त वे वही नहीं रह जाते जो आए थे, कुछ नए होकर लौट जाते हैं।
संन्यास का इतना ही अर्थ है--पुनर्जन्म, नया जन्म। मर गया पुराना और तुम अचानक नए हो गए, पुराने सेशृंखला टूट गयी। न तुम्हारा पुराना नाम रहा, न तुम्हारा पुराना घर रहा, न पुराना तुम्हारा ठिकाना रहा, पता रहा। तुमने फिर अ, ब, स, से जिंदगी शुरू की। तुम्हें एक बात समझ में आ गयी कि अब तक जिस ढंग और शैली से जीए, उससे कहीं पहुंचे नहीं, अब फिर से शुरू करें। तुमने नया मकान बनाना शुरू किया।
संन्यास पुराने मकान में लीपा-पोती नहीं है, संन्यास पुराने मकान का जीर्णोद्धार नहीं है, संन्यास तो नए मकान की बुनियाद है और बुनियाद से ही शुरू करना होता है। और ध्यान रखना, पुराने मकान को तुम लाख लीपा-पोती करो, टेके लगाओ, सहारे लगाओ, पुराना मकान पुराना ही रहता है। पलस्तर बदल दिए, फर्नीचर बदल दिया, सब टीमटाम ऊपर की होगी--मकान पुराना है और पुराना ही रहेगा। नया मकान बनाना हो तो नया ही बनाना होता है।
तो गया था सदाशिव--तब वह स्वामी नहीं था, युवा था, ज्ञान की तलाश में था, जिज्ञासु था, दार्शनिक होने की धुन थी उसे--तो गुरु के पास रहा, खूब सीखा। असली बात न सीखी। सब व्यर्थ सीख लिया। गुरु जो कहता था, उसके शब्द सीख लिए। गुरु को जो-जो मालूम था, वह सब उसने कंठस्थ कर लिया। वह गुरु को धोखा दे रहा था और खुद भी धोखा खा रहा था। क्योंकि गुरु जो कहता है, उस पर गुरु समाप्त नहीं है। गुरु जो कहता है, उसे सुनना, लेकिन गुरु जो है, वह बनने की कोशिश करना। गुरु की कही बात को ही बस सब कुछ मत मान लेना, वह तो कूड़ा-करकट है। वह तो उच्छिष्ट है। जहां से आती हैं वे बातें, जिस अंतरतम से आती हैं, उस अंतरतम को पहचानना, तो तुम्हारे जीवन में क्रांति होगी।
तो वह बड़ा पंडित हो गया। सदाशिव का नाम फैलने लगा। लोग उससे शास्त्रार्थ करने आने लगे। एक दिन एक बहुत बड़ा प्रसिद्ध पंडित आया, जिसकी जगत में ख्याति थी और सदाशिव ने उससे ऐसा विवाद किया कि उस पंडित के छक्के छुड़ा दिए। गुरु बैठा सुन रहा है, देख रहा है। एक-एक तर्क उस पंडित का सदाशिव ने खंडित कर दिया। सुबह थी, सर्दी की सुबह थी, लेकिन पंडित को पसीना आ गया। ऐसी पराजय उसने कभी जानी न थी।
लेकिन सदाशिव हैरान था, गुरु बैठे देख रहे हैं, न तो उत्सुक हैं, न प्रभावित हैं। न एक दफे उन्होंने आंख से इशारा किया कि खूब, ठीक, अच्छा किया।
और जब पंडित चला गया पराजित होकर, तो गुरु ने जो कहा, इतना ही था--युवक, अपनी वाणी को कब जीतोगे? ज्ञान से कब छुटकारा पाओगे? तर्क से कब मुक्ति होगी?
सदाशिव ने सुना। बड़ी बहुमूल्य घड़ी रही होगी। वह तो कुछ और आशा लिए बैठा था। वह तो सोचता था, गुरु पीठ ठोकेंगे। कहेंगे कि बेटा, अब तू योग्य

हो गया, ठीक मेरे पद का अधिकारी हो गया। लेकिन गुरु ने कहा, कब तू अपनी वाणी को जीतेगा? कब ज्ञान से तेरा छुटकारा होगा? कब तर्कजाल के बाहर आएगा? सदाशिव, कब?
कुछ सोचा था, कुछ हो गया। बड़ी आकांक्षा से बैठा होगा, एक बड़े महापंडित
को पराजित किया था, प्रशंसा की आकांक्षा रही होगी, पीठ ठोकेंगे गुरु, पुरस्कार देंगे गुरु, बात कुछ और हो गयी! लेकिन बात चोट कर गयी।
अक्सर ऐसा होता है कि जब लोहा गर्म होता है, तभी चोट करनी होती है। गुरु को प्रतीक्षा करनी होती है कि कब चोट करे। यह मौका गुरु ने खूब चुना। प्रशंसा के लिए दरवाजा खुला था सदाशिव के हृदय का, इस मौके को छोड़ा नहीं उन्होंने। पूछा--कब, सदाशिव? सदाशिव ने सुना, गुरु की तरफ आंखें उठायीं, एक क्षण में बात समझ आ गयी।
समझनी हो तो एक क्षण में समझ आ जाती है। समझनी हो तो समझनी नहीं पड़ती, समझनी हो तो दिखायी पड़ जाती है, दर्शन होता है। उसे बात दिखायी पड़ गयी कि बात तो ठीक ही है। मैंने व्यर्थ वाणी का जाल फैलाया, मुझे कुछ पता नहीं, मुझे कुछ अनुभव नहीं। मैंने तर्क किया, पंडित को हरा भी दिया, न उसे पता है न मुझे पता है। कल कोई और आएगा, मुझे भी हरा दे सकता है। अपने जीवन का कोई आधार तो नहीं है। यह शब्दजाल में मैं उलझा, इतना समय मैंने व्यर्थ गंवाया। एक बिजली की तरह कौंध गयी होगी उसके भीतर। ऐसा नहीं कि उसने ऐसा सोचा होगा, ऐसी तर्कसरणी फैलायी होगी। नहीं, जैसे अंधेरे में बिजली कौंध जाए और सब दिखायी पड़ जाए, क्षण में, एक क्षण में सब साफ हो जाए।
उसने गुरु के चरणों में सिर रखा और कहा--पूछते हैं, कब? करने का क्षण
तो अभी है। तो अभी हो गया! कहा--पूछते हैं, कब? आशीर्वाद दें, अभी हो गया। और उस दिन से सदाशिव मौन हो गया, फिर जीवनभर नहीं बोला। बोला ही नहीं! बात ही खतम हो गयी! उस दिन से सदाशिव मुनि हो गया। उस दिन संन्यस्त हो गया। गुरु के चरणों में जो झुका सो झुका। वहीं चरणों में वाणी छोड़ दी। तर्क छोड़ दिए, ज्ञान छोड़ दिया, सब छोड़ दिया। अपूर्व आनंद में मस्त रहने लगा।
औरों ने तो समझा कि पागल हो गया। पहले इतना बोलता था, इतना समझाता था, इतना तर्क-विवाद करता था। गुरु के शिष्यों में सबसे ज्यादा प्रखर और तेजस्वी वही था। लोग सोचने लगे, पागल हो गया? इसे क्या हो गया बेचारे को? गुरु के पास खबरें आने लगीं, लोग कहते कि क्या हो गया सदाशिव को? मालूम होता है, सदाशिव पागल हो गया है। और गुरु ने कहा, काश, ऐसे ही और भी पागल होते! सदाशिव मुनि हो गया है, पागल नहीं। पागल था, विक्षिप्त था, अब विमुक्त हो गया है। सदाशिव संन्यस्त हो गया है।
तुम पूछते हो, "संन्यास कब लें?"
लेना हो तो--अब। न लेना हो तो--कब। कब तो आड़ है। कब तो तरकीब है। कब तो सोचने का एक ढंग है, उपाय है और बड़ा चालबाज उपाय है। कब का मतलब यह होता है कि तुम लेना नहीं चाहते और अपने को यह भी समझाना चाहते हो कि मैं लेना चाहता हूं। घर में आग लगी हो, तो तुम पूछते हो, कब बाहर निकलूं? घर में आग लगी हो तो तुम छलांग लगाकर बाहर निकल जाते हो। सांप रास्ते पर पड़ जाए, फन उठाए खड़ा हो, तो तुम पूछते नहीं कि कब छलांग लगाकर निकलूं, तुम छलांग लगाकर निकल जाते हो।
अगर तुम्हें जीवन के सत्य दिखायी पड़ जाएं, तो तुम कब तो पूछोगे ही नहीं। क्या है तुम्हारे जीवन में जिसके लिए तुम कल के लिए रुको? क्या है जो अटकाता है? ऐसा मूल्यवान कुछ भी तो नहीं। भ्रांति और भ्रांति के अतिरिक्त तुम्हारे हाथों में क्या है! मुट्ठी खाली है, तुम खाली हो।
कब मन की पुरानी तरकीब है। जब मन को कोई बात टालनी होती है, तो वह कहता है, कल कर लेंगे।
मार्क ट्वेन ने एक संस्मरण लिखा है कि वह एक चर्च में प्रवचन सुनने गया। जब वह प्रवचन सुन रहा था तो बड़ा प्रभावित हुआ। कोई पांच-सात-दस मिनिट ही बीते थे, वह जो चर्च में बोल रहा था धर्मगुरु बड़ा प्रभावशाली था, मार्क ट्वेन ने सोचा कि आज सौ डालर दान कर दूंगा। फिर दस मिनिट और बीते, अब तो उसे सुनने की याद ही नहीं रही, अब वह सौ डालर की सोचने लगा। फिर उसने सोचा कि सौ डालर जरा ज्यादा होते हैं, पचास से ही काम चल जाएगा। फिर और दस मिनिट बीते,

फिर वह सोचने लगा, पचास डालर भी, पचास डालर के लायक बात नहीं जंचती, पच्चीस से चल जाएगा। ऐसे सरकता रहा, सरकता रहा। फिर तो एक डालर पर आ गया। जब आखिरी प्रवचन होने के करीब था तो एक डालर पर आ गया।
फिर उसने अपने संस्मरण में लिखा है कि तब मुझे ख्याल आया और तब मैं एकदम निकल भागा चर्च से। क्योंकि मुझे डर लगा कि जब चंदा मांगने वाला व्यक्ति थाली लेकर घूमेगा, तो अब मेरी हालत ऐसी हो गयी थी कि मैं थाली में से कुछ लेकर अपनी जेब में न रख लूं। सौ देने चला था! इस डर से जल्दी से चर्च के बाहर निकल आया कि कहीं थाली में से कुछ उठाकर अपनी जेब में न रख लूं। तुम सोचते हो, कल संन्यास लोगे! कल तक तुम्हारी संसार की आदतें और मजबूत हो जाएंगी। कल तक तुम और अपने बंधनों को पानी से सींच दोगे। चौबीस घंटे और बीत जाएंगे! चौबीस घंटे तुम और पागल रह चुके होओगे। चौबीस घंटे तुमने और जाल फैला लिए होंगे, और वासनाएं, और आकांक्षाएं और उपद्रव बना लिए होंगे। अभी नहीं छूट सकते हो तो कल कैसे छूटोगे? परसों तो और मुश्किल हो जाएगा। बात रोज-रोज मुश्किल होती जाएगी। ऐसे ही बहुत देर हो चुकी है। इसलिए मैं तुमसे सिर्फ इतना ही कहूंगा, जो भी करना हो, उसे क्षण में कर लेना। क्योंकि वर्तमान की ही केवल सत्ता है, वही है। यह शाश्वत अब, यह इटर्नल नाउ, बस यही काल का स्वभाव है।
मैंने सुनी है एक अदभुत कहानी। फाचांग नाम का एक अदभुत सदगुरु हुआ। उसका इतना ही उपदेश था--अभी, यहीं। बस दो शब्दों का ही उपदेश था। सम्राट ने उसे बुलाया था जापान के प्रवचन करने, तो वह मंच पर खड़ा हुआ--सम्राट बैठा, उसके दरबारी बैठे, बड़ा आयोजन किया था, फाचांग बड़ा प्रसिद्ध गुरु था--वह खड़ा हुआ, उसने जोर से टेबल पीटी और कहा, अभी, यहीं। नीचे उतरा और वापस चला गया। सम्राट तो बहुत चौंका। उसने अपने वजीरों से पूछा, यह क्या मामला है? यह कैसा प्रवचन? यह टेबल पीटना और कहना, अभी और यहीं। यह बात क्या है?
उसके वजीरों ने कहा कि महाराज, इतना ही उनका उपदेश है। और इसमें उन्होंने सब कह दिया जो समस्त कालों में बुद्धों ने कहा है।
शुभ करना हो तो अभी और यहीं।
फिर फाचांग मरता था, उसके मरने के समय की घटना है। बिस्तर पर मरणासन्न पड़ा है। अंतिम घड़ियां हैं, शिष्य इकट्ठे हुए हैं। शिष्यों ने सोचा कि जिंदगीभर यह अभी और यहीं कहता रहा, अब तो मौत आ गयी, पूछ लें, शायद कुछ और कह दे। तो किसी ने पूछा, वर्तमान में जागरूक होने के सिद्धांत को आप हमें एक बार और समझा दें। फाचांग ने आंख खोली, उसी समय झोपड़ी के छप्पर पर एक गिलहरी दौड़ी और उसने चीं-चीं, किट-किट की, फाचांग बोला, यही-यही, इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। इट इज जस्ट दिस, एंड नथिंग एल्स। मुस्कुराया, आंखें बंद कर लीं और मर गया।
गिलहरी की चीं-चीं, किट-किट, और उसने कहा--यही।... यह कोयल को सुनते हो? कोयल इसी क्षण में कुहू-कुहू कर रही है। एक क्षण पहले इसकी योजना नहीं बनायी थी उसने, और एक क्षण बाद इसकी याद भी नहीं रखेगी। ऐसा नहीं है कि उसके पास कोई ब्लूप्रिंट तैयार है कि कब करना! कि आठ बजकर पच्चीस मिनिट पर कुहू-कुहू करना! और जब एक दफे कर ली कुहू-कुहू तो फिर पीछे लौटकर भी नहीं देखती कि कुहू-कुहू की। जो हो गया, हो गया। ऐसे निसर्ग में जीने का नाम ही संन्यास है।
संन्यास कोई चीज थोड़े ही है जो तुम ले लोगे, संन्यास कोई ढंग थोड़े ही है, संन्यास कोई व्यवस्था थोड़े ही है, संन्यास बोध है; जीवन को पल-पल जीने की जो चेतना है, जो जागरूकता है, वही संन्यास है।

दूसरा प्रश्नः भगवान बुद्ध का मज्झिम निकाय, मध्य मार्ग क्या है, हमें समझाने की अनुकंपा करें।

यह प्रश्न महत्वपूर्ण है। बुद्ध की देशना को समझने के लिए अति आधारभूत है। बुद्ध का उपदेश इस एक छोटे से शब्द में समाहित है--मज्झिम निकाय। मज्झिम निकाय का अर्थ होता है, मध्य मार्ग, द मिडिल वे, बीच का रास्ता।

शब्द तो सीधे-साधे हैं, पर इनकी निष्पत्ति बहुत गहरी है। इनमें बहुत कुछ समाहित है। यही वह क्रांति है जो बुद्ध जगत में लाए--मध्य मार्ग। समझने की कोशिश करो।
मनुष्य का मन अतियों में डोलता है। मन अतियों के साथ बड़ा कुशल है। तुम
धन के पीछे पागल हो, पद के पीछे पागल हो, बस तुम्हारे भीतर एक ही धुन चलती है, दिल्ली चलो। अगर तुम पद के पीछे या धन के पीछे पागल हो, तो किसी न किसी दिन ऐसा होगा, थक जाओगे धन की दौड़ से, पद की दौड़ से, तब तुम इसके विपरीत चलने लगोगे। तुम कहोगे, धन को छूना पाप है। जहां धन होगा, वहां से भागने लगोगे। पहले धन के लिए भागते थे, अब जहां धन होगा वहां से भागने लगोगे। पहले पद के दीवाने थे, अब भी दीवानगी वही है, सिर्फ दिशा बदल गयी। अब जहां-जहां पद होगा, वहां से भागोगे। मगर तुम्हारी चित्त की दशा नहीं बदली।
एक दिन स्त्री के लिए दीवाने थे, अब स्त्री से डरकर भाग रहे हो, हिमालय
जा रहे हो। जहां स्त्री न हो, वहां चले जाना है। स्त्री से तुम अब भी बंधे हो, पहले भी बंधे थे--पहले स्त्री की तरफ रुख था, अब स्त्री की तरफ पीठ है; लेकिन इससे क्या फर्क पड़ता है! स्त्री से तुम मुक्त नहीं हो। विपरीत हो गए, लेकिन मुक्त न हुए। एक अति से दूसरी अति पर चले गए, लेकिन मुक्त न हुए। इसलिए अक्सर होता है कि जो लोग बहुत भोजन करते हैं, वे किसी न किसी दिन उरलीकांचन जाकर उपचार करने लगते हैं। उरलीकांचन जाते ही वे लोग हैं, जिन्होंने ज्यादा भोजन कर लिया है। अतिशय भोजन कर लिया, फिर उपवास। तुमने यह देखा, जो बहुत समृद्ध धर्म हैं, उन्हीं में उपवास की प्रतिष्ठा है। जैसे, हिंदुस्तान में जैनों में उपवास की प्रतिष्ठा है। मुसलमानों में नहीं है। मुसलमान इतना गरीब है, उपवास की क्या प्रतिष्ठा, वैसे ही उपवास चल रहा है! मुसलमान का तो जब उत्सव का दिन आता है, ईद आती है, तो देखा, नए कपड़े पहनता, हलुवा-पूड़ी तैयार करवाता, इत्र इत्यादि छिड़क लेता--सस्ता ही--महंगा तो वह लाए भी कहां से! यही तो मौका है जब वह अपने कपड़े बदलता है, सालभर तो वह उन्हीं कपड़ों से चलाता रहा है। फिर ईद आएगी, फिर बदल लेगा। यही तो दिन है जिस दिन वह उत्सव मनाता है। तो मुसलमान का धर्म गरीब का धर्म है। स्वभावतः, उपवास की प्रतिष्ठा नहीं है, उत्सव की प्रतिष्ठा है। जैन का धर्म अमीर का धर्म है। स्वभावतः, पूड़ी और हलुवा खा- खाकर तो लोग परेशान हैं, तो पर्युषण-व्रत, तो दस दिन का उपवास।
ख्याल रखना, आदमी विपरीत पर जाता है। जब भारत बहुत अमीर था, तब इस देश में बड़े से बड़े त्यागी हुए; क्योंकि अति। जब देश गरीब हो गया तो त्याग की कहानियां रह गयीं, त्याग का कोई अर्थ न रहा। त्याग के लिए अमीरी चाहिए। देखते हैं, अमरीका में घट रहा है। अमीर घरों के लड़के हैं, हिप्पी हो गए हैं। जिन्हें सब उपलब्ध था, वे सब छोड़कर काबुल और काठमांडू में भटक रहे हैं। जिनके पास सब सुविधाएं थीं, उनको छोड़कर जंगल-जंगल, गांव-गांव! क्या हो गया इन्हें? एक अति थी, दूसरी अति पर चले आए। भोग की अति आदमी को त्याग की अति पर ले जाती है।
और बुद्ध कहते हैं, मध्य में मार्ग है, अति पर मत जाना। नहीं तो तुम घड़ी के पेंडुलम की तरह एक कोने से दूसरे कोने पर भटकते रहोगे। मध्य में मार्ग है।
तुमने देखा, जब घड़ी का पेंडुलम बाएं से दाएं तरफ जाता है, तो वह दाएं तरफ जा रहा है, लेकिन बाएं तरफ फिर जाने की ऊर्जा इकट्ठी कर रहा है, मोमेंटम इकट्ठा कर रहा है। वह तुम्हें दिखायी नहीं पड़ता ऊपर से, पेंडुलम तो जा रहा है दायीं तरफ--तो तुम सोचते हो, दायीं तरफ जा रहा है--लेकिन दायीं तरफ जाते समय बायीं तरफ जाने की ऊर्जा इकट्ठी कर रहा है। फिर बायीं तरफ जाएगा। जब बायीं तरफ जाएगा, तब दायीं तरफ जाने की ऊर्जा इकट्ठी करेगा।
मन बड़ा अदभुत है, बड़ा विरोधाभासी है। घड़ी इससे चलती रहती है, रुकती नहीं। बाएं से दाएं पेंडुलम घूमता रहता है, घड़ी चलती रहती है। मन चलता रहता है विपरीत के बीच डोलकर।
बुद्ध कहते हैं, पेंडुलम को बीच में रोक दो--न बाएं, न दाएं--फिर घड़ी रुक जाएगी। बीच में रोका कि मन गया। न भोग, न त्याग, मज्झिम निकाय। न तो भोगी बनो, न त्यागी बनो। न संसार, न मोक्ष। न धन के दीवाने रहो और न धन को

छोड़ने की दीवानगी को पकड़ लो। दोनों के बीच रुक जाओ। धन से कुछ लेना-देना नहीं है। पद से कुछ लेना-देना नहीं है। साक्षी भाव को जगाओ। जागरूक बनकर देखो जो हो रहा है। तुम बीच में रहो। इस बीच में रहने की कला का नाम मज्झिम निकाय है। और जो व्यक्ति बीच में रह जाता है, मुक्त हो जाता है।
अब तुम देखना, तुम अपने जीवन में परख करना, अवलोकन करना, रोज यह होता है--एक अति से दूसरी अति। ज्यादा भोजन कर लिया, उपवास की सोचने लगते। फिर उपवास किया, और उपवास में फिर भोजन की ही सोचते हो--क्या सोचोगे और! पेंडुलम बाएं गया, दाएं की सोचने लगा; दाएं गया, बाएं की सोचने लगा। उपवास से फिर भोजन में रस आ जाता है। तो उपवास और भोजन विपरीत दिखायी पड़ते हैं, लेकिन एक-दूसरे के साथ सहयोग है, शड्यंत्र है; साझीदार हैं, पार्टनर हैं, एक ही दुकान चलाते हैं।
स्त्री को भोगने में रस है, फिर स्त्री को भोगते-भोगते या पुरुष को भोगते-भोगते विरस पैदा हो जाता है। जिस चीज को भी भोगोगे, उसमें विरस हो जाता है। क्योंकि भोग से कुछ मिलता तो नहीं। तो विषाद पैदा होता है। वैराग्य की बातें उठने लगती हैं--छोड़ दो सब! छोड़कर भागो, बैठोगे जंगल में, आंख बंद करोगे और स्त्री खड़ी है, पुरुष खड़ा है। जिसको छोड़ आए, वही फिर आकर्षित करने लगा। फिर नए लुभावने सपने पैदा होने लगे। यह बड़े मजे की बात है, जंगल में जो बैठा है, वह स्त्री के बाबत सोच रहा है; और स्त्री के पास जो बैठा है, वह जंगल की सोच रहा है।
मैं बंबई के कुछ मित्रों को लेकर कश्मीर गया था। जिस नाव में हम ठहरे थे, उस नाव का जो मांझी था, वह रोज मुझसे कहता--बाबा, बंबई दिखला दो! तू क्या करेगा? ये बंबई के सब लोग मेरे साथ आए हुए हैं! वह कहता, क्या रखा है यहां? वह मुझसे कहता, रखा क्या है यहां? मैं तो कभी सोचता हूं कि लोग किसलिए आते हैं यहां, रखा क्या है यहां! बस, आप तो इतना करो कि बंबई दिखला दो। चलते- चलते भी, आखिरी विदा देते भी वह मुझसे कह गया कि बाबा, बस ऐसा आशीर्वाद दो, एक दफा बंबई देख लूं।
जो कश्मीर में बैठा है, वह बंबई देखना चाहता है। जो बंबई में बैठा है,
वह कश्मीर जा रहा है। जो जहां है, वहां से विपरीत जाने की आकांक्षा से भरा हुआ है। यह मन की प्रक्रिया है। धनी सोचता है, गरीब बड़े मजे में है। शहर में जो रहता है, वह सोचता है, गांव के लोग बड़े आनंद में हैं। अक्सर तुम जो कविताएं देखते हो, जो शहर में रहने वाले कवि लिखते हैं गांवों के संबंध में, कि गांवों में स्वर्ग है, वे रहते शहर में हैं! स्वर्ग है तो तुम्हें कौन रोक रहा है? गांव का कवि नहीं लिखता कि स्वर्ग है वहां, वह तो लिखता है, नरक है। वह तो कह रहा है, किस तरह मेरे गांव में बिजली आ जाए, सिनेमाघर खुले; किस तरह बस चले, ट्रेन निकले; किस तरह हवाई जहाज उड़े; किस तरह यूनिवर्सिटी खुल जाए; वह तो कोशिश में लगा है कि किस तरह यह गांव शहर हो जाए।
शहर में जो बैठा है, बंद कबूतर के पिंजड़ों में, किसी मकान की पच्चीसवीं मंजिल पर कैद है, वहां बैठा-बैठा सोच रहा है--अहा! गांव में कैसा स्वर्ग है! खुले खेत, हरियाली, स्वच्छ हवा, ताजा सूरज! उसको याद नहीं आता कि और भी चीजें हैं गांव में--बरसात की कीचड़ और गोबर से भरे रास्ते, और गंदगी, और धूप-ताप, और गांव के हजार उपद्रव, और बीमारियां और गरीबी और मच्छर, वह सब। मगर उसकी उसे याद नहीं, वह वहां बैठा सोच रहा है--हरियाली, झीलें, चांद-तारे! गांव में जो बैठा है, वह सोच रहा है शहर के मजे--कैसे मजे हैं! बैठा है अपने छप्पर के नीचे, जिसमें से पानी चू रहा है, वह सोचता है-- कैसे मजे हैं, शहर के भवनों में लोग मजा कर रहे हैं। गर्मी है, पसीने से चू रहा है, तो सोचता है--कैसे मजे हैं। शहरों में बिजली है और पंखे चल रहे हैं। गांव में जो मन है, वही मन शहर में है। विपरीत में आकर्षण बना रहता है। क्योंकि जिसे हमने नहीं जीआ है, हम सोचते हैं, शायद उसे जीने में मजा हो। मैं वर्षों तक बहुत तरह के संन्यासियों, मुनियों और साधुओं के संपर्क में आता रहा। और मैं चकित हुआ जानकर कि उन सबके मन में एक विषाद है कि पता नहीं, सांसारिक लोग मजा न कर रहे हों, सच में मजा न कर रहे हों! उनके भीतर एक भय है कि हम तो छोड़ बैठे--यहां तो कुछ मिला भी नहीं उनको छोड़कर, मिल जाता तो

बात खतम हो जाती; मिला नहीं यहां कुछ, जो था वह छोड़ बैठे--पता नहीं, वहां लोगों को मिल ही रहा हो! इसी कारण वे रोज दूसरों को भी समझाए चले जाते हैं कि तुम भी भागो, छोड़ो। यह जो भागने और छोड़ने की उनकी शिक्षा है, यह बहुत गहरे में ईर्ष्या से उठ रही है। इसका जन्म जलन में है।
तुमने सुनी है न उस आदमी की कहानी, जिसकी किसी कारण नाक कट गयी थी। किसी की पत्नी के प्रेम में पड़ गया और पति गुस्से में आ गया और उसने जाकर उसकी नाक काट दी। अब बड़ी मुसीबत खड़ी हुई।
मगर वह आदमी होशियार था; तार्किक था। उसने गांव में खबर फैला दी कि नाक कटने से बड़ा आनंद हो रहा है। प्रभु के दर्शन हो गए, नाक ही बाधा थी। उसने कहा, यह नाक ही बाधा थी, जिस दिन से नाक कटी उस दिन से प्रभु के दर्शन हो रहे हैं। सब जगह परमात्मा दिखायी पड़ता है।
पहले तो लोगों को शक हुआ कि नाक कटने से कभी किसी ने सुना नहीं! लेकिन
जब वह रोज-रोज कहने लगा रोज-रोज कहने लगा, और जो भी जाता उसी को कहने लगा, और वह बड़ा मस्त भी दिखायी पड़ने लगा, तो आखिर एक पगला गांव का राजी हुआ, उसने कहा कि फिर मेरी भी काट दें।
उसने उसकी नाक काट दी, नाक कटते ही से दर्द तो बहुत हुआ, खून भी बहा, और कोई ईश्वर वगैरह दिखायी नहीं पड़ा। तो पहले नककटे ने दूसरे से कहा--सुन; कोई ईश्वर वगैरह दिखायी पड़ता भी नहीं, मगर अब तेरी भी कट गयी, अब सार इसी में है कि तू भी यही कह। नहीं तो लोग समझेंगे तू बुद्धू है। अब तो तू जोर से खबर कर कि दिखता है! सो गुरु को शिष्य भी मिल गया।
फिर तो गांव में और दो-चार पगले मिले--पगलों की कोई कमी है! धीरे-धीरे गांव में लोगों की नाकें कटने लगीं और जिन-जिनकी कटने लगीं, वे परम आनंद की बातें करने लगे। बात यहां तक पहुंची कि सम्राट तक पहुंच गयी। सम्राट भी उत्सुक हो गया कि इतने लोगों को परमात्मा के दर्शन हो रहे हैं और हम सम्राट होकर खाली हैं। आखिर उसने अपने वजीरों से कहा कि चलना पड़ेगा। अरे, नाक ही जाती है, जाने दो, नाक का करना क्या है! वजीर ने कहा कि प्रभु, जरा मुझे खोजबीन कर लेने दो, मुझे इसमें शक मालूम पड़ता है। पर उसने कहा, शक एक आदमी पर कर सकते हो, पचासों आदमियों की कट गयी और जिसकी कटती है, बाहर निकलते ही से नाचता हुआ निकलता है!
सम्राट अपने वजीर को लेकर पहुंचा। फिर भी वजीर ने कहा, आप जरा रुकें। उसने एक नाक कटे आदमी को पकड़वाकर उसको अच्छी मार दिलवायी और उससे कहा, तू सच-सच बता दे कि बात क्या है? जब उसको मार काफी पड़ी, तो उसने कहा, अब सच बात यह है कि हमारी तो कट ही गयी, अब जुड़ने से रही--उन दिनों कोई प्लास्टिक सर्जरी होती भी नहीं थी--अब सार इसी में है कि जो गुरु कहता है, वही हम भी कहें।
अक्सर ऐसा होता है, अक्सर ऐसा होता रहा है कि जब एक आदमी जीवन से कुछ भाग जाता है--पत्नी छोड़ दी। अब न नाक कटने से कोई परमात्मा के दर्शन होते, न पत्नी को छोड़ने से कोई परमात्मा के दर्शन होते हैं! दोनों बातें एक सी मूढ़तापूर्ण हैं, न तो नाक बाधा बनी है, न पत्नी बाधा बनी है। और शायद नाक तो बाधा बन भी जाए, क्योंकि बिल्कुल आंख के पास है, पत्नी तो बहुत दूर है। कोई धन को छोड़कर भाग गया है, वह सोचता है, धन बाधा थी; इसके कारण प्रभु- मिलन नहीं हो रहा था। धन के कारण! धन ठीकरे हैं। चांदी-सोना तुम्हारे लिए मूल्यवान है, परमात्मा के लिए तो मूल्यवान नहीं। यह तो आदमी की भाषा है। पशु-पक्षियों तक को इसकी फिकर नहीं है! तुम रख दो कोहनूर हीरा भैंस के सामने, वह बिल्कुल फिकर न करेगी। तुम गधे के गले में लटका दो, वह अकड़कर न चलेगा। उसके लिए आदमी जैसा मूरख कोई चाहिए।
तो परमात्मा को तो कुछ पता ही नहीं है कि तुम्हारा धन क्या है; बाधा कैसे पड़ेगी! लेकिन जिसने छोड़ दिया, उसको एक बेचैनी पकड़ती है--उसने तो छोड़ दिया, उसकी तो नाक कट गयी, अब तो इसी में सार है कि औरों की भी कट जाए। इसलिए बड़ी मूढ़तापूर्ण बातें भी सदियों तक चलती रहती हैं। उनकी परंपरा बन जाती है।

तो बुद्ध कहते हैं, अतिशय से बचना। अति वर्जित है। फिर अति चाहे भोग
और त्याग की हो, चाहे जीवन और मृत्यु की हो, चाहे संसार और मोक्ष की हो, अति तो अति ही है।
मुक्त कौन है? बुद्ध की परिभाषा में मुक्त वह है, जो ठीक मध्य में खड़ा
हो गया। जिसे न तो अब धन की आकांक्षा है और न धन को छोड़ने की आकांक्षा है। यह बड़ा क्रांतिकारी विचार है। जिसे न तो संसार में अब लगाव है, न संसार से विराग है। न राग, न विराग। जो कहता है, संसार अपनी जगह, मैं अपनी जगह। जिसने राग-विराग के सारे संबंध छोड़ दिए।
ध्यान रखना, राग भी संबंध है, विराग भी संबंध है। मित्रता से भी संबंध बनता है, शत्रुता से भी संबंध बनता है। तुम मित्रों की ही थोड़े याद करते हो, शत्रुओं की भी याद करते हो, वे भी तुम्हारे सपनों में आते हैं। और मित्र तो कभी भूल भी जाएं, शत्रु कभी नहीं भूलते।
तो इस संसार में न तो मित्रता बनाना, न शत्रुता बनाना। इस संसार में न
तो किसी चीज को कहना, इसके बिना न जी सकूंगा, और न यह कहना कि इसके साथ न जी सकूंगा। यह बड़ी क्रांति है।
यह धर्म के जगत में बुद्ध ने पहली दफे मनोविज्ञान का एक मौलिक आधार स्थापित किया। मन का स्वरूप समझाया कि मन अतियों में डोलता है, यह मन की प्रक्रिया है। अगर मन से मुक्त होना है, तो अति से मुक्त हो जाना, तो मन से मुक्त हो जाओगे। अति यानी मन, मन यानी अति। और अति से जो मुक्त है, वही मुक्त है, क्योंकि वही मन से मुक्त है।

तीसरा प्रश्नः संसार से मुक्ति कैसे हो? संसार के बंधन बहुत मजबूत हैं।

संसार में बंधन हैं ही नहीं। संसार क्या बांधेगा! संसार कैसे बांधेगा! जड़ कैसे बांध सकता है?
यह तो ऐसा ही है कि तुम एक खंभे को पकड़कर खड़े हो जाओ और जोर से खंभे को पकड़े रहो और चिल्लाओ कि खंभे ने मुझे पकड़ लिया है। खंभा तुम्हें कैसे पकड़ेगा! तुम्हें पकड़े रहना हो तो मुझे कोई एतराज भी नहीं है, तुम पकड़े रहो, मगर झूठ तो न बोलो! तुम मजे से पकड़े रहो, तुम्हारी मौज! तुम्हारी जिंदगी है, अगर तुम्हें खंभे पकड़ने में मजा आ रहा है, तुम खंभे पकड़कर मजा लो। किसी को इसमें एतराज होना भी नहीं चाहिए।
लेकिन तुम यह तो मत कहो कि खंभे ने मुझे पकड़ लिया है! यह तो तुम बड़ी तरकीब की बात कर रहे हो। यह तो ऐसा हुआ कि अब तुम यह कह रहे हो कि मैं करूं भी क्या, मेरे छोड़े तो छूटने वाला नहीं, खंभे ने मुझे पकड़ा है!
संसार तुम्हें पकड़े हुए नहीं है। तुम जब जाओगे तो संसार नहीं रोएगा। तुम जब जाओगे, तुम्हारी अर्थी निकलेगी, तो तुम्हारे मकान से आंसू न गिरेंगे। मकान को पता ही न चलेगा कि कब आप आए और कब आप गए!
मैंने सुना है, एक हाथी अपनी मस्त चाल से एक पुल पर से गुजरता था और एक मक्खी उसके ऊपर बैठी थी। जब पुल हिलने लगा हाथी के वजन में, तो मक्खी ने कहा, बेटा, हमारा वजन काफी ज्यादा मालूम पड़ता है। हमारा! हाथी थोड़ा चौंका कि यह कौन बोल रहा है? उसने कहा, कौन है तू? उसने कहा, अरे, तुझे पता नहीं! मैं तेरे ऊपर बैठी हूं, मैं तेरी सवारी कर रही हूं। हाथी ने कहा, जब तक तू बोली न थी, मुझे पता ही न था कि तू बैठी भी है। अभी भी मैं देख नहीं पा रहा कि तू कहां है और तू कौन है?
तुम जब जाओगे तब तुम्हारी तिजोड़ी रोएगी तुम्हारे लिए? तुम्हारे हाथ
से रुपया गिरेगा, तो तुम सोचते हो कि रुपया तड़फेगा कि वे प्यारे हाथ छूट गए!
नहीं, रुपए को पता भी नहीं है कि आप उसे पकड़े थे। और मकान को पता भी नहीं है कि आप उसमें रह रहे हैं और मालिक बन बैठे हैं। तुम्हीं बन बैठे हो, यह तुम्हारा ही मन का जाल है। संसार ने किसी को भी न पकड़ा है, न संसार किसी को पकड़ सकता है। हम पकड़े हुए हैं।

यह बहुत बुनियादी है समझ लेना कि हमने पकड़ा है। क्योंकि अगर यह हमारी समझ में आ जाए कि हमने पकड़ा है, तो छोड़ना न छोड़ना हमारी मौज की बात है। और मैं तुमसे कहता भी नहीं कि छोड़ो। मैं तो कहता हूं, इतना जान लेना ही पर्याप्त है कि हमने पकड़ा है, बात छूट गयी, खतम हो गयी। बचा क्या?
मुट्ठी में रुपया है, तुम्हें समझ में आ गया कि मैंने पकड़ा है, अब मुट्ठी में रुपया रहे भी तो भी मुट्ठी में नहीं है। तुमने जान लिया कि पकड़ मेरी है। रुपए को क्या लेना-देना! रुपए की तरफ से कोई संबंध मुझसे नहीं है। रुपया तो असंग है। मैं नहीं था तब भी था, मैं चला जाऊंगा तब भी रहेगा। यहीं पड़ा रहेगा। तो थोड़ी सी देर के लिए मैंने ही भ्रम खा लिया है कि मेरा है। कितना मेरा-तेरा हम मचा देते हैं!
बुद्ध ने कहा है कि एक सांझ वे एक नदी के किनारे घूमने गए थे, उन्होंने कुछ बच्चों को रेत के घर बनाते देखा। रेत के घर! लेकिन बच्चे बड़ा मेरा-तेरा कर रहे थे। कोई कह रहा था कि मेरा तुझसे ऊंचा है, कोई कह रहा था, तेरे में क्या रखा है! सब रेत के घर-घूले बनाए हुए थे। और कभी किसी बच्चे के धक्के से किसी का रेत का घर गिर जाए--अब रेत के ही घर हैं, कोई गिरने में देर लगती नहीं है, कभी तो बिना ही धक्के के भी गिर जाते हैं--किसी के धक्के से किसी का रेत का घर गिर गया तो वह बच्चा उसकी छाती पर चढ़ बैठा, और उसने कहा कि देखते नहीं, होश से नहीं चलते! मेरा घर मिटा दिया, मेरी मेहनत बरबाद कर दी! मारपीट भी हो गयी।
बुद्ध खड़े देखते किनारे पर कि यह भी खूब मजा है, रेत के घर हैं, गिर ही जाएंगे। रेत के घर हैं, उन पर भी दावेदार खड़े हो गए हैं कि मेरा है, तेरा है। लकीरें खींच ली हैं उन्होंने अपने घरों के चारों तरफ कि इस सीमा के भीतर मत घुसना, सावधान, इसके भीतर कोई आया तो ठीक नहीं होगा! और कोई भीतर आ गया है तो झगड़े भी हो गए हैं।
फिर एक नौकरानी आयी और उसने जोर से आवाज दी बच्चों को कि बच्चो, अब घर चलो; सांझ हो गयी है, सूरज ढलने लगा है, तुम्हारी माताएं तुम्हारी याद कर रही हैं। वह सब बच्चे उछले-कूदे, उन्होंने अपने ही बनाए हुए घरों पर कूद-कूदकर सब मिटा दिए, रेत पड़ी रह गयी, बच्चे नाचते-कूदते वापस चले गए।
बुद्ध ने दूसरे दिन अपने भिक्षुओं से कहा, भिक्षुओ, इस घटना में बड़ा संदेश है। मान लिया था जब तक तो अपने घर थे, कोई दूसरा भी गिराता था तो झगड़ा खड़ा होता था। जब बच्चों ने जान लिया कि अब घर जाने का वक्त आ गया है, सांझ हो गयी, अपने ही घरों पर कूद-फांदकर मिटाकर उनको, नाचते-कूदते सब घर चले गए, सब झगड़े-झांसे बंद हो गए, बात ही भूल गए। जिनसे लड़े थे उन्हीं के हाथ में हाथ डाले हुए, गले में हाथ डाले हुए घर की तरफ लौट गए।
ऐसी ही जिंदगी है, भिक्षुओ, बुद्ध ने कहा, ऐसा ही संसार है। जिसे साफ दिखायी पड़ने लगा कि यहां मरना है, यहां संध्या होने के ही करीब है, कभी भी हो सकती है, उसको कैसा रस रह जाएगा। कैसा बंधन रह जाएगा!
तुम पूछते हो, "संसार से मुक्ति कैसे हो?"
संसार से तुम मुक्त ही हो। सिर्फ तुम्हारी मान्यता है, एक सपना है जो तुमने मान रखा है, कि मेरा है। फिर सपनों को मजबूत करने के लिए हम बड़ी व्यवस्थाएं जुटाते हैं। एक स्त्री के साथ विवाह कर लेते हैं, एक सपना है। फिर पंडित आता, बैंड-बाजे बजते, बरात उठती, मंत्र पढ़े जाते, आग जलती, सात चक्कर लगाए जाते। यह व्यवस्था है, जिससे हम सपने को सच बनाने की कोशिश कर रहे हैं। फिर सात चक्कर लग गए, घेरे हो गए, फिर सबने उत्साह मनाया, बड़े धन्यवाद दिए, बड़ी बधाइयां दीं। यह सब व्यवस्था है, जिससे हम चेष्टा कर रहे हैं कि जो सपना है वह सपना न मालूम पड़े, वह यथार्थ हो जाए। इतने लोगों का बल मिल जाए उसको तो यथार्थ हो जाए, सामूहिक सम्मोहन के आधार पर यथार्थ हो जाए। तो घोड़े पर बिठाते दूल्हे को, गांव में फेरी निकालते। वह सब इस बात के उपाय हैं कि उसको यह भरोसा आ जाए कि यह बात कुछ ऐसी ही नहीं है, कोई छोटी- मोटी बात नहीं है।
अब एक मेरे मित्र हैं, पत्नी से परेशान हैं, कई साल से परेशान हैं। तो मैंने उनसे कहा, जब इतने परेशान हो और वह भी परेशान है और दोनों को कोई शांति नहीं है तो अलग क्यों नहीं हो जाते? वह बोले, कैसे अलग हो जाएं? सात

फेरे पड़े हैं। तो मैंने कहा, तुम ले आओ पत्नी को, मैं उलटे फेरे डलवा देता हूं; और क्या इससे ज्यादा! घोड़े पर बैठना है, उलटे घोड़े पर बिठाकर घुमा देंगे, और क्या! बैंड-बाजा चाहिए, बैंड-बाजा बजवा देंगे। भीड़-भाड़ चाहिए, काफी है। तुम चाहते क्या हो? एक सम्मोहन है, उसको तोड़ने के लिए और सम्मोहन चाहते हो, तो वह भी किया जा सकता है। मगर इससे क्या फर्क पड़ता है!
बोध की जरूरत है। कौन पत्नी तुम्हारी है? कौन पति तुम्हारा है? कौन बेटा तुम्हारा है?
बुद्ध ने अपने पिता से कहा था कि मैं आपसे जरूर आया, लेकिन आपका नहीं हूं। आप माध्यम बने हैं, आप से मैं गुजरा, लेकिन आपकी कोई मालकियत नहीं है। जैसे कोई रास्ते से गुजरता है, तो रास्ते का थोड़े ही हो जाता है! तो एक बेटा मां के गर्भ से गुजरा, यह तो रास्ता हुआ, इसमें तुम्हारा क्या हो जाएगा। मगर नहीं, रास्ता खड़ा हो जाता है, कहता है कि मेरा है। फिर अड़चन शुरू
हो जाती है। हम मेरे-तेरे के जंजाल खड़े कर लेते हैं, हम मेरे-तेरे की सीमाएं खींच लेते हैं। फिर हम जोर से उनको पकड़ लेते हैं, उनमें हमारा बड़ा स्वार्थ निहित हो जाता है, उनमें हमारे प्राण अटक जाते हैं। संसार किसी को बांधे हुए नहीं है।
तुम पूछते हो, "संसार से मुक्ति कैसे हो?"
संसार में है क्या!
चांद चुक गया
रात रह गयी बाकी
पतझड़ के अंजुरियाभर छंद
केसर महका
माधव से चलकर
जो आया सो बहका,
हर छाया लहक उठी
हर एक साया लहका
चांदनिया राख हुई
तिल-तिल सूरज दहका,
बात चुक गयी,
याद रह गयी बाकी।
है क्या संसार में!
बात चुक गयी,
याद रह गयी बाकी।
एक दिन तुम अचानक पाओगे, सब चुक गया, कुछ भी न बचा। जैसे कोई उपन्यास पढ़ा हो, ऐसी हो जाएगी यह जिंदगी।
अभी भी देखो न, तुम पचास साल जी लिए, कि चालीस साल जी लिए, पीछे लौटकर देखो। वे चालीस साल अब क्या हैं! जैसे कहीं फिल्म के पर्दे पर कोई कहानी चलते देखी हो। और ज्यादा क्या है! सपना रह गया है एक भीतर, एक याददाश्त रह गयी है, और क्या है? जिस दिन तुम मरोगे, उस दिन क्या होगा तुम्हारे हाथ में संसार के नाम पर? कुछ छोटी सी स्मृतियों की एक पोटली।
इस संसार में बांधने जैसा कुछ भी नहीं है। लेकिन तुम इसे जोर से पकड़े हुए हो। तो यह मत पूछो कि संसार से मुक्ति कैसे हो? यह पूछो कि मैं अपनी पकड़ कैसे ढीली करूं? ये प्रश्न अलग-अलग हैं। और प्रश्न का ठीक-ठीक पूछ लेना, ठीक-ठीक उत्तर को पाने की अनिवार्य शर्त है। यह मत पूछो कि संसार से कैसे मुक्ति हो? यही तो तुम्हारे तथाकथित परंपरागत साधु-संन्यासी पूछ-पूछकर झंझट में पड़ गए हैं। संसार से कैसे मुक्ति हो? तो वे कहते हैं, छोड़ो दुकान, छोड़ो पत्नी, छोड़ो बच्चे। पहले तो माना था कि ये मेरे हैं, अब छोड़ो! मानने में ही भ्रांति थी, तो छोड़ने को क्या है, तुम छोड़ोगे कैसे? पत्नी तुम्हारी है नहीं, तुम छोड़ोगे कैसे? यह छोड़ने का दावा भी उसी भ्रांति पर खड़ा है कि मेरी थी।
मेरे एक मित्र हैं, संन्यासी हो गए--पुराने ढंग के संन्यासी हैं। बार-बार जब भी मिलते हैं, वे कहते हैं कि लाखों पर लात मार दी। तो मैंने उनसे पूछा, वर्षों हो गए छोड़े हुए, लगता है लात ठीक से लगी नहीं; नहीं तो याद

क्यों बाकी है! लग गयी लात, खतम हो गयी। और लाख वगैरह भी नहीं थे, मैंने उनसे कहा, क्योंकि तुम मुझसे ही, मेरे ही सामने कहते हो कि लाख थे! मुझे पक्का पता है कि तुम्हारे पोस्ट आफिस की किताब में कितने रुपए जमा थे। वह थोड़े डरे, उनके दो-चार शिष्य भी बैठे हुए थे। कहने लगे, फिर पीछे बात करेंगे। मैंने कहा, पीछे नहीं, अभी ही बात होगी।
लाख-वाख कुछ थे नहीं, होमियोपैथी के डाक्टर थे। अब होमियोपैथी के डाक्टरों के पास कहीं लाख होते हैं, लाख ही हों तो होमियोपैथी की कोई डाक्टरी करता है! मैंने कहा, मक्खी उड़ाते थे बैठकर दवाखाने में, कभी मरीज तो मैंने देखे नहीं, हमीं लोग गपशप करने आते थे, तो बस वही थे जो कुछ! कितने रुपए थे तुम ठीक-ठीक बोल दो, मुझे मालूम है, मैंने उनसे कहा। और तुम धीरे- धीरे, पहले हजारों कहते थे, फिर अब तुम लाखों कहने लगे कि लाखों पर लात मार दी!
पहली तो बात लाखों थे नहीं। दूसरी बात, यह लात मारने का जो भाव है, इसका मतलब है, अभी भी तुम्हारे मन में मालकियत कायम है। अब भी तुम कहते हो कि मेरे थे, लाखों थे, और देखो मैंने छोड़ दिए। छोड़ना तो उसी का हो सकता है जो मेरा हो। जागने में तो सिर्फ इतना ही होता है कि पता चलता है--मेरा कुछ भी नहीं, छोड़ना क्या है!
इस भेद को ख्याल में ले लेना। जागा हुआ आदमी भागता नहीं, न कुछ छोड़ता है। सिर्फ इतना ही समझ में आ जाता है, मेरा नहीं है। फिर करने को कुछ बचता नहीं, छोड़ने को क्या है! इतना ही समझ में आ गया, पत्नी मेरी नहीं, बेटे मेरे नहीं, सब मान्यता है, ठीक है। इसको कुछ कहने की भी जरूरत नहीं किसी से। इसकी कोई घोषणा करने की भी जरूरत नहीं। इसको कोई छाती पीटकर बताने की भी जरूरत नहीं। यह तो समझ की बात है।
तुम दो और दो पांच जोड़ रहे थे। फिर तुम मुझे मिल गए, मैंने तुमसे कहा
कि सुनो भई, दो और दो पांच नहीं होते, दो और दो चार होते हैं। तुम्हें बात जंची, तो क्या तुम यह कहोगे कि मैंने पुराना हिसाब छोड़ दिया, दो और दो पांच होते हैं, वह मैंने छोड़ दिया? तुम कहोगे कि छोड़ने को तो कुछ था ही नहीं, बात ही गलत थी, बुनियाद ही गलत थी। जब तुम दो और दो पांच कर रहे थे, तब भी पांच थोड़े ही हो रहे थे, सिर्फ तुम कर रहे थे, हो थोड़े ही रहे थे; यथार्थ में तो दो और दो चार ही हैं, चाहे तुम पांच जोड़ो, चाहे सात जोड़ो, तुम्हें जो जोड़ना हो जोड़ते रहो। दो और दो तो चार ही हैं। जिस दिन तुम्हें दिखायी पड़ गया, दो और दो चार हैं, समझ में आ गया, दो और दो चार हो गए--चार थे ही, सिर्फ तुम्हारी भ्रांति मिटी।
तुम्हारा कुछ भी नहीं है। ऐसा जिस दिन समझ में आ जाता है, उस दिन जीवन
का गणित स्पष्ट हो गया--मेरा कुछ भी नहीं है। छोड़ने को कुछ नहीं है, भागने को कहीं नहीं है, भागकर जाओगे कहां? जहां भी जाओगे वहीं संसार है। गुफा में बैठोगे? वहां संसार है।
मैंने सुना, एक आदमी भाग गया था परेशान होकर। संसार में बड़ा उपद्रव है, भाग गया, बैठा जंगल में एक वृक्ष के नीचे ध्यान करता था, एक कौवे ने बीट कर दी! सिर पर बीट गिरी तो बहुत नाराज हुआ, उसने कहा, हद्द हो गयी! हम संसार छोड़कर चले आए, इसी के लिए उपद्रव है, और यहां वृक्ष के नीचे बैठे, कौवे ने बीट कर दी! वह बहुत दुखी हो गया, उसने कहा, इस जीवन में कोई सार नहीं है। वह पास की नदी पर गया, उसने सोचा कि यहीं अर्थी जलाकर मर जाना चाहिए। उसने लकड़ियां इकट्ठी कीं, एक आदमी बैठा देख रहा था, उसने कहा, भई, क्या कर रहे हो? उसने कहा कि मैं लकड़ियां इकट्ठी कर रहा हूं, जीवन असार है, और मैंने मरने की सोच रखी है, अब मैं इस पर बैठकर जलकर मर जाऊंगा। उसने कहा, भई, कहीं और मरो, इधर हमारे मोहल्ले-पड़ोस में बदबू फैलेगी और झंझट खड़ी होगी, तुम कहीं और जाओ जहां मरना हो। उसने कहा, हद्द हो गयी! जीने भी नहीं देते, मरने भी नहीं देते।
तुम जाओगे कहां? जहां भी तुम होओगे, वहां ही संसार है। संसार तो सब तरफ फैला हुआ है। इसलिए कहीं जाने की भी बात नहीं है, सिर्फ भीतर जागने की बात है, फिर तुम जहां हो वहीं मुक्त हो।
तुम कहते हो, "संसार के बंधन बहुत मजबूत हैं।"

बंधन हैं ही नहीं, मजबूत तो होंगे कैसे। मैंने रुपए और तुम्हारे बीच बंधन कभी देखा नहीं, कोई हथकड़ी थोड़े ही डाल रखी है रुपए ने तुम्हें!
एक सूफी फकीर था बायजीद। अपने शिष्यों को लेकर एक गांव से गुजर रहा था। और उसकी आदत थी ऐसी कि कोई अवसर बन जाए, तो वह जल्दी शिष्यों को खड़ा करके उनको कुछ समझा देता था। मौके पर समझा देता था, वैसे कोई उपदेश नहीं देता था।
देखा एक आदमी एक गाय को लिए जा रहा है। रस्सी बांध रखी है गाय के गले में और चला जा रहा है। उसने उस आदमी से कहा, रुक भाई! जरा मेरे शिष्यों को उपदेश देने दे। घेरकर वे खड़े हो गए गाय को और आदमी को। और बायजीद ने अपने शिष्यों से पूछा कि तुम मुझे यह बताओ कि गाय ने आदमी को बांधा है कि आदमी ने गाय को बांधा है? कौन किसका गुलाम है? गाय आदमी से बंधी है कि आदमी गाय से बंधा है? कौन किसका मालिक है?
स्वभावतः, शिष्यों ने कहा, बात जाहिर है कि आदमी मालिक है। और आदमी ने गाय को गुलाम बनाया हुआ है।
तो बायजीद ने कहा कि देखो, मैं यह गाय की रस्सी काट देता हूं--उसने बीच
से रस्सी काट दी, गाय तो भाग खड़ी हुई और वह आदमी गाय के पीछे भागा कि भई, यह किस तरह की गड़बड़ है! तो बायजीद ने कहा, देखते हो, अब कौन किसके पीछे भाग रहा है! अगर यह आदमी मालिक था, तो गाय इसके पीछे जाती, यह मालिक नहीं है। गाय मालिक है और यह आदमी गुलाम है। इस आदमी को भी यही भ्रांति है कि मैं मालिक हूं। मगर अब असलियत खुल गयी, रस्सी काटकर देख ली। गाय तो अपने रास्ते पर चली गयी, गाय लौटकर कभी इस आदमी की तरफ देखेगी ही नहीं। भूल-चूककर इसके पास न आएगी। अब यह आदमी उसके पीछे भाग रहा है।
तुम धन के पीछे भाग रहे हो कि धन तुम्हारे पीछे भाग रहा है? तुम पद के पीछे भाग रहे हो कि पद तुम्हारे पीछे भाग रहा है?
बंधन मजबूत नहीं है, तुम्हारी वासना मजबूत है। बंधन मजबूत नहीं है, तुम्हारा अज्ञान मजबूत है। बंधन मजबूत नहीं है, तुम्हारी तृष्णा मजबूत है। उसी तृष्णा से तुम बंधे हो।
तो बुद्ध ने कहा है, जो तृष्णा से छूट गया, वह संसार से मुक्त हो गया। संसार से मुक्त नहीं होना है, तृष्णा से मुक्त होना है।
एक बड़ी महत्वपूर्ण झेन कथा--
साऊ सिन को समाधि उपलब्ध हो गयी थी। वह अपने गुरु हाऊ नान से मिलने गया। और जैसे ही वह चरणस्पर्श करने को था कि उसके गुरु ने कहा, रुको! रुको! अब तुम मेरे ही कक्ष में आ गए हो। स्टाप, नाव यू हैव कम इनटू माइ रूम। साऊ सिन ने कहा, मगर अगर यह शांति और सरलता ही सत्य-उपलब्धि थी, तो फिर आपने वे सारे व्यर्थ प्रयत्न और प्रयास करने को मुझे क्यों कहा था? हाऊ नान हंसने लगा--गुरु हंसने लगा--उसने कहा, ताकि तुम थक जाओ और प्रयास छोड़ दो। कुछ पाना थोड़े ही है, जो तुम सदा से थे, प्रयास, दौड़ और अशांति के जाते ही वही तुम्हारा शाश्वत रूप प्रगट हो जाता है।
पहली बात, संसार छोड़ना नहीं है। दूसरी बात, कुछ पाना नहीं है। सिर्फ संसार के पीछे तुम्हारे दौड़ने की जो पुरानी आदत, जो आपाधापी है, वह जो तृष्णा का तुमने एक बड़ा धुआं पैदा कर रखा है, वह धुआं भर शांत हो जाए, तुम अचानक पाओगे--तुम मुक्त थे ही, तुम मुक्त हो ही।
मुक्ति तुम्हारा स्वभाव है। मुक्त होना तुम्हारी निजता है, तुम्हारा स्वधर्म है। संसार ने बांधा नहीं है और तुम्हें मुक्त नहीं होना है। यह बड़ी जटिल बात है। तुम मुक्त हो और तुम संसार की तरफ आंखें लगाए बैठे हो और अपनी तरफ देखते नहीं, इसलिए मुक्ति से चूकते चले जा रहे हो।
यह घटना प्यारी है कि जब शिष्य समाधि को उपलब्ध हो गया और गुरु के चरण छूने को झुका, तो गुरु ने कहा, रुक! रुक! अब तो तू मेरे ही कक्ष में आ गया, अब तो तू मेरे ही जैसा हो गया, अब पैर छूने की कोई जरूरत नहीं। शिष्य बहुत हैरान हुआ, क्योंकि उसे तो पता ही नहीं है कि समाधि लग गयी है। उसे तो इतना ही पता है कि चित्त शांत हो गया, उसे तो इतना ही पता है कि चित्त निर्मल हो गया, उसे तो इतना ही पता है कि एक मौन घना हो गया, लेकिन वह कैसे कहे कि

समाधि लग गयी! उसे पहले तो समाधि लगी नहीं थी कभी, इसलिए पहचाने कैसे? प्रत्यभिज्ञा कैसे हो?
तो उसने कहा, अगर यही समाधि है, अगर यही मुक्ति है कि मैं तुम्हारे जैसा हो गया, कि मुझे भी निर्वाण उपलब्ध हो गया, तो पहले क्यों न कहा? क्योंकि मुझे तो कोई नयी बात नहीं हुई, थोड़ी अशांति जरूर चली गयी, तरंगें थोड़ी शांत हो गयीं, लेकिन मैं तो वही का वही हूं; झील अब पुरानी जैसी तरंगित नहीं है, मौन है, मगर हूं तो मैं वही का वही, नया कुछ भी नहीं हुआ है। माना कि सरल हो गया, थोड़ा निर्दोष हो गया, लेकिन कोई ऐसी बड़ी बात नहीं घटी कि कुछ नया हो गया हो! ऐसा ही समझो कि थोड़ी अशुद्धि थी, थोड़ी धूल जम गयी थी दर्पण पर, धूल हट गयी। क्या यही है निर्वाण? यही है मुक्ति? तो फिर मुझे इतने उपाय और इतने प्रयास और इतनी साधनाएं करने को क्यों कहा था? गुरु हंसने लगा। गुरु ने कहा, इसलिए ही कहा था कि तुम थक जाओ। तुम्हें खूब दौड़ाया, ताकि तुम थककर बैठ जाओ।
सारा योगशास्त्र सिर्फ इसीलिए है कि तुम थक जाओ। संसार तुम्हें नहीं थका पाया। अगर समझदार होते तो संसार ही काफी था। संसार नहीं थका पाया तो फिर पतंजलि की, बुद्ध की, महावीर की जरूरत है। अगर जरा भी समझदार होते तो संसार ने ही काफी थका दिया है, तुम रुक जाते, तुम बैठ जाते। तुम कहते, बहुत हो गया, अब यहां कुछ पाने को नहीं है, कुछ खोजने को नहीं है, कुछ छोड़ने को नहीं है, तुमने आंख बंद कर ली होतीं। आंख बंद करते ही तुम पाते कि तुम तो वहां विराजमान ही हो। जिसकी तुम खोज करते थे, तुम वहां बैठे ही हो।
एक और झेन-कथा। झेन-कथाएं बुद्ध धर्म की ही शाखाएं हैं, बुद्ध की ही प्रशाखाएं हैं।
एक नया भिक्षु आया था। सदगुरु हुई ची ने उससे पूछा, तुम्हारा नाम क्या
है बंधु? उस भिक्षु ने कहा, लिंग तुंग। लिंग तुंग का अर्थ होता है, आध्यात्मिक व्याप्ति या सर्वव्यापक आत्मा। इसको आधार बनाकर हुई ची ने एक बढ़िया प्रश्न उठाया। अतिथि भिक्षु से उन्होंने कहा, यह लालटेन देख रहे, लिंग तुंग, सर्वव्यापक आत्मा, यह लालटेन देख रहे? लालटेन जलती थी। अब कृपा करके लिंग तुंग महोदय इसमें प्रवेश कर जावें, क्योंकि आप तो सर्वव्यापी हैं।
झेन फकीर ऐसे प्रश्न उठा देते हैं। बड़े बहुमूल्य प्रश्न हैं, समझ में
आ जाएं तो। न समझ में आएं तो बड़े बेबूझ हैं, पागलपन के मालूम पड़ते हैं। अब यह भी कोई बात हुई। उस आदमी ने कहा, लिंग तुंग मेरा नाम है--सर्वव्यापक आत्मा--और यह हुई ची ने एक सवाल उठा दिया कि तब बिल्कुल ठीक, मान लिया कि आप लिंग तुंग हैं, सर्वव्यापी हैं, जरा इस लालटेन में प्रवेश कर जाइए। रात्रि थी और कमरे में लालटेन जल रही थी, हुई ची ने खूब अदभुत प्रश्न पूछा। लेकिन जो उत्तर मिला उस अतिथि भिक्षु से, वह और भी अदभुत था। लिंग तुंग ने कहा, मैं तो पूर्व से ही वहां बैठा हुआ हूं। आई एम आलरेडी इनसाइड इट। सर्वव्यापक का मतलब ही यह होता है कि जो सब जगह मौजूद है, अब इसमें और कैसे घुस जाऊं? बैठा ही हुआ हूं, पहले ही से यहां मौजूद हूं!
मोक्ष तुम्हारा स्वभाव है, पहले से ही घट गया है। घटा ही हुआ है। परमात्मा तुम्हारे भीतर मौजूद है। परमात्मा को पाना नहीं है, संसार को छोड़ना नहीं है। यह अदभुत बात ख्याल में रखना। तुमसे सदा यही कहा गया है, संसार को छोड़ना है और परमात्मा को पाना है। मैं तुमसे कहता हूं, परमात्मा को पाना नहीं है और संसार को छोड़ना नहीं है। क्योंकि संसार में कुछ छोड़ने जैसा है नहीं, छूटा ही हुआ है। और परमात्मा तुम्हारे भीतर बैठा ही हुआ है, पाओगे क्या! जागना है, बस जागना है। होश सम्हालना है।

चौथा प्रश्नः कल आपने न्याय और करुणा की चर्चा की और कहा कि प्रज्ञावान पुरुष ही न्याय के साथ करुणा भी कर सकता है। क्या न्याय और करुणा का समन्वय संभव है?

तर्क के आधार पर तो नहीं। तर्क के तल पर तो नहीं। न्याय और करुणा का समन्वय तर्क के हिसाब से नहीं हो सकता, क्योंकि वे दो अलग तलों की बातें हैं।
समझो। न्याय का अर्थ ही यह होता है कि जो उचित हो, वही हो। न्याय में करुणा समाविष्ट नहीं है। न्याय का तो इतना ही अर्थ है, जो नियम उपयुक्त हो, वही हो। करुणा में हृदय है, न्याय में सिर्फ बुद्धि है। करुणा बड़ी बात है। करुणा का अर्थ है, जो होना चाहिए वही हो। नियम की बात नहीं है, नियम से बड़ी बात है।
जैसे समझो, तुम अदालत में गए, तुमने चोरी की है, तो न्यायाधीश देखता है अपनी किताबों में, उलटता-पलटता है, कानून खोजता है, तुमने पचास रुपए की चोरी की, दंड खोजता है, दंड किताब में लिखा है, हिसाब से तुम्हें दंड दे देता है। तुमसे दूर रहता है, तुमसे कोई मानवीय संबंध नहीं जोड़ता। यह नहीं सोचता कि तुम्हारे भीतर भी मनुष्य का धड़कता हुआ हृदय है। यह नहीं सोचता कि तुम्हारी पत्नी है, तुम्हारे बच्चे हैं; यह नहीं सोचता कि तुम भूखे रहे होओगे, शायद तुमने चोरी कर ली, शायद चोरी करनी पड़ी; शायद मजबूरी थी, शायद न्यायाधीश भी तुम्हारी स्थिति में होता तो चोरी करता, शायद कोई भी तुम्हारी स्थिति में होता तो चोरी करता, यह नहीं सोचता, ये बातें विचार में नहीं लाता। वह तो सिर्फ देखता है, तुमने चोरी की, चोरी का यह दंड है। वह बिल्कुल अमानवीय ढंग से, यंत्रवत निर्णय देता है। तो न्याय तो हो गया, लेकिन करुणा न हुई। करुणा जरा बड़ी बात है।
मैंने सुना है, एक चीनी फकीर न्यायाधीश था--फकीर होने के पहले। मगर फकीरी की कुछ धुन तो रही होगी तब भी। जब वह न्यायाधीश हुआ और उसके सामने पहला मुकदमा आया--बस पहला ही मुकदमा आया, दूसरा तो आने का मौका ही न रहा, क्योंकि सम्राट ने उसे निकाल बाहर कर दिया।
उसके सामने पहला मुकदमा आया--एक गरीब आदमी ने एक अमीर आदमी की चोरी कर
ली थी। कोई बड़ी चोरी भी न थी, होगी कोई दो-चार सौ रुपए की। कानून था कि उसे छह महीने की सजा होनी चाहिए। उसने कहा कि ठीक है, छह महीने की सजा इस आदमी को जिसने चोरी की और छह महीने की सजा इस आदमी को जिसकी चोरी की। वह अमीर तो हंसने लगा, उसने कहा, आपका दिमाग ठीक है? एक तो मेरी चोरी हुई और छह महीने की सजा भी! आप कह क्या रहे हैं, होश में हैं? उसने कहा, मैं होश में हूं। और छह महीने की सजा कम है, यह भी मुझे पता है। तुम्हें सजा मिलनी चाहिए कम से कम छह साल की।
बात सम्राट तक पहुंची। पहुंचनी ही थी, अमीर ने तो बड़ा गुहार मचाया, उसने कहा, यह किस तरह का न्याय है! सम्राट भी हैरान हुआ कि यह किस तरह का न्याय है! फकीर को बुलाया और कहा कि यह किस तरह का न्याय है?
उसने कहा, यह न्याय है। ठीक तो नहीं है, क्योंकि छह महीने की सजा कम है। इस आदमी ने सारे गांव का धन इकट्ठा कर लिया है, अब चोरी न होगी तो क्या होगा! यह आदमी चोर से भी पहले चोरी के लिए जिम्मेवार है। चोर तो नंबर दो का जुर्मी है, यह नंबर एक का जुर्मी है। इसने सारा धन इकट्ठा कर लिया गांव का। पूरा गांव भूखा मर रहा है और सब इसके पास है।
सम्राट ने कहा, बात तो ठीक है, लेकिन खतरनाक है। इसका तो मतलब हुआ कि मैं भी, कल नहीं परसों, तुम्हारी अदालत में फंस जाऊंगा। तुम छुट्टी लो, तुम विदा हो जाओ।
इसमें करुणा है। एक महत्वपूर्ण सत्य यह फकीर सामने ले आया। इसने हार्दिक ढंग से सोचा।
न्याय में और करुणा में समन्वय तो नहीं हो सकता, क्योंकि न्याय बहुत नीचे तल की बात है, करुणा बहुत ऊपर तल की बात है, लेकिन न्याय की परिपूर्णता करुणा में है। न्याय वह, जो आवश्यक है; करुणा वह, जो होनी चाहिए। न्याय, बस अनिवार्य है; करुणा, न्याय की परिपूर्णता है। करुणा में न्याय अपनी प्रखर ज्योति को उपलब्ध होता है।
इसे ऐसा समझो, कठोरता से अन्याय पैदा होता है। तो कठोरता में बीज है अन्याय का। कठोर आदमी अन्यायी हो ही जाएगा। कठोरता में बीज है, अन्याय के फल लगेंगे। फिर न्याय में बीज छिपा है करुणा का। न्यायी आदमी एक न एक दिन

करुणावान हो ही जाएगा--हो ही जाना चाहिए, नहीं तो बीज बीज रह गया, वृक्ष न बन पाया। बीज और वृक्ष में कोई समन्वय नहीं है, क्योंकि बीज एक तल की बात है, वृक्ष बिल्कुल दूसरे तल की बात है। बीज अनभिव्यक्त और वृक्ष अभिव्यक्त। दोनों में बड़ा फर्क है।
तुम्हारे सामने कोई बीज रख दे एक--और सामने ही यह गुलमोहर का फूलों से लदा हुआ वृक्ष है, और गुलमोहर का बीज तुम्हारे सामने रख दे और तुमसे कहे कि इस बीज में और इस वृक्ष में क्या संबंध है? कोई संबंध नहीं दिखायी पड़ता। बीज में एक भी फूल नहीं खिला है, और यह गुलमोहर दुल्हन की तरह सजा है। और बीज जरा सा, काला-कलूटा! कुछ दिखता नहीं इसमें, इसमें से कुछ हो भी सकता है इसकी भी संभावना नहीं मालूम पड़ती, कंकड़-पत्थर जैसा मालूम पड़ता है। लेकिन यह वृक्ष उसी से हुआ है। बीज और वृक्ष में एक यात्रा है।
न्याय बीज है, करुणा उस बीज का पूरा का पूरा प्रस्फुटित हो जाना है, पूरा प्रफुल्ल हो जाना है, पूरा खिल जाना है।
दुनिया में अन्याय है, अभी तो न्याय ही नहीं, इसलिए करुणा की तो बात ही करनी असंभव है। दुनिया की हालत अन्याय की है, अभी तो न्याय ही हो जाए तो बहुत। लेकिन जब न्याय होने लगेगा तो तत्क्षण हमें करुणा की बात सोचनी पड़ेगी। करुणा मनुष्य-जीवन का अंतिम लक्ष्य है। वहां तक पहुंचना ही चाहिए। उस ऊंचाई तक जब तक हम न पहुंचें, हमारे जीवन में फूल नहीं लगते हैं, कमल नहीं खिलते।
करुणा में न्याय समाविष्ट है। लेकिन न्याय में करुणा अनिवार्य रूप से समाविष्ट नहीं है। न्याय तो शुरुआत है, न्याय तो अन्याय से छुटकारे का उपाय है। फिर जब अन्याय से कोई छूट जाए, तो उतने से ही राजी मत हो जाना। इसको ऐसा समझो। एक आदमी बीमार है। इस बीमार आदमी की बीमारी अलग हो जाए, इतना ही काफी नहीं है। स्वास्थ्य का आविर्भाव भी होना चाहिए। सिर्फ बीमारी का अलग हो जाना स्वस्थ हो जाना नहीं है। स्वास्थ्य की एक विधायकता है। स्वास्थ्य का एक झरना है, जो भीतर बहना चाहिए।
तुम्हें भी पता होगा। कई बार तुम कह सकते हो कि मैं बीमार नहीं हूं, लेकिन स्वस्थ हूं, यह भी नहीं कह सकता। कई बार तुम कह सकते हो, मैं दुखी नहीं हूं, लेकिन आनंदित हूं, यह भी नहीं कह सकता। वह कौन सी घड़ी होती है जब तुम कहते हो कि मैं दुखी नहीं हूं, और आनंदित हूं, यह भी नहीं कह सकता?
दुख तो नहीं है, दुख तो नहीं होना चाहिए, लेकिन यही थोड़े ही काफी है। दुनिया में इतना ही थोड़े काफी है कि लोग दुखी न हों। दुनिया में इतना पर्याप्त नहीं है। यह तो होना ही चाहिए कि लोग दुखी न हों, यह शर्त तो पूरी होनी ही चाहिए, लेकिन फिर एक और बड़ी शर्त है कि सुखी भी हों। सुख और बड़ी शर्त है। उसके लिए दुख का मिट जाना रास्ता बनेगा।
करुणा के लिए न्याय रास्ता बनाता है। वह न्याय के द्वारा करुणा के आगमन की संभावना खुल जाती है। अन्यायी आदमी तो कभी करुणावान नहीं हो सकता। न्यायी आदमी कभी हो सकता है। लेकिन न्याय पर ही रुक नहीं जाना है। यह मत सोचना कि बस मंजिल आ गयी।
बुद्ध ने कहा है, करुणा परम मंजिल है। जब तक जीवन में सतत करुणा प्रवाहित न होने लगे, तब तक समझना, अभी कहीं कुछ कमी है। तब तक समझना, अभी कहीं कुछ कठोर है। तब तक समझना, कहीं कुछ अवरोध है।

पांचवां प्रश्नः मेरे पति को तमाखू खाने की आदत है। वे उसे कैसे छोड़ें?

पूछा है गीता ने।
पहली तो बात, किसी दूसरे की आदतें छुड़ाना कोई सज्जनता नहीं। दूसरे को समझने दो। तुम्हारे पति में बुद्धि है, इतना तो मानो। पूछना हो तो पति को पूछने दो।
दूसरे को बदलने की चेष्टा में थोड़ी कठोरता है। दूसरे को बदलने की चेष्टा में थोड़ी तरकीब है, थोड़ी राजनीति है। दूसरे को बदलने के आधार पर हम दूसरे पर मालकियत करना शुरू कर देते हैं।

तो पहली तो बात, दूसरे को बदलने की कोशिश कोई अच्छे आदमी का लक्षण नहीं है। इसलिए तुम्हारे महात्माओं को मैं कोई अच्छे आदमी नहीं कहता। तुम्हारे महात्मा आमतौर से दुष्ट प्रकृति के लोग होते हैं, जिन्होंने तरकीबें खोज ली हैं दूसरों को सताने की--छोटी-छोटी तरकीबें, निर्दोष बातें।
अब कोई आदमी तमाखू खा रहा है, इसके कारण उसको नरक भेजने का उपाय करने वाले लोग बैठे हैं। कुछ तो--करुणा न करो, कम से कम न्याय तो करो! एक आदमी ने तमाखू खा ली, उनको नरक भेज दिया। इसका मतलब तरु नरक जाएगी! तमाखू खाने से कोई नरक नहीं जाता।
और अक्सर ऐसा होता है कि तमाखू नहीं खायी तुमने और बड़े अकड़ गए कि देखो, मैं तमाखू नहीं खाता, तो शायद नरक चले जाओ। क्योंकि अकड़ नरक ले जाती है। तमाखू खाने वाला तो थोड़ा-थोड़ा झुका रहता है कि तमाखू खाते हैं, क्या करें! ज्यादा अकड़कर चल भी नहीं सकते, पता है कि तमाखू खाते हैं, कि सिगरेट पीते हैं, कि चाय पीते हैं, कि काफी में भी लगाव है, कि कभी-कभी कोकाकोला में भी रस आ जाता है। तो वह तो जरा झुका-झुका चलता है, वह तो विनम्र होता है, वह कहता है, अब हम तो अधार्मिक आदमी! जो कोकाकोला नहीं पीता, तमाखू नहीं खाता, सिगरेट नहीं पीता, पान नहीं खाता, उसकी अकड़!
मगर जरा देखो भी तो, अकड़ में है क्या! पान नहीं खाया, यह अकड़ है; तमाखू नहीं खायी, यह अकड़ है। अरे, अकड़ना ही था तो कुछ तो मतलब की बात चुनते! कुछ तो सोचकर चुनते! यह कोई गुण है!
दूसरे को बदलने की चेष्टा एक साजिश है। इसके माध्यम से तुम अपने को ऊपर मान लेते हो, दूसरे को नीचे मान लेते हो। और छोटी-छोटी बातें खोजकर, छोटे-छोटे निमित्त निकालकर तुम दूसरे को क्षुद्र बताने लगते हो।
अब यह गीता पूछती है कि "मेरे पति को तमाखू खाने की आदत है, वे उसे कैसे छोड़ें?"
अब यह समझ रही है कि पति कोई बड़ा भारी अपराध कर रहे हैं। और निश्चित ही इसकी नजर में यह होगा कि मैं कुछ ऊंची हूं, साध्वी हूं--तमाखू नहीं खाती। तुम्हें पता है, हिटलर तमाखू नहीं खाता था, सिगरेट नहीं पीता था, मांसाहार नहीं करता था--पक्का जैनी था--शराब नहीं पीता था, और भले आदमी में क्या चाहिए! तुम सोचते हो कि हिटलर स्वर्ग में गया है? अगर हिटलर स्वर्ग में गया है, तो फिर कोई भला आदमी स्वर्ग जाना पसंद न करेगा। और क्या कमी होती है आदमी में? ब्रह्ममुहूर्त में उठता था। सब तरह सच्चरित्र था। लेकिन यह सच्चरित्रता बड़ी कठोर साबित हुई।
तो पहली तो बात, दूसरे को बदलने की इस तरह चेष्टा मत करना। यह नियत ही खराब है। और फिर दूसरा जब तुम्हारा पति हो, तब तो थोड़ी और दया चाहिए। पति को तो बदलने की चेष्टा करना ही मत, पत्नी को बदलने की चेष्टा करना ही मत। क्योंकि जहां प्रेम का संबंध हो, वहां बदलने की चेष्टा, प्रेम को बहुत बड़ा व्याघात बन जाती है। प्रेम का संबंध मैत्री का संबंध है, यह तो दुश्मनी शुरू हो गयी।
और मैं देखता हूं, अक्सर स्त्रियां इस कोशिश में लगी रहती हैं। उसके पीछे कारण है, जिम्मेवारी पुरुष की भी है। उसके पीछे कारण है। पुरुष ने सब तरह से स्त्री को दबा रखा है। धन उसके हाथ में नहीं है, पद उसके हाथ में नहीं है, प्रतिष्ठा उसके हाथ में नहीं है--उसको सब तरह से दासी बना रखा है। उसकी हालत नौकरानी की कर रखी है। स्वभावतः, स्त्री इससे बदला लेगी। कोई रास्ता निकालती बदला लेने का। उसको कोई सूक्ष्म रास्ता खोजना पड़ता है। वह कहती है, सिगरेट मत पीओ। यह देखकर मुझे एकदम घृणा होती है, मुझे बास आती है। तमाखू मत खाओ। वह कुछ ऐसी तरकीबें खोजती है, जिनको तुम यह भी नहीं कह सकते कि गलत कह रही है--गलत कह भी नहीं रही है।
कमजोर हमेशा ऐसी तरकीब खोजता है जो ठीक मालूम पड़े। क्योंकि कमजोर है,
तो कमजोर को ऐसी राजनीति करनी पड़ती है कि ठीक भी मालूम पड़े, तुम उसको इनकार भी न कर सको। अब क्या कहोगे तुम! पत्नी बुरा तो नहीं कहती। वह कहती है, फेफड़े खराब हो जाएंगे, सिगरेट पीओगे टी.बी. हो जाएगी। तो तुम्हारे हित में ही कह रही है। कमजोर हमेशा तुम्हारे हित में ही तुमको सताने के उपाय खोजता

है। और गलत तो वह कह ही नहीं रही है, इसलिए तुम विवाद तो कर ही नहीं सकते। तो पति घरों में डरते हुए घुसते हैं। घर से भय लगने लगता है।
मुल्ला नसरुद्दीन एक दिन शराबखाने में बैठा था। उसके पास एक और आदमी बैठा था, दोनों गपशप कर रहे थे। मुल्ला नसरुद्दीन ने उससे पूछा कि तुम्हारा विवाह हुए कितने दिन हुए? उसने कहा, विवाह! हुआ ही नहीं! मुल्ला ने कहा, बड़ी हैरानी, तो फिर यहां क्या कर रहे हो? उसने कहा, मतलब? उसने कहा कि हम तो पत्नी से बचने के लिए यहां आते हैं, मगर तुम यहां क्या कर रहे हो? इसीलिए मैंने पूछा। यह तो मैंने मान ही लिया कि विवाह हो गया होगा, नहीं तो यहां क्या कर रहे हो?
पति घबड़ाते हैं घर आने से। घर तो एक ऐसा लगता है, जैसे छोटे बच्चों को स्कूल, ऐसा पतियों को घर स्कूल--पाठशाला। जहां हर तरह का शिक्षण दिया जाएगा कि जूते कहां उतारो, कपड़े कहां डालो, सिगरेट मत पीओ, रेडियो इतने जोर से मत बजाओ--हजार शिक्षण दिए जाएंगे। धीरे-धीरे पत्नी जो है वह शिक्षिका हो जाती है और अपने हाथ से अपने प्रेम के तंतुओं को तोड़ डालती है।
प्रेम के तंतु बहुत कोमल हैं। यह शिक्षक होने का, यह गुरु होने का जो उपाय है, यह घातक हो जाता है। लेकिन पत्नी के पास इसके सिवाय कोई उपाय नहीं रहा है कि वह कैसे अपने अहंकार को स्थापित करे। पत्रों में तो वह लिखती है जब भी कि प्रियतम, आपकी दासी, इत्यादि। मगर वह तो पत्रों की बात है, पत्रों पर जाना ही मत। पत्रों में तो लोग लिखते ही वे बातें हैं जो होती नहीं। पत्रों में तो वह लिखते हैं जो होना चाहिए था और हो नहीं रहा है। लेकिन बदला लेती है। बदला लेगी ही। तुमने सब तरह से स्त्री को परेशान कर रखा है। तुमने स्त्री को आत्मा तक देने का बड़े मुश्किल से तय किया।
मैंने सुना है, छठवीं शताब्दी में ईसाइयों की एक बड़ी कैथोलिक कांफ्रेंस हुई, जिसमें उन्होंने यह विचार किया कि स्त्री में आत्मा होती है या नहीं? वह तो संयोग की बात कहो--वोटिंग हुई इस पर, मत पड़ा; अब स्त्री की आत्मा होती कि नहीं इस पर वोट पड़ा--और एक वोट से जीत गयीं स्त्रियां, नहीं तो उनमें आत्मा नहीं मानी जाती। एक वोट से! यह कोई जीत हुई! पचास खिलाफ पड़ीं, इक्यावन पक्ष में पड़ीं समझो, कि स्त्री में आत्मा होती है। एक वोट के आधार पर आत्मा है स्त्री में।
और पूरब के देशों ने तो इतना भी फिकर नहीं किया, वे तो स्त्री को कहते
ही हैं--स्त्री-धन। संपत्ति! जर, जोरू, जमीन। वहां जोड़ते हैं। संपत्ति है। चीन में तो अपनी पत्नी को मार डालने पर कोई कानून नहीं लगता था। अपनी पत्नी है, मार डाला, किसी को क्या? थोड़े दूर तक यह नियम अभी भी चलता है। मैं रायपुर में रहता था। एक रात--आधी रात--मैंने पड़ोसी को देखा, वह अपनी पत्नी को मार रहा है। तो मैं अंदर चला गया, मैंने कहा, यह क्या कर रहे हो? उसने कहा कि आप यहां क्यों आए? वह मेरी पत्नी है! मैंने कहा, तुम्हारी पत्नी है, मैं कुछ कहता भी नहीं। तुम प्रेम करो तो मुझे कोई एतराज भी नहीं। अगर तुम प्रेम करो और मैं आऊं तो एतराज हो सकता है, लेकिन तुम उसके सिर में मार दिए, खून बह रहा है! लेकिन उसकी बात तो ठीक है, वह कह रहा है, वह मेरी पत्नी है, आप बीच में कौन हैं बोलने वाले? वही पुरानी दलील है, पुराना तर्क है कि मेरी पत्नी है, मैं मार डालूं!
अदालतों में मुकदमा नहीं चलता था चीन में अपनी पत्नी को मार डालने से। इस देश में भी हालत बड़ी बुरी रही है।
स्वभावतः, स्त्रियों ने सूक्ष्म रास्ते निकाल लिए बदला लेने के। तो आदमी में कमजोरियां पकड़ती हैं। अब कमजोरियां सभी में होती हैं। ऐसा आदमी पाना मुश्किल है जिसमें कमजोरी न हो। क्योंकि जिसमें कमजोरी नहीं होती, वह फिर पैदा नहीं होता। वह तो गया मोक्ष। वह तो आएगा कैसे? न सिगरेट पीता, न तमाखू खाता, न जुआ खेलता, न ताश खेलता, न अखबार पढ़ता, वह तो गया मोक्ष! यहां तो जो आता है, उसमें कमी तो होगी ही। इसलिए बड़ी होशियार तरकीब है। तुम ऐसा पति पा सकते हो जिसमें कोई कमी न हो?
मैंने सुना, मुल्ला नसरुद्दीन एक स्त्री के प्रेम में था। जब भी मुझे मिलता तो वह कहता कि बड़ी गजब की स्त्री है, देवी है देवी! बिल्कुल संतोषी मां का अवतार है!

उसने मेरी शराब छुड़ा दी, एक दिन मुझसे बोला। अभी विवाह नहीं हुआ है और उसने उनकी शराब छुड़ा दी। कुछ दिन बाद मिला, मैंने पूछा कि क्या कर रही है? देवी अब क्या कर रही है? उन्होंने कहा, उसने मेरा मांसाहार छुड़ा दिया, बड़ी अदभुत महिला है! फिर एक दिन मिला तो कहा कि मेरा जुआ भी छुड़ा दिया। वह मुझे बदले डाल रही है, मेरा सारा जीवन रूपांतरित कर दिया। फिर एक दिन मिला, कहा, मेरी सिगरेट भी छुड़ा दी, मेरे पान भी छुड़ा दिए। फिर एक दिन मिला, मैंने पूछा कि अब यह तो ठीक हो रहा है छुड़ाने का काम, विवाह कब करोगे? उसने कहा, अब मैं उससे विवाह करने वाला नहीं। अब मेरा चरित्र इतना बेहतर है कि उससे बेहतर स्त्री मिल सकती है।
मतलब समझे?
अब यह गीता कहती है, मेरे पति को तमाखू खाना छुड़ा दो। फिर मुझसे मत कहना! अब यह तमाखू खाना छोड़ दें, चरित्रवान हो जाएं, बेहतर पत्नी मिल सकती है, फिर?
जैसे हैं, स्वीकार करो। ऐसे भले हैं। तमाखू न खाते होते तो तुमको चुनते कैसे! जैसे हैं, उसी कारण तो तुम्हें चुना है।
अक्सर ऐसा होता है कि तुम इतना ज्यादा सुधार कर दो कि वह बिल्कुल साधु
हो जाएं। फिर साधु हो जाएं तो वह चले! फिर पछताओगी, फिर कहोगी कि भगवान, कोई तरह इनको तमाखू खिलाना शुरू करवा दें। अब यह घर ही से चले! क्योंकि जो आदमी तमाखू की आदत छोड़ सकता है, वह पत्नी की आदत भी छोड़ सकता है। पत्नी भी एक आदत है, और पति भी एक आदत है। ये सब आदतें हैं।
ख्याल रखना, यह मानवीय नहीं है। ऐसा प्रश्न उठाना अशिष्ट है। तुमने जिस व्यक्ति को प्रेम किया है, वह जैसा है उसको प्रेम किया है, उसमें उसकी तमाखू खाने की आदत भी सम्मिलित है। और ख्याल रहे कि मैं यह नहीं कह रहा हूं कि वह तमाखू खाते रहें। पहली तो बात मैं यह कह रहा हूं कि यह पत्नी को यह बात नहीं उठानी चाहिए, यह अशोभन है।
अगर सच में तुम्हें पति से प्रेम है, तो मुझे लगता है, धीरे-धीरे आदत अपने आप छूट जाएगी, तुम्हारे कहने की जरूरत नहीं है। क्योंकि आदमी तमाखू खाता, सिगरेट पीता, इसके कारण हैं। जो आदमी सिगरेट पीता है, वह तनाव के कारण पीता है; तमाखू खाता है, तनाव के कारण खाता है। कुछ चबाता है। नहीं तो उसकी चिंता उसको चबाती है। यह तरकीब है।
तुम मनोवैज्ञानिक से पूछो, तो वह कहेगा, जो आदमी सिगरेट पीता है, वह बहुत तनाव से भरा है। कुछ करता है, रेस्टलेसनेस है। सिगरेट पी लेता है, धुआं भीतर ले गया, बाहर ले गया--थोड़ा प्राणायाम हो गया--थोड़ी सी बेचैनी कम हो गयी। कुछ कर गुजरे।
तुमने यह ख्याल किया, अगर तुम सिगरेट पीते हो, तो जब तुम पर तनाव के दिन होते हैं तब तुम ज्यादा पीते हो; जब तनाव के दिन नहीं होते तो तुम कम पीते हो। कभी-कभी ऐसा भी हो जाता है, अगर तुम खुश हो, तो पीते ही नहीं; दिन निकल जाता है, याद भी नहीं आती। जितनी चिंता होती है, उतना ही ज्यादा पी लेते हो। तमाखू भी जिस दिन चिंता पकड़ती है, ज्यादा खा लोगे। कुछ चबाने को मुंह में पड़ा रहे, तो तुम्हारा चित्त थोड़ा बंटा रहे।
अब यह गीता के पति तमाखू खाते हैं। जरूर चिंता होगी। तमाखू की फिकर मत करो, तमाखू तो मूल नहीं है, चिंता होगी कुछ। इनको इतना प्रेम दो, इनके जीवन के आसपास इतना नृत्य और संगीत बसाओ कि चिंता कम हो जाए। चिंता कम हो जाए तो तमाखू खाना अपने आप बंद हो जाएगा। और न भी हो, तो तमाखू ही खाते हैं, कोई और बड़ी, कोई बड़ा भारी उपद्रव नहीं कर रहे हैं। चलेगा। इतनी कुछ बेचैनी की बात नहीं है। दो कौड़ी की बातें हैं। दो कौड़ियों की बातों पर बहुत बल मत लगाओ। नहीं तो अक्सर होता है कि छोटी बातों पर बड़ी चीज चूक जाती है।
मैं देखता हूं, पति-पत्नियों में बहुत छोटे-छोटे झगड़े हैं, और सारा जीवन नष्ट हो गया! उन्हीं छोटे-छोटे झगड़ों में। कुछ बड़ी बात भी न थी। अगर उनसे पूछो कि क्या झगड़े का कारण है? तो वे भी संकोच करते हैं, कहते हैं कि यह तो कुछ खास बड़ी बात... । जब बड़ी बात नहीं है तो तुम जिंदगीभर लड़ते कैसे रहे?

अब तमाखू कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। कोई हत्या तो नहीं करते किसी की, कोई जुआ नहीं खेलते, कोई शराब नहीं पी रहे हैं, कोई ऐसा कोई बड़ा भारी काम नहीं है, तमाखू चबा रहे हैं। चिंता होगी। चिंता पर थोड़ा फिकर करो। अगर पत्नी में थोड़ी समझ हो तो वह फिकर करेगी कि पति चिंतित हुए, यह तमाखू का चबाना सिर्फ खबर दे रहा है। अब तुम अगर इनके पीछे पड़ गए कि तमाखू छोड़ो, यह और चबाने लगेंगे, क्योंकि तुम चिंता इनकी बढ़ा रहे। कम नहीं कर रहे। इनकी चिंता और बढ़ी कि अब यह और एक मुसीबत आ गयी कि अब तमाखू छोड़ो। यही तो एक सहारा था इनका। मूढ़तापूर्ण सहारा है, कोई बड़ी बुद्धिमत्ता की बात नहीं है तमाखू खाना, मगर यह इन्हीं को समझने दो। यह बोध इन्हीं को आने दो।
सदा ध्यान रखो, दूसरे व्यक्ति के जीवन में बहुत हस्तक्षेप करना सदव्यवहार नहीं है। और उन लोगों के जीवन में हस्तक्षेप करना जो तुम्हारे प्रेमपात्र हैं, एकदम गलत है। उनको स्वतंत्रता दो। उनको स्वयं होने का हक दो। और तुम्हारे और तुम्हारे पति के बीच ऐसा कोई तनाव न बने, किसी छोटी बात का तनाव न बने, तो तुम्हारे द्वार खुले रहेंगे। प्रेम बढ़ेगा, प्रेम सघन होगा, तुम दोनों एक-दूसरे के प्रति आनंदभाव से मग्न होओगे, तो शायद तमाखू छूट जाएगी। छूट जानी चाहिए। और अगर न छूटे तो कुछ परेशान होने का कारण नहीं है। मेरी दृष्टि को समझना!
फिर दूसरी बात मैं कहना चाहूंगा, यह तुम्हारे पति को पता चलना चाहिए
कि उसकी तकलीफ क्या है, वह मुझसे पूछे। उसके पास जबान है, उसके पास बुद्धि है। उसे पूछने दो। प्रत्येक को मुझसे सीधा जुड़ने दो, बीच के मध्यस्थ कोई न बनें।
अगर शरमाता है पूछने में, तो छोड़ो। जब उसकी शरम मिटेगी, पूछेगा। यहां मेरे होने का उपयोग ही यही है कि तुम अपने जीवन की समस्याओं को मुझसे सीधा- सीधा रख लो, शायद मैं कुछ सलाह दूं, वह काम पड़ जाए।
और ध्यान रखना, मैं सिर्फ सलाह देता हूं, मैं आदेश नहीं देता। मैं ऐसा नहीं कहता कि ऐसा करो ही। और मैं ऐसा भी नहीं कहता कि ऐसा न किया तो कोई बहुत बड़ी दुर्घटना हो जाने वाली है। कुछ नहीं हो जाने वाला है। आदमी के पाप इतने साधारण हैं कि नरक की तो तुम फिकर छोड़ दो, नरक तो तुम जाने वाले नहीं। क्योंकि मैं मानता हूं कि परमात्मा, अस्तित्व की करुणा इतनी अपार है कि तुमने छोटे-मोटे उपद्रव किए, कोई आदमी ताश खेलकर पैसा दांव पर लगा दिया--नरक में पड़े हैं! तुमने कुछ ऐसा किया नहीं खास। तुम्हारे जीवन के छोटे-मोटे कृत्य क्षम्य हैं।
इसका यह मतलब नहीं है कि मैं यह कह रहा हूं कि तुम इनको करते जाओ। मैं सिर्फ इतना ही कह रहा हूं कि इनके कारण बहुत चिंता न लो, समझ आए। ये छोटे- मोटे कृत्य हैं, लेकिन ये तुम्हारे जीवन के आनंद को कम कर रहे हैं।
अब जैसे एक आदमी को चिंता पकड़ती है, बेचैनी पकड़ती है और वह सिगरेट पीने लगता है; तो सिगरेट पीने से बेचैनी तो मिटेगी नहीं, सिर्फ बेचैनी भूल जाएगी थोड़ी देर के लिए। यह कोई बुद्धिमानी न हुई। अगर बेचैनी है तो बेचैनी को समझने की कोशिश करो--क्यों है? उसके कारण में उतरो। उसका निदान करो। बिना बेचैनी के जीने की संभावना है, ध्यान करो। जितनी देर सिगरेट पीते हो, उतनी ही देर अगर ध्यान कर लो तो तुम्हारा जीवन रूपांतरित हो जाए। जितनी देर तुम तमाखू चबाते हो, उतनी देर अगर साक्षीभाव रख लो, तो तुम्हारे तनाव विसर्जित हो जाएं, सदा के लिए विसर्जित हो जाएं। फिर ये छोटे-मोटे, बच्चों जैसे उपाय करने की जरूरत न रहे। ये उपाय करने पड़ रहे हैं, उससे पता चलता है कि तुम्हारी चेतना का तल बड़ा नीचा है। नरक तुम जाओगे, यह मैं नहीं कहता, लेकिन तुम्हारी चेतना का तल इतना नीचा है कि तुम इस जीवन में निरानंद जीओगे। तुम्हारे जीवन में आनंद न हो सकेगा।
तो मैं यह नहीं कहता कि तमाखू खाना पाप है। मैं कहता हूं, तमाखू खाना मूढ़ता है, बुद्धिहीनता है, बोध की कमी है। पाप तो मैं कहता ही नहीं। पाप में तो निंदा हो गयी। पाप में तो दंड हो गया।

आखिरी प्रश्नः
जिसे सुनाने को अति आतुर

आकुल युग-युग से मेरा उर
एक गीत सपनों का,
आ, तेरी पलकों पर गाऊं
आ, तेरे उर में छिप जाऊं!
फिर न पड़े जगती में गाना
फिर न पड़े जगती में आना
एक बार तेरी गोदी में
सोकर फिर मैं जाग न पाऊं,
आ, तेरे उर में छिप जाऊं!

ठीक है आकांक्षा। ऐसा हो सकता है। लेकिन बुद्ध के मार्ग पर प्रार्थना करने से कुछ भी नहीं होता। बुद्ध के मार्ग पर तो ध्यान करना होगा। तुम्हारे गीत का स्वर प्रार्थना का है। तुम कहते हो--
"जिसे सुनाने को अति आतुर
आकुल युग-युग से मेरा उर
एक गीत सपनों का,
आ, तेरी पलकों पर गाऊं
आ, तेरे उर में छिप जाऊं!"
बुद्ध के मार्ग पर प्रार्थना से कुछ द्वार नहीं खुलता। प्रार्थना करने से बुद्ध कहते हैं, कुछ भी न होगा। प्रार्थना तो वासना का ही छिपा रूप है।
इसलिए तुम कहते हो--
"फिर न पड़े जगती में गाना
फिर न पड़े जगती में आना"
--यह भी आकांक्षा ही है। बुद्ध कहते हैं, जब तक तुम्हारे मन में यह आकांक्षा है कि फिर न पड़े जगती में आना, तब तक तुम आते रहोगे। तब तक आना ही पड़ेगा। यह वासना भी जाने दो। तुम निर्वासना होकर जीओ, तुम यहां इस क्षण जीओ--शांत, प्रसन्न, आनंदित--नहीं आओगे। लेकिन इसको जीवन का लक्ष्य मत बना लो कि फिर न आना पड़े। क्योंकि अगर फिर न आना पड़े, यह तुम्हारे जीवन का लक्ष्य हो गया, तो इसी से चिंता पैदा होगी, इसी से तनाव पैदा होगा, इसी से घबड़ाहट पैदा होगी कि सफल हो पाऊंगा कि असफल हो जाऊंगा, ऐसा होगा कि नहीं होगा; कैसे होगा, कैसे न होगा। तुम फिर चक्कर में पड़ गए, फिर संसार शुरू हो गया। मोक्ष के नाम पर भी संसार शुरू हो जाता है। धन के कारण ही लोग दीवाने नहीं हैं, धर्म के कारण भी दीवाने हैं।
बुद्ध की तो बात बड़ी साफ-सुथरी है, गणित जैसी, विज्ञान जैसी। बुद्ध कहते हैं, वासना भटकाती है। समस्त वासना भटकाती है। निरपवाद रूप से हर एक वासना भटकाती है, यह भी वासना है--फिर न पड़े जगती में आना। यह भी वासना है। क्यों? क्यों फिर न आना पड़े? यह आग्रह क्यों? यह जिद्द क्यों?
बुद्ध कहते हैं, कोई भी वासना हो, वह संसार बना देती है। तुम वासना के प्रति जाग जाओ और समझो कि हर वासना से पीड़ा पैदा होती है, चिंता पैदा होती है, तनाव पैदा होता है, संताप पैदा होता है, तो फिर ऐसे जीओ कि बिना किसी वासना के। क्षण-क्षण जीओ, क्षण के आगे की मांग मत करो। एक-एक पल गुजरने दो, उस पल से ज्यादा मांगो ही मत। कुछ मांगो ही मत, जी लो, साक्षीभाव से, द्रष्टा बनो। और तुम पाओगे, धीरे-धीरे यही द्रष्टा का भाव इतना सघन हो गया कि इसी द्रष्टा के भाव में तुम संसार के पार हो गए। फिर न आना पड़ेगा। संसार में रहते हुए संसार से मुक्त हो जाने का उपाय है। यहां रहते हुए यहां से बाहर हो जाने का उपाय है। जैसे जल में कमल अलग हो जाता है, ऐसे ही साक्षीभाव है।
बुद्ध का सारा उपदेश जागरूकता, चैतन्य, साक्षीभाव के लिए है।
प्रार्थना की वहां कोई गुंजाइश नहीं है। ध्यान और समाधि उनके वचनों का सार है।
आज इतना ही।

एस धम्मो सनंतनो, भाग 9
चौरासीवां प्रवचन

मन की मृत्यु का नाम मौन

न मुंडकेन समणो अब्बतो अलिकं भणं।
इच्छालाभ समापन्नो समणो किं भविस्सति।। 218।।

यो च समेति पापानि अणु थूलानि सब्बसो।
समितत्ता हि पापानं समाणोति पवुच्चति।। 219।।

योध पुंंच पापंच वाहित्वा ब्रह्मचरिय वा।
संखाय लोके चरति स वे भिक्खूति वुच्चति।। 220।।

न मोनेन मुनि होति मूल्हरूपो अविछसु।
यो च तुलं" व पग्गय्ह वरमादाय पंडितो।। 221।।

पापानि परिवज्जेति स मुनी तेन सो मुनी।
यो मुनाति उभो लोके मुनी तेन पवुच्चति।। 222।।

न सीलब्बतमत्तेन बाहुसच्चेन वा पन।
अथवा समाधि लाभेन विवित्तसयनेन वा।। 223।।

फुसामि नेक्खम्मसुखं अपुथुंजनसेवितं।
भिक्खु" विस्सासमापादि अप्पत्तो आसवक्खयं।। 224।।

जीवन बंधी-बंधायी पटरियों पर दौड़ती रेलगाड़ी जैसा नहीं है। जीवन है सरिताओं जैसा मुक्त। जीवन है स्वच्छंद। जीवन की दिशा बाहर से नहीं आती, जीवन की दिशा अंतरतम से आती है। भीतर के आलोक से चलता है जीवन, बाहर की खींचतान से नहीं। और जिसने भी बाहर की खींचतान से चलाने की कोशिश की, वह जीवन से वंचित हो जाता है। जीवन की गरिमा यही है कि जबर्दस्ती जीवन पर नहीं हो सकती। जीवन होता है तो सहज होता है। सहज स्फुरणा ही जीवन का सौंदर्य है। और जहां तुमने जबर्दस्ती की, जीवन को किन्हीं ढांचों में ढाला, किन्हीं लकीरों पर बहाने की कोशिश की, वहीं जीवन अपने मौलिक स्वर को खो देता है। वहीं जीवन विच्छिन्न हो जाता है जगत से, वहीं तुम टूट जाते हो। वहीं तुम्हारा संबंध अस्तित्व से विलुप्त हो जाता है। तुम अलग-थलग पड़ जाते हो। उस अलग-थलग पड़ जाने में ही अहंकार का जन्म है।
दूसरी बात, जीवन को समझने के लिए लकीर के फकीर होना आवश्यक नहीं है; आवश्यक तो है ही नहीं, खतरनाक है, घातक है। जीवन इतना विराट है कि तुम उसे सिद्धांतों के संकरे दायरे में बांध न सकोगे। जीवन किसी आंगन में बंधता नहीं। जीवन आकाश जैसा है। और जहां तुमने आंगन में बांधा, वहीं गंदगी शुरू हो जाती है। जैसे ही तुमने जीवन को सिद्धांत में ढाला, वहीं तुमने एक संकरी गली में डाल दिया विराट को। यह तुम असंभव करने की कोशिश कर रहे हो। लेकिन मन करता है यह कोशिश। क्योंकि मन की एक तकलीफ है--मन विराट के सामने घबड़ाता है। मन असीम के सामने कंपता है। असीम में तो मन को लगता है, हुई मेरी मृत्यु। तो मन हर चीज को सीमा देना चाहता है। मन हर चीज को अपने अनुकूल, अपने अनुसार चलाना चाहता है। मन हर चीज का नियंत्रक होना चाहता है। मन नियंत्रण में सुरक्षा पाता है। और जहां नियंत्रण नहीं है, वहीं मन डांवाडोल होता है, घबड़ाता--मौत सामने खड़ी मालूम होती है।
मन मौत से बहुत डरता है, कहीं मिट न जाऊं। ऐसे ही जैसे बूंद सागर में जाने से डरे। गयी तो मिटेगी। यद्यपि यह एक ही पहलू है, मिटना। दूसरा पहलू यह है कि सागर हो जाएगी। मगर दूसरे पहलू की तो बूंद को खबर कहां हो, कैसे हो! मिटे न, तब तक तो पता कैसे हो! मिटने के पहले तो यही लगता है कि मिट जाऊंगी।

तो बूंद अगर हर चेष्टा करती हो अपने को सागर से बचा लेने की, तो कुछ आश्चर्य नहीं है। ऐसे ही मन की बूंद अपने को बचाने की चेष्टा करती है।
स्वभावतः, मन बड़े तर्क, बड़े सिद्धांत, बड़े शास्त्रों का आयोजन करता है, जिनकी आड़ में बच जाए।
आज के बुद्ध के सूत्र मन के ऐसे ही आयोजनों के संबंध में हैं। इनसे तुम्हारे जीवन में बड़ी रोशनी आ सकती है।
पहला दृश्यः

एक भिक्षु थे--हत्थक। वे स्वयं को सत्य का अथक खोजी मानते थे।
स्वभावतः, जो अपने को सत्य का अथक खोजी माने, वह शास्त्रों में उलझ जाता है। जैसे कि शास्त्रों में सत्य हो। निकले सत्य की खोज को, खो जाते हैं शास्त्रों के अरण्य में। चाहते तो थे गहरे में जान लें कि जीवन क्या है, चाहते तो थे कि जान लें यह विराट अस्तित्व क्या है, लेकिन आंखें अटक जाती हैं शास्त्रों में। तो हत्थक बड़े शास्त्री बन गए। सत्य की खोज मन ने झुठला दी। मन ने कहा, सत्य चाहिए, शास्त्र में झांको। सत्य चाहिए, तो सारे सिद्धांतों में झांको।
सत्य के खोजी अक्सर पंडित बन जाते हैं। वह मन ने धोखा दे दिया। सत्य
की खोज का शास्त्र से क्या लेना-देना! शास्त्र से बड़ी तो सत्य के मार्ग में कोई और बाधा नहीं है! हां, तुम सत्य को जान लो तो शायद तुम शास्त्र में भी सत्य को पा सको, लेकिन इससे उलटा नहीं हो सकता कि तुम सत्य को बिना जाने और शास्त्र में पा सको। यह असंभव है। सत्य को जान लो, फिर शास्त्र को देखो तो शायद तुम्हें गवाहियां मिल जाएं कि हां, ठीक, जो मैंने जाना वही औरों ने भी जाना है। लेकिन तुम्हारा जानना प्राथमिक है। दूसरों का जानना दोयम, नंबर दो की बात है। तुमने न जाना हो तो दूसरों ने कितना ही जाना हो, इससे कुछ फर्क न पड़ेगा। और दूसरे जो कहेंगे, उसे तुम समझोगे कैसे?
कृष्ण की गीता पढ़ोगे, समझोगे तो अपनी ही गीता। अर्थ तो तुम अपने डालोगे। अर्थ तो कृष्ण के नहीं हो सकते। कृष्ण का अर्थ जानने के लिए तो तुम्हें कृष्णमयी चेतना में उतरना होगा। कृष्ण का अर्थ कहां से आता है? शब्दकोश से थोड़े ही आता है। काश, शब्दकोश से आता तो बात कितनी आसान हो जाती!
कृष्ण का अर्थ आता है कृष्ण के चैतन्य से। तुम्हारा अर्थ आएगा तुम्हारे चैतन्य से। पढ़ोगे कृष्ण की गीता, लेकिन पढ़ोगे अपनी ही गीता। ऊपर-ऊपर दिखेगा कृष्ण के शब्द पढ़ रहे हैं, अर्थ कौन डालेगा? उन शब्दों पर रंग कौन चढ़ाएगा? उन शब्दों की व्याख्या कौन करेगा? उन शब्दों की व्याख्या तो तुम करोगे।
कृष्ण के शब्द और व्याख्या तुम्हारी! आकाश को घसीटकर तुम अपने आंगन में ले आओगे। कोई उपाय नहीं है कृष्ण के शब्द से जाने का; न क्राइस्ट के शब्द से, न बुद्ध के शब्द से। अगर सत्य तक जाना हो, तो निःशब्द से मार्ग है। एक भिक्षु थे--हत्थक। वे स्वयं को सत्य का खोजी मानते थे। स्वभावतः शास्त्रों में उलझ गए। विवाद उनका जीवन बन गया। शास्त्रार्थ उनकी चर्या हो गयी। सुबह से सांझ तक, उठते-बैठते तर्क और तर्क। संन्यस्त होने के पहले बड़े झगड़ैल थे। संन्यस्त होने के बाद झगड़ा तो बंद हो गया, लेकिन झगड़े ने नया रूप ले लिया। मन बड़ा चालबाज है। अब गाली-गलौज तो नहीं करते थे, अब गाली- गलौज बड़ी तार्किक हो गयी थी। अब झगड़ा किसी का सिर फोड़कर नहीं करते थे, लेकिन किसी का सिद्धांत तोड़कर।
वह भी सिर फोड़ना ही है।
अब दूसरे को नीचा दिखाते थे--शारीरिक बल से नहीं, मानसिक बल से--लेकिन दूसरे को नीचा दिखाना जारी था।
मन से जागना, मन बड़ा होशियार है। एक तरफ से हटो, दूसरी तरफ उलझा देता है। पहले झगड़ैल थे, अदालतों में खड़े रहते थे। फिर ऊब गए अदालतों से, ऊब गए झगड़ों से, संन्यस्त हो गए। तब नए विवाद खड़े हो गए। नए झगड़े के ढंग सीख लिए। अब झगड़ा और भी सभ्य और सुसंगत हो गया। अब अदालत में जाने की जरूरत भी न

रही। अब उठते-बैठते झगड़े की तैयारी थी। बोलो कि झगड़ा हो जाए। तुम जो बोले, उसी पर वह विवाद करने को तत्पर थे।
ऐसे विवाद उनकी श्वास-श्वास में भर गया। शास्त्रार्थ उनकी चर्या हो गयी। तर्क में कुशल थे, पर ध्यान से अपरिचित।
तर्क में अगर तुम कुशल हो और ध्यान से अपरिचित, तो तुम अपनी आत्महत्या
कर लोगे। तर्क खतरनाक है, छोटे बच्चे के हाथ में तलवार है। कि छोटे बच्चे के हाथ में जहर की प्याली है। हां, कुशल हाथों में तर्क हो, तो जैसे वैद्य के हाथ में जहर की प्याली हो तो औषधि बन जाए। हां, कुशल हाथों में तलवार हो तो जीवन का रक्षण बन सकती है। लेकिन छोटे बच्चे को दे दी तलवार, तो या तो किसी को काटेगा--और किसी को काटेगा वह तो ठीक है, आज नहीं कल अपने को भी काट लेगा। जहर औषधि बन सकती है कुशल हाथों में और अमृत भी जहर बन सकता है अकुशल हाथों में।
जिसने ध्यान को जाना है, उसके हाथ में तर्क तो बड़ी कुशल बात हो जाती है। क्योंकि वह लोगों को तर्क के सहारे ध्यान की तरफ उठाने लगता है। जिसने ध्यान को नहीं जाना, उसके हाथ में तर्क बड़ी खतरनाक चीज है, वह ध्यान की तरफ जाते लोगों को खींच-खींचकर मन में वापस ले आता है।
तर्क में कुशल थे और ध्यान से अपरिचित।
छुद्र से कुशल, छुद्र में कुशल। सूक्ष्म में, विराट में उनकी अकुशलता थी। हर बात पर विवाद कर सकते थे, और हर बात पर लोगों को हरा सकते थे। हर उपाय से हरा सकते थे। लेकिन अभी खुद की जीत भीतर हुई न थी। अभी आत्मविजेता न बने थे।
इसे समझना। तुम तभी तक दूसरों को जीतने में उत्सुक होते हो, जब तक तुमने स्वयं को नहीं जीता। असल में स्वयं को न जीतने की बात इतनी पीड़ा देती है, स्वयं को न जीतने की बात इतना घाव बन जाती है कि इस घाव को किसी तरह दूसरों पर जीत बनाकर तुम भुला लेना चाहते हो। पर-विजय पर वही जाता है जो भीतर पराजित है। जो जानता है, अपने पर तो विजय हो नहीं सकी--किसी तरह दूसरों के सिरों पर झंडे गाड़ दूं।
दूसरों को हराना आसान है। अपने को हराना कठिन है। क्योंकि तुम जो भीतर हो, छोटे नहीं हो। तुम तो बड़े हो, बहुत बड़े हो, बड़े आयाम हैं तुम्हारे। तुम्हें अपने पूरे होने का पता ही नहीं है। तुम्हारी बड़ी गहराइयां हैं, गहराइयों पर गहराइयां हैं, ऊंचाइयों पर ऊंचाइयां हैं। तुम चढ़ोगे तो गौरीशंकर छोटा पड़ जाएगा तुमसे। तुम गहरे उतरोगे तो प्रशांत सागर उथला हो जाएगा तुमसे। तुमने अपने को जाना नहीं। तुम तो द्वार-दरवाजे पर खड़े हो, तुम अपने महल में प्रविष्ट ही नहीं हुए। जितनी बड़ी दुनिया बाहर है, उतनी बड़ी दुनिया प्रत्येक व्यक्ति अपने भीतर लिए चल रहा है। और बाहर जो दुनिया है, इससे ज्यादा गहरी और ज्यादा मूल्यवान दुनिया भीतर लेकर चल रहा है। बाहर के साम्राज्य को पाने के लिए वही उत्सुक होता है, जो भीतर दरिद्र है, जिसको भीतर के साम्राज्य का कोई पता नहीं है। जो अपना सम्राट नहीं है, वह दूसरों का सम्राट बनने को उत्सुक होता है।
इसलिए मैं बार-बार कहता हूं कि राजनीति और धर्म का मेल नहीं होता। ये विपरीत आयाम हैं। राजनीति का अर्थ है, दूसरे पर ताकत। धर्म का अर्थ है, अपने पर ताकत। राजनीतिज्ञ अधार्मिक होगा ही। राजनीतिज्ञ और धार्मिक हो, यह असंभव है। और धार्मिक राजनीतिज्ञ हो, यह भी असंभव है। अगर तुम धार्मिक को राजनीतिज्ञ पाओ, तो समझ लेना कि धार्मिक नहीं है। और अगर तुम राजनीतिज्ञ को धर्म की बातें करते पाओ, तो समझ लेना कि यह भी राजनीति का एक उपाय है। ये दोनों एक साथ हो नहीं सकते, यह असंभव है। जैसे कि तुम ऊपर-नीचे एक साथ नहीं जा सकते। जैसे कि तुम बाएं-दाएं एक साथ नहीं जा सकते। जैसे कि उत्तर-दक्षिण एक साथ नहीं जा सकते। ऐसे ही कोई व्यक्ति राजनीति और धर्म में एक साथ नहीं जा सकता। राजनीति का अर्थ है, दूसरे पर कब्जा करने की चेष्टा। राजनीति हिंसा है। और धर्म का अर्थ है, अपने पर विजय की यात्रा। धर्म अहिंसा है।
फिर तुम कैसे दूसरों पर विजय पाने की कोशिश करते हो, यह बात गौण है।
कोई तलवार से करता है, कोई धन से करता है, कोई पद-प्रतिष्ठा से करता है, कोई

तर्क से करता है, कोई ज्ञान से करता है। कोई त्याग से भी करता है, ख्याल रखना। त्याग से भी वही हो जाता है।
तुमने गांव में सबसे ज्यादा त्याग कर दिया, तो तुमने सारे गांव पर विजय पा ली। तुमने सारे गांव को हरा दिया। कौन तुम जैसा दानी है! तुमने एक बड़ा उपवास कर लिया, इक्कीस दिन का उपवास कर लिया, सारे गांव को मात दे दी। कौन तुमसे बड़ा उपवासी! कि तुम नग्न खड़े हो गए, कि धूप-बरसात, सर्दी-गर्मी में तुम नग्न खड़े रहने लगे, तुमने सारे गांव को मात दे दी कि कौन मुझ जैसा त्यागी! मगर ध्यान रखना, अगर तुम्हारी नजर दूसरों पर लगी है, अगर इसमें कहीं भी प्रतियोगिता है, किसी भी तल पर प्रतियोगिता का स्वर है, तो यह राजनीति है।
धर्म अप्रतियोगी है, नान-कांपिटीटिव है। धर्म का कोई संबंध दूसरे से नहीं। और तब ऐसा भी हो सकता है कि जिन लोगों को तुम साधारणतः धार्मिक नहीं कहते, उनमें भी धार्मिक लोग हों। अप्रतियोगी आदमी धार्मिक है।
समझो कि एक आदमी गीत गा रहा है, और गीत गाते क्षण में उसके मन में कोई प्रतिस्पर्धा नहीं है, वह किसी को हराने के लिए गीत नहीं गा रहा है, किसी को पराजित करने के लिए गीत नहीं गा रहा है, उसके भीतर गीत उठा है, वह गीत गा रहा है, तो यह व्यक्ति धार्मिक है। इस गीत गाते क्षण में धार्मिक है।
एक व्यक्ति बैठा बांसुरी बजा रहा है, किसी से कुछ लेना-देना नहीं है। कहीं भी, मन के किसी भी तल पर इस बांसुरी के बजाने की किसी और से कोई तुलना नहीं चल रही है कि मैं दूसरे से अच्छा बजाऊं, तो यह कृत्य धार्मिक है।
एक व्यक्ति चित्र बना रहा है। न पिकासो को हराना है, न डाली को हराना है, न किसी को हराना है। किसी का कोई लेना-देना नहीं है। अपने आनंद से, स्वांतः सुखाय, अपने सुख से चित्र बना रहा है, रंग रहा है, रंगने में बड़ा आनंदित हो रहा है। जैसे अकेला ही हो इस पृथ्वी पर, कोई और है ही नहीं। इस एकांत में जो स्वांतः सुखाय रसधारा बहती है, वही धर्म है।
और तुम अगर मंदिर गए, और तुम प्रार्थना कर रहे हो, और तुम चारों तरफ देखने लगे कि लोग भी देख रहे हैं कि मैं प्रार्थना कर रहा हूं या नहीं, तो अधर्म हो गया। और अगर तुमने यह देखा कि आज कोई भी मंदिर में नहीं है, तो तुमने जल्दी-जल्दी प्रार्थना की कि क्या मतलब है, कोई देखने वाला तो है नहीं; और भगवान तो हैं कहां, पत्थर की मूर्ति खड़ी है, जल्दी करो कि देर करो; कि तुम कुछ-कुछ बीच की पंक्तियां छोड़ भी गए, कौन देखने वाला है, जल्दी से पूजा कर ली और निकल आए। और अगर लोग देखने वाले हुए तो तुमने बड़ी गंभीरता दिखलायी और बड़े डोले और बड़ी आरती चलायी, और काफी देर लगायी, जो दो मिनट में हो जाता काम उसमें बीस मिनट लगाए--इतने लोग देखने वाले थे! और अगर एक फोटोग्राफर भी खड़ा हो और अखबार में खबर छपने वाली हो, तो तुम एकदम तल्लीन हो गए, एकदम महत तल्लीनता में पहुंच गए, मीरा को मात कर दो, ऐसे डोलने लगे, आंसू बहाने लगे--अगर तुम्हारे भीतर ऐसा कुछ चल रहा हो तो प्रार्थना भी अधार्मिक हो जाती है।
कोई कृत्य अपने में धार्मिक नहीं होता और कोई कृत्य अपने में अधार्मिक नहीं होता। तुम्हारी भावदशा उसे धार्मिक या अधार्मिक करती है। यह भिक्षु हत्थक तर्क में कुशल और ध्यान से अपरिचित। शब्द के धनी थे
और मौन में दरिद्र।
अक्सर ऐसा हो जाता है। और जब तक शब्द मौन से न आए, तब तक व्यर्थ होता है। जब तक शब्द तुम्हारे भीतर के शून्य में पगा हुआ न आए, तब तक उसमें कुछ भी नहीं होता, बेजान होता है। जब तुम्हारे भीतर की रसधार में पगकर आता है, जब तुम्हारे शून्य के गर्भ से उठता है शब्द, तब उस शब्द में सार होता है। शब्द में तो सार होता ही नहीं, सार तो शून्य में होता है। लेकिन जब शून्य से शब्द उठता है तो शब्द के आसपास लिपटा हुआ थोड़ा सा शून्य भी चला आता है। जैसे कि तुम बगीचे से निकले, तुम्हें याद हो या न हो याद, घर जाकर तुम पाओगे--वस्त्रों में थोड़ी गंध है। फूलों की गंध वस्त्रों को पकड़ गयी। ऐसे ही शब्द जब किसी शून्य हृदय में उठता है, तो शून्य की गंध शब्द को पकड़ जाती है। वैसे शब्द में कुछ सार होता है। अर्थात जब मौन से शब्द निकलता है, तभी सार्थक होता है। और जब मौन से शब्द नहीं निकलता, शब्दों से ही शब्द निकलते

हैं, बात में से बात निकलती है, शब्दों के साहचर्य से शब्द निकल आते हैं, तो समझना कि तुम अपना भी समय व्यर्थ कर रहे हो, दूसरों का भी समय व्यर्थ कर रहे हो। तुम अपना कूड़ा-करकट दूसरों में डाल रहे हो।
लोग नासमझ हैं। किसी के घर में जाकर तुम कूड़ा-करकट डालो तो झगड़ा हो जाए। लेकिन किसी की खोपड़ी में कितना ही कूड़ा-करकट डालो, कोई झगड़ा नहीं होता। वह बड़े प्रेम से सुनता है, वह कहता है कि और सुनाइए! और गपशप क्या गांव में चल रहा है!
हम एक-दूसरे के सिर में कचरा डालते रहते हैं। हम एक-दूसरे के सिर का उपयोग कचरे की टोकरी की तरह करते हैं।
शब्द के धनी थे यह हत्थक और मौन में थे दरिद्र।
और अक्सर ऐसा हो जाता है कि भीतर मौन की दरिद्रता हो तो आदमी बड़ा बकवासी हो जाता है। फिर छिपाए भी कैसे! अपनी नग्नता को छिपाए भी कैसे! शब्दों के वस्त्र ओढ़ लेता है। शब्दों के आधार पर भूले रहता है कि मैंने मौन नहीं जाना। और मौन में है सौंदर्य, और मौन में है आनंद। और मौन में ही सत्य की झलक है।
तो जिनके पास मौन न हो और केवल शब्द हों, उनसे सावधान होना। और अपने भीतर भी देखना। वही बोलना, जो तुम्हारे मौन में जन्मा हो। तो तुम पाओगे, तुम्हारे शब्दों में एक बल आ गया। तुम्हारे शब्दों में एक प्रगाढ़ शक्ति का जन्म हो जाएगा। तुम्हारे शब्द शक्ति के वाहक बन जाएंगे। तुम्हारा एक-एक शब्द तीर हो जाएगा। जिस हृदय पर लग जाएगा, उस हृदय में नयी स्फुरणा कर जाएगा। और तुम्हारे शब्दों में एक काव्य आ जाएगा। तुम चाहे कविता जानते हो या न जानते हो, तुम्हारे शब्दों में एक गुनगुनाहट आ जाएगी। और तुम्हारे शब्दों में एक सौंदर्य होगा, जो इस जगत का नहीं है।
लेकिन शून्य से आए शब्द तो ही। पंडित का शब्द तो गंदा होता है, बासा होता है। ज्ञानी का शब्द! और ज्ञानी का अर्थ यही है कि जिसने अपने भीतर निःशब्द होने की कला सीख ली। पहले चुप हो जाओ। पहले ऐसे चुप हो जाओ कि चुप्पी सनातन जैसी मालूम होने लगे, शाश्वत मालूम होने लगे। फिर उस चुप्पी में जो अनुभव हो, उसे बांधना शब्द में। तब तुम्हारे पास बांधने को कुछ है। नहीं तो अभी तो कोरे शब्द हैं, जिनके भीतर कुछ भी नहीं है--खाली डिब्बे हैं।
यह जो हत्थक थे, शब्द के धनी थे और मौन में दरिद्र थे, लेकिन स्वभावतः बड़े अहंकारी थे।
शब्द का धनी हो आदमी तो अहंकारी हो जाता है। आदमी भाषा का गुलाम है। तुमने यह बात देखी? कि समाज में वे लोग बहुत महत्वपूर्ण हो जाते हैं, जो शब्द के धनी हैं। नेता बन जाएं, गुरु बन जाएं। जो शब्द का धनी है, वह सब जगह प्रथम हो जाता है। क्यों? वह बोलने में कुशल है। उसके पास एक दक्षता है। बोलते सभी हैं, लेकिन कोई जो बोलने में कुशल हो जाता है, वह दूसरों को पीछे डाल देता है, वह आगे निकल जाता है। अगर तुम बोलने में कुशल नहीं हो तो एक बात पक्की है कि तुम जिंदगी में कहीं भी किसी प्रतिस्पर्धा में आगे खड़े न हो सकोगे। मनुष्य का सारा समाज भाषा से बना है। और भाषा में जो जितना कुशल होता है, वह उतना आगे हो जाए तो आश्चर्य नहीं है।
इसलिए जो लोग बोलने में कुशल होते हैं, स्वभावतः भीतर एक अहंकार का जन्म हो जाता है कि मैं कुछ हूं। अगर शून्य से शब्द आएं, तो यह अहंकार पैदा नहीं होता। तब तो एक उलटी बात घटती है। समझ लेना इसे ठीक से। अगर शून्य से शब्द आएं तो ऐसा लगता है हर बार बोलकर कि जो कहना था, वह कह नहीं पाया। अहंकार की तो बात दूर, एक बड़ी विनम्रता पैदा होती है कि जो कहना था, कह नहीं पाया। क्योंकि जो जाना जाता है भीतर, वह इतना बड़ा है कि शब्दों में अंटता नहीं, समाता नहीं। शब्द छोटे-छोटे पड़ जाते हैं।
मुझसे लोग पूछते हैं कि आप रोज कैसे बोलते हैं? रोज इसीलिए बोल पाता हूं, कल बोला, देखा कि नहीं कह पाया, फिर आज बोलता हूं; चलो, एक और कोशिश करें, शायद अब हो जाए। फिर कल बोलूंगा। क्योंकि मुझे पक्का पता है कि यह होने वाला नहीं है। यह कुछ बात ऐसी है कि कही जाती है, लेकिन कही नहीं जा सकती।

लाओत्सू ने कहा है, जो कहा जा सके, वह सत्य नहीं।
फिर भी बुद्ध ने, लाओत्सू ने, कृष्ण ने, महावीर ने, क्राइस्ट ने कहा तो है। कहने की चेष्टा की है। लेकिन ये सारे लोग विनम्र हैं इस संबंध में, क्योंकि ये जानते हैं कि जो इन्हें अनुभव में हुआ है, वह अंटता नहीं। शब्द में आते-आते ओछा हो जाता है, छोटा हो जाता है, विकृत हो जाता है।
तुमने प्रेम जाना, कोई तुमसे कहे, कह दो, क्या है? तो तुम मुश्किल में
पड़ जाओगे। तुम गए सुबह, तुमने सूरज को ऊगते देखा, पक्षियों को गीत गाते देखा, सुबह की ताजी हवा में तुम भी गुनगुनाए, तुम भी मगन हुए, मस्त हुए। फिर तुम घर आए और किसी ने पूछा कि कहो, कैसा था सूर्योदय? क्या कहोगे? और जो भी तुम कहोगे, क्या तुम सोचते हो कि तुम कह पाओगे जो तुमने जाना था उस सुबह की घड़ी में? उस प्यारी घड़ी में जो हुआ था, वह जो मधुर रस बहा था, वे जो किरणें तुम्हारे चारों तरफ नाच गयी थीं, वह जो परमात्मा किसी बड़े अपूर्व रूप से तुम्हारे चारों तरफ खड़ा हो गया था, कह पाओगे उसे?
और तुम्हारा बेटा तुमसे पूछने लगे कि चलो, मैं तो गया नहीं था, आप मेरी कापी पर बनाकर बता दें, सूर्योदय कैसा था! तो बना सकोगे? सूर्य बना दोगे, गोल गोला बना दोगे, किरणें बना दोगे, पहाड़ियां बना दोगे, झील बना दोगे, मगर क्या तुम सोचते हो, इस कागज पर बनी तस्वीर का कुछ भी संबंध है उससे जो तुमने देखा था? कुछ भी संबंध नहीं है। यह मुर्दा तस्वीर है, वह जीवंत था। वह विराट था, यह छोटे से पन्ने पर समा गया। और यह उसका बहुत छुद्र अंश है। वह इससे करोड़-करोड़ गुना था। उसके विस्तार को कैसे कागज पर लाओगे।
छोड़ो कागज की, अब तुम्हारे पास बेहतर साधन हैं, तुम एक कैमरा लेकर जा सकते हो। तस्वीर उतार लेते हो। लेकिन तस्वीर भी कहां तस्वीर हो पाती है! तस्वीर में भी कहां बात बनती है!
तो जिसके पास भीतर का अनुभव है, उसको अहंकार तो पैदा होता ही नहीं। उसको तो हर बार हार हाथ लगती है। हर बार गीत गाता है और हर बार पाता है कि जो गाना था, पीछे छूट गया। शब्द के तीर तो चले गए, जो शब्दों के तीर पर रखना था, चढ़ाना था, वह पीछे पड़ा रह गया। हर बार चेष्टा करता है, संदेश भेजता है, संदेश चला जाता है, लेकिन मूल छूट जाता है। हर बार ऐसा होता।
तो जो अनुभव किया है, उसे शब्द से अहंकार नहीं बढ़ता। लेकिन जिसने अनुभव नहीं किया है, उसे शब्द बोल-बोलकर बड़ा अहंकार बढ़ता है।
तो हत्थक बड़े अहंकारी थे। फिर तर्क में सच-झूठ भी न देखते थे।
तर्क में सच-झूठ होता भी नहीं। जब विजय ही लक्ष्य हो, तो क्या सच, क्या झूठ? विजय जब लक्ष्य हो और झूठ से विजय मिलती हो, तो झूठ ही सच मालूम होता है। ख्याल रखना, कहते तो वह थे कि मैं सत्य का खोजी हूं, लेकिन मूलतः विजय के खोजी थे। तुम भी जब किसी से विवाद करते हो तो सत्य की खोज में करते हो? कि सिर्फ एक आकांक्षा जीत लेने की?
दुनिया में दो तरह के लोग हैं। एक वे, जो सत्य को अपने पीछे चलाना चाहते हैं; और एक वे, जो सत्य के पीछे चलना चाहते हैं। जो सत्य के पीछे चलना चाहता है, उसकी विजय की कोई आकांक्षा नहीं होती, वह तो सत्य से हारने को तत्पर है। जो सत्य को अपने पीछे चलाना चाहता है, उसकी विजय की आकांक्षा होती है। वह सत्य को भी अपने अनुकूल चाहता है। वह सत्य को भी काट-पीट देता है। वह सत्य को भी ऐसा रंग-ढंग देता है कि जिससे विजय हो सके।
विवादी सत्य का खोजी नहीं होता। लेकिन हत्थक को यही भ्रांति थी कि वह सत्य का खोजी है। विवादी विजय का खोजी होता है, इसे ख्याल रखना। और तुम अपने भीतर खूब गौर कर लेना कि तुम विजय की खोज में लगे हो कि सत्य की खोज में। क्योंकि दोनों यात्रा-पथ बिल्कुल अलग हैं। विजय की जो यात्रा है, वह राजनीति है। और सत्य की जो यात्रा है, वह धर्म है। और विजय की यात्रा में दूसरे की छाती पर चढ़ने की आयोजना है। और सत्य की यात्रा में, सत्य के चरणों में सिर झुका देने की, सत्य के सामने समर्पित हो जाने की।
जब तुम विवाद करते हो तो क्या तुम यह कहते हो कि यह विवाद मैं सत्य की खोज के लिए कर रहा हूं? कहते सभी विवादी यही हैं, लेकिन असली खोज यह होती है कि मैं सही, तुम गलत। और कभी-कभी तुमने यह भी पाया होगा कि कल तुम किसी से विवाद किए थे और तुमने जो बात कही थी कि सही है, आज किसी और से विवाद

करते तुम उसी बात को गलत भी कह दिए, क्योंकि आज इसी से जीतने में सुगमता होती थी।
तर्क में सच-झूठ नहीं होता, तर्क तो वकील है। वकील के पास सच-झूठ नहीं होता। वकील तो कहता है, तुम जैसे भी हो, जिताऊंगा। तुम जैसे हो, उसी के पक्ष में सत्य को लाकर खड़ा करूंगा। सत्य को बदल देंगे, तुम्हें बदलने की जरूरत नहीं। कानून से काट-छांट करेंगे, सत्य को ऐसा ढंग देंगे कि वह भी तुम्हारा गवाह बन जाए।
इसलिए वकील एक तरह का झूठ का व्यवसाय करता है। वकालत एक तरह की वेश्यागिरी है। वेश्या अपने शरीर को दूसरे के उपयोग के लिए दे देती है, वकील अपने मन को दूसरे के उपयोग के लिए दे देता है। यह वेश्या से भी पतित कृत्य है। वकील का कोई सत्य नहीं होता।
यूनान में सोफिस्ट हुए। सुकरात उनके खिलाफ लड़ा। सोफिस्ट ऐसे लोग थे
कि वे कहते थे कि सच और झूठ होता ही नहीं। वे कहते थे, जिसको तर्क की कला आती है, वह जिस चीज को चाहे सच कर ले और जिस चीज को चाहे झूठ कर ले। सोफिस्ट कहते थे, सत्य और झूठ जैसी कोई चीज नहीं होती, तर्क की कुशलता सत्य बन जाती है और तर्क की अकुशलता झूठ बन जाती है। और वे लोगों को यही सिखाते थे। और उन्होंने बड़ी-बड़ी पाठशालाएं खोल रखी थीं, जिनमें लोगों को शिक्षण दिया जाता था सच को झूठ करने का, झूठ को सच करने का। और वे बड़े कुशल तार्किक थे। ऐसे कुशल तार्किक सारी दुनिया में हुए हैं। उनकी कोई निष्ठा नहीं होती। उनका कोई समर्पण नहीं होता, उनकी कोई आस्था नहीं होती। वे तो केवल तर्क का खेल खेलना जानते हैं। तर्क उनका व्यवसाय होता है। जैसे तुमने व्यवसायी खिलाड़ी देखे न! कोई फुटबाल का व्यवसायी खिलाड़ी है, कि क्रिकेट का व्यवसायी खिलाड़ी है, उसे कोई मतलब नहीं, जो पैसा दे दे वह उसके साथ हो जाता है। ऐसे सोफिस्ट थे, जो पैसा दे दे उसके साथ हो जाते। वकील एक तरह का सोफिस्ट है।
यह जो आदमी था हत्थक, एक तरह का सोफिस्ट रहा होगा। उसे विजय की आकांक्षा थी। येन-केन-प्रकारेण, कैसे भी हो, विजय होनी चाहिए। ईमानदारी से हो, बेईमानी से हो, अच्छे रास्ते से हो, बुरे रास्ते से हो, उसे साधन की शुद्धि का कोई ख्याल न था। साध्य उसका एक था कि विजय मिलनी चाहिए।
और तुम यही जीवन में भी पाओगे। जिन लोगों के जीवन में विजय की ही आकांक्षा सब कुछ है, वे सभी तरह से विजय पाने की कोशिश करते हैं। धोखाधड़ी से हो, जालसाजी से हो, पाखंड से हो, विजय मिलनी चाहिए। विजय पर ही सारा ध्यान होता है। इसलिए विजय का आकांक्षी कभी धार्मिक नहीं हो सकता। अगर अधर्म से विजय मिलती होगी तो वह क्या करेगा! जब विजय की ही आकांक्षा है तो फिर अधर्म से मिले तो अधर्म ही सही, अधर्म का ही साधन बना लेंगे। धार्मिक व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य विजय नहीं होता। विजय लक्ष्य हुई कि फिर जीवन धार्मिक नहीं रह जाता।
एक दिन वह तीर्थकों को चुनौती दे आया।
तीर्थक उन दिनों के जैन, जैनों का यह नाम है बौद्ध शास्त्रों में, तीर्थंकर को मानने वाले--तीर्थक।
वह एक दिन तीर्थकों को चुनौती दे आया और कह आया, अमुक-अमुक स्थान पर मिलो, अमुक-अमुक समय पर। वहीं शास्त्रार्थ होगा, और तुम्हारी हार निश्चित है। और फिर समय के पूर्व ही जाकर लोगों से बोला, देखो, तीर्थक भाग गए। यही उनकी हार है।
समय दिया, स्थान बताया और समय के पहले वहां पहुंचकर लोगों से कह दिया
कि देखो भाग खड़े हुए वे लोग। यह उनकी हार है।
भगवान को यह ज्ञात हुआ तो उन्होंने हत्थक को बुलाकर कहा, क्या भिक्षु,
तू सचमुच ऐसा करता है! यह तो हद्द हो गयी।
यह तो झूठ की हद्द हो गयी। यह कोई जीतना जीतना हुआ। पहले तो विवाद व्यर्थ, पहले तो विजय की आकांक्षा व्यर्थ, और फिर ऐसे उपाय! कि उनको एक समय दिया, उसके पहले पहुंच गया, अभी वे आए ही नहीं थे, कि तूने बता दिया, लोगों को खबर कर दी कि वे भाग खड़े हुए हैं। यह भी कोई विजय हुई!

हत्थक सकुचाए। लेकिन झूठ बोलने में अति कुशल होते हुए भी भगवान के समक्ष झूठ न बोल सके।
सदगुरु का यह बहुत से उपयोगों में एक उपयोग है कि तुम उसके सामने झूठ
न बोल सकोगे। सदगुरु का बहुत उपयोग है साधक के जीवन में, उनमें एक महत्वपूर्ण उपयोग यह भी है। तुम और सब जगह तो झूठ बोल सकोगे, और जगह झूठ बोलने में अड़चन न आएगी, याद ही न पड़ेगा कि तुम झूठ बोल रहे हो; जहां जिस बात से सुगमता मिलेगी, वही चला लोगे। लेकिन कहीं एक जगह ऐसी होनी चाहिए, जहां तुम झूठ न बोल सको, वहीं तुम्हें अपने से साक्षात करने का मौका मिलेगा। कोई तो चरण ऐसे होने चाहिए जहां जाकर तुम्हें सच होना पड़े। जहां तुम चाहो भी तो भी झूठ न हो पाओ। कोई तो आंखें ऐसी होनी चाहिए जिनमें तुम झांको और अपनी सचाई को झलकता हुआ पाओ।
सदगुरु दर्पण है। उसके सामने जब शिष्य खड़ा होता है, तो झूठ नहीं बोल पाता। जिसके सामने तुम झूठ न बोल पाओ वही तुम्हारा गुरु है, यह गुरु की परिभाषा समझो। अगर तुम उसके सामने झूठ बोल पाओ, तो वह तुम्हारा गुरु नहीं है।
इसे ख्याल में लेना, यह तुम्हारे काम की बात है। अगर तुम जिसके सामने झूठ बोलने में सफल हो अभी, तो समझना कि तुमने उसे गुरु-भाव से स्वीकार नहीं किया। तुमने उसे गुरु नहीं माना। गुरु का अर्थ ही यह होता है, जिससे अब तुम कुछ भी न छिपाओगे, जैसा है वैसा प्रगट कर दोगे। जिसके सामने तुम नग्न होने में समर्थ होओगे, तुम सारे वस्त्र छोड़ निर्वस्त्र हो सकोगे। तुम कह सकोगे कि मैं ऐसा हूं, बुरा-भला जैसा हूं। यह एक जगह तो ऐसी है जहां मैं छिपावट न करूंगा। जहां मैं मुखौटे न लगाऊंगा, जहां मैं और चेहरे न बनाऊंगा, जहां मैं जैसा हूं, वैसा ही।
हत्थक सकुचाए। लेकिन झूठ बोलने में अति कुशल होते हुए भी भगवान के समक्ष झूठ न बोल सके। बोले--हां, भंते! भगवान ने कहा, विजय मूल्यवान नहीं है, हत्थक! फिर सत्य को छोड़कर जो विजय मिले, वह तो हार से भी बदतर है। सत्य ही एकमात्र मूल्य है। और जहां सत्य है, वहीं असली विजय है। सत्य के साथ हार जाना भी विजय और सौभाग्य है; और झूठ के साथ जीत जाना भी दुर्भाग्य है। भिक्षु, ऐसा करके तू श्रमण नहीं होगा। क्योंकि जिसने सभी महत्वाकांक्षाओं को शमित कर दिया है, उसे ही मैं श्रमण कहता हूं।
यह श्रमण की अनूठी परिभाषा की उन्होंने--कि जिसने समस्त महत्वाकांक्षाओं को शमित कर दिया है, उसे ही मैं श्रमण कहता हूं।
समझना। मैंने कहा, सदगुरु वही जिसके सामने तुम्हें सच होना ही पड़े। जिसके सामने तुम्हारे जीवनभर के पाखंड और जीवनभर के झूठ और जीवनभर की कुशलताएं, कम से कम एक पल के लिए सही, तुमसे गिर जाएं। एक पल के लिए सही, बिजली की तरह जो तुम्हारे जीवन में कौंध जाए और जो तुम्हें दिखा दे तुम कहां हो, कैसे हो। यह एक बात शिष्य के परीक्षा के लिए, उसके अंतर्परीक्षा के लिए कि वह जिसके सामने इस तरह नग्न हो सके, वही सदगुरु उसका। उसने उसी को गुरु-भाव से स्वीकार किया है।
किसी के चरणों में सिर रखने से कुछ भी नहीं होता। और इधर इस देश में तो चरणों में सिर रखने की आदत इतनी पड़ गयी है कि औपचारिक रूप से लोग रख देते हैं। लेकिन सिर चरणों में रखने का यह मौलिक अर्थ है कि यहां अब मैं जैसा हूं वैसा ही प्रगट करूंगा। अब जरा भी लगाव-छिपाव नहीं, अब जरा भी तोड़-मरोड़ नहीं, अब जरा भी तर्क का सहारा न लूंगा, झूठ का सहारा न लूंगा। यह तो गुरु तुमने चुना किसी को, इसकी तुम्हें खबर मिलेगी, इस भाव से। और सच में ही तुमने कोई सदगुरु पा लिया या नहीं, यह इस बात से पता चलेगा कि तुम जब नग्न अपने सारे झूठों को भी स्वीकार कर लो, तब भी निंदा न हो; तो समझो कि तुमने सदगुरु पाया।
क्योंकि तुमने चुन लिया गुरु, इससे ही थोड़े सदगुरु मिल जाता है। तुम
तो गलत गुरु भी चुन सकते हो। तुम तो किसी पाखंडी को भी गुरु चुन सकते हो, किसी अज्ञानी को भी गुरु चुन सकते हो। तुम्हारे पास कसौटी क्या है? तुम कैसे कसोगे कि तुमने जिसे पा लिया है, वह सदगुरु है। कैसे मापोगे? कैसे आंकोगे? क्या उपाय है? यह है उपाय, कि तुम जब अपनी सारी नग्नता को भी उसके

सामने रख दो, तब भी उसके मन में तुम्हारे प्रति कोई निंदा का भाव न हो।
सिर्फ करुणा हो। वह तुम्हें समझे, समझाए, लेकिन निंदा का कोई स्वर न हो।
जहां निंदा का स्वर है, वहां समझ लेना कि जिस आदमी के सामने तुम झुके हो, वह तुमसे बेहतर नहीं है।
यह बात बहुत काम की है। तुम्हारे सौ महात्माओं में से निन्यानबे महात्मा निंदा से भरे हुए लोग हैं। निंदा तभी तक रहती है भीतर, जब तक तुम भी उन्हीं चीजों से उलझे हो जिनमें लोग उलझे हैं।
मेरे पास कोई आता है, वह कहता है कि मैंने संन्यास तो ले लिया, लेकिन बड़ी अड़चन है, मुझे शराब पीने की आदत है। यह आदमी अगर तुम्हारे महात्माओं के पास जाए, तो सौ में से निन्यानबे एकदम आग-बबूला हो उठेंगे कि शराब! पाप है, नर्क में सड़ोगे। नर्क के कड़ाहों में चढ़ाए जाओगे। शराब! शराब तो बहुत दूर की बात, चाय नहीं पीने देगा तुम्हारा महात्मा। चाय पी ली कि पाप हो गया, महापाप हो गया। निंदा का पहाड़ तुम पर टूट पड़ेगा।
इसी निंदा के पहाड़ के कारण तुम गुरु के सामने भी सच्चे नहीं हो पाते। ख्याल ले लेना, दोनों बातें मिलेंगी तभी कुछ हो सकता है। तुम सच्चे कैसे हो पाओगे? जिसके सामने जरा सी बात और निंदा का पहाड़ टूट पड़ता हो, तो तुम सच्चे कैसे हो पाओगे? तुम कह कैसे पाओगे कि तुमने क्या भूलें कीं, क्या चूकें की हैं?
सदगुरु समझेगा। वह तुम्हारी दशा समझेगा, क्योंकि कभी वह भी तुम्हारी दशा में रह चुका है। और जानता है कि इसके पार हुआ जा सकता है। और पार होने का कोई उपाय निंदा नहीं है। और पार होने का कोई उपाय आदमी को भयभीत करना नहीं है। पाप और नर्क की घबड़ाहट पैदा करने से कोई मुक्त नहीं होता। शायद यह आदमी और शराब पीने लगे, अब नर्क के डर से पीने लगे कि और मरे! कि अब नर्क भी जाना पड़ेगा! वैसे ही चिंताएं बहुत थीं, उनके कारण शराब पीता था, गुरु ने एक चिंता और जोड़ दी कि अब नर्क जाना पड़ेगा। ऐसे ही चिंताएं कम न थीं, चिंता और बढ़ गयी, बेचैनी और बढ़ गयी।
सदगुरु स्वीकार करेगा कि तुम जैसे हो, ऐसे ही हो सकते थे अब तक। इसमें कुछ बड़े परेशान होने की बात नहीं है। इसका यह मतलब नहीं है कि वह यह कहता है कि तुम सदा ऐसे ही रहो, वह मार्ग खोजता है। लेकिन मार्ग में कोई निंदा नहीं है। मार्ग में तुम्हारे अतीत का कोई तिरस्कार नहीं है, सिर्फ तुम्हारे भविष्य का द्वार है।
फर्क समझना। सदगुरु के पास तुम्हारे अतीत की कोई निंदा नहीं है। हां, तुम्हारे भविष्य का जरूर वह द्वार खोलता है। वह कहता है कि देखो, यह हो सकता है। ये स्वर्ण-शिखर तुम्हारे जीवन में उठ सकते हैं। मैं तुमसे यह कह रहा हूं कि सदगुरु के पास नर्क की धारणा ही नहीं होती, सिर्फ तुम जिस स्वर्ग से चूक रहे हो, उसकी तरफ इशारा होता है। नर्क की धारणा ही नहीं होती।
नर्क की धारणा असदगुरु का लक्षण है। दुष्ट आदमी का लक्षण है, हिंसा जिसके भीतर पड़ी है अभी। वह एकदम तुम पर टूट पड़ता है। और टूट पड़ने के कारण बड़े मनोवैज्ञानिक हैं। वह खुद भी अभी डरता है कि ये काम उसके भीतर भी पड़े हैं। अगर वह इन बातों को स्वीकार करे, तो बड़ी अड़चन खड़ी हो जाएगी।
समझो कि तुमने कहा कि मैं शराब पीता हूं; अगर वह कहे, कोई हर्जा नहीं,
तो इसमें एक खतरा है। अभी शराब पीने की वासना उसमें भी पड़ी है। अगर वह कहे, इसमें कोई हर्जा नहीं, तुमसे यह कहे कि इसमें कोई हर्जा नहीं, तो खुद भी तो सुन रहा है कि इसमें कोई हर्जा नहीं। खतरा है! अगर यह बात बार-बार कहनी पड़े कि इसमें कोई हर्जा नहीं, तो खुद के भीतर जो वासना पड़ी है शराब पीने की, वह फिर कहेगी, तो फिर तुम क्यों नहीं पीते, फिर हर्जा नहीं है तो क्यों बैठे हो, क्यों व्यर्थ समय गंवा रहे हो?
तुमने जाकर कहा कि मुझे किसी की स्त्री से प्रेम हो गया है, मैं क्या करूं? क्या हो? वह टूट पड़ेगा एकदम। वह तुम पर नहीं टूट रहा है, वह अपनी ही रक्षा कर रहा है, ख्याल रखना। तुम मनोवैज्ञानिकों से पूछो कि वह क्या कर रहा है? वह सेल्फ डिफेंस में है। वह आत्मरक्षा कर रहा है। वह तुम पर टूट पड़ा एकदम कि यह बिल्कुल पाप है, महापाप है, नर्क में जाओगे! यह वह तुमसे

इसलिए कह रहा है कि पास-पड़ोस की स्त्रियों में उसे भी रस है। और यही समझा- बुझाकर वह अपने को रोक रहा है, कि नर्क जाना पड़ेगा, महापाप हो जाएगा, भूलकर यह मत करना। भूलकर ऐसी बात में मत पड़ना। जब वह तुम पर टूटता है तो वह खबर दे रहा है कि वह डरा है अपने भीतर। वह तुम्हें कैसे स्वीकृति दे? तुम्हें स्वीकृति देने में तो स्वयं को भी स्वीकृति मिल जाएगी। इसलिए वह स्वीकार नहीं कर सकता।
और भय पैदा करता है, भय के कारण तुम उसके सामने नग्न नहीं हो पाते। इसलिए न तो गुरु गुरु है, न शिष्य शिष्य है। दोनों के बीच एक औपचारिक संबंध है, थोथा, ऊपर-ऊपर का, सांसारिक। आध्यात्मिक संबंध वहां पैदा होता है जहां तुम जानते हो, गुरु समझेगा। गुरु न समझेगा तो कौन समझेगा? जहां वह स्वीकार करेगा। जहां तुम जैसे हो वैसा ही अंगीकार करेगा। तुम्हारे अतीत के प्रति कोई निंदा का भाव नहीं होगा। तुम्हें उसके सामने नीचा नहीं देखना पड़ेगा। और साथ ही साथ वह तुम्हारे भविष्य का द्वार जरूर खोलेगा। वह कहेगा, यह हो सकता है।
जब मेरे पास कोई आता है कि शराब मैं पीता हूं, मैं कहता हूं, तू शराब की फिकर मत कर, ध्यान कर। वह कहता है, लेकिन शराब पीने वाला ध्यान कर सकता है! मैं उससे कहता हूं, अगर शराब पीने वाला ध्यान न कर सके, तब तो फिर शराब पीने वाला शराब से कभी मुक्त ही न हो सकेगा। मैं उससे कहता हूं कि तू तो ऐसी बात पूछ रहा है जैसे कि कोई मरीज डाक्टर से पूछे कि क्या बीमार दवाई ले सकता है? बीमार दवाई न लेगा तो कौन दवाई लेगा? और जब तुम डाक्टर के पास जाते हो और तुम कहो कि मुझे टी.बी. हो गयी और वह एकदम तुम्हारी गर्दन पर सवार हो जाए और कहे कि नर्क में सड़ोगे, तो तुम भी हैरान होओगे कि यह तो बड़ी मुश्किल हो गयी! एक तो टी.बी. और अब नर्क में सड़ना पड़ेगा! औषधि की तो बात ही न करे वह! चिकित्सक औषधि की बात करता है। वह कहता है, यह औषधि है, कोई फिकर न करो। इस औषधि से ठीक हो जाएगी। शराबी को मैं कहता हूं, ध्यान करो; क्योंकि मैं कहता हूं कि ध्यान में और भी ऊंची शराब के पीने का सौभाग्य मिलता है। अंगूरों की शराब पी है, अब जरा आत्मा की शराब पीओ। और जब तुम्हें बेहतर शराब मिलने लगेगी तो कौन ठर्रा पीता है! जब तुम्हें भीतर की शराब मिलने लगेगी तो कौन बाहर की शराब पीता है! जब तुम्हें परमात्मा की शराब मिलने लगेगी तो फिर कौन छुद्र बातों में उलझता है! वे अपने से छूट जाती हैं। बुद्ध ने उसकी निंदा नहीं की, लेकिन उसके लिए द्वार खोला।
बुद्ध ने कहा, विजय मूल्यवान नहीं है। फिर सत्य को छोड़कर जो विजय मिले भी, वह हार से भी बदतर है, हत्थक!
उसका सार क्या! प्रयोजन क्या! सत्य ही एकमात्र मूल्य है। और जहां सत्य है, वहीं असली विजय है। अगर तू जीतना ही चाहता है तो सत्य के साथ ही जीत। सत्यमेव जयते। सत्य जीतता है, हम थोड़े ही जीतते हैं, बुद्ध ने कहा। हम सत्य के साथ हो जाते हैं तो हम भी जीत जाते हैं। असत्य हारता है। असत्य के साथ हो जाते हैं, हम भी हार जाते हैं। और असत्य से जो जीत मिलती है, वह सिर्फ धोखा है। वह क्षणभर का धोखा है। वह ज्यादा देर न टिकेगा, वह बबूले की तरह टूट जाएगा। सत्य के साथ हार जाना भी विजय और सौभाग्य है। धन्यभागी हैं वे, जो सत्य की यात्रा में हार जाएं। और अभागे हैं वे, जो असत्य की यात्रा में जीत जाएं।
भिक्षु, ऐसा करके तो तू श्रमण नहीं होगा।
उससे कहा कि देख, तू संन्यस्त हुआ, तूने श्रमण होने की आकांक्षा की है,
तू साधु हुआ, ऐसे तो तू श्रमण न हो सकेगा।
क्योंकि जिसने सभी महत्वाकांक्षाओं को शमित कर लिया, वही श्रमण है।
और यह तो बड़ी विक्षिप्त महत्वाकांक्षा है, विजय की महत्वाकांक्षा। और ऐसे झूठे उपाय कर रहा है! तभी उन्होंने ये सूत्र कहे--

न मुंडकेन समणो अब्बतो अलिकं भणं।
इच्छालाभ समापन्नो समणो किं भविस्सति।।
यो च समेति पापानि अणु थूलानि सब्बसो।
समितत्ता हि पापानं समाणोति पवुच्चति।।

"जो व्रतरहित और मिथ्याभाषी है, वह मुंडित मात्र हुआ होने से श्रमण नहीं होता। इच्छालाभ से भरा हुआ पुरुष क्या श्रमण होगा?"
"जो छोटे-बड़े पापों का सर्वथा शमन करने वाला है, वह पापों के शमन के कारण ही श्रमण कहलाता है।"
जरा ख्याल करना, व्यक्तिगत रूप से उससे कुछ भी नहीं कह रहे हैं। निर्वैयक्तिक सत्य कह रहे हैं। ऐसा नहीं कहा कि तू पापी है। ऐसा नहीं कहा कि तू संन्यासी नहीं है। भेद समझना। उससे तो कुछ कहा ही नहीं सीधा-सीधा। सिर्फ एक सार्वलौकिक सत्य की उदघोषणा की। उसको तो जैसे प्रसंग में ही न लिया। जैसे वह तो केवल एक निमित्त था, उस निमित्त एक धार्मिक उदघोषणा की। "जो व्रतरहित और मिथ्याभाषी है, वह मुंडित मात्र होने से श्रमण नहीं होता।"
उससे नहीं कहा कि तू श्रमण नहीं है। वह तो निंदा हो जाती। उससे नहीं कहा कुछ भी कि तू पापी है, कि तू साधु नहीं है, कि तू असाधु है, उससे तो कुछ बात ही नहीं कही।
सदगुरु सार्वभौम सत्य बोलते हैं। व्यक्तियों से भी बोलते हैं तो भी व्यक्तियों को सीधा संबोधित नहीं करते। क्योंकि व्यक्ति को सीधा संबोधित करने में व्यक्ति को झिझक होगी, संकोच होगा, ग्लानि होगी। फिर वह झूठ बोलने लगेगा। फिर वह गुरु के सामने भी सीधा-सीधा प्रगट न हो सकेगा। कोई तो शरण चाहिए जहां सब हम अपने मन का भार उतारकर रख सकें। और जहां हमें एक भरोसा हो कि निंदा न मिलेगी, अपमान न मिलेगा।
"जो व्रतरहित और मिथ्याभाषी है, वह मुंडित मात्र होने से संन्यस्त नहीं होता। और इच्छालाभ से भरा हुआ पुरुष तो कैसे संन्यासी होगा?" इच्छालाभ! प्रतिस्पर्धा। विजय की आकांक्षा। महत्वाकांक्षा। एंबिशन। "जो छोटे-बड़े पापों का सर्वथा शमन करने वाला है... ।"
कहा--छोटे-बड़े पापों का। क्योंकि पाप वस्तुतः न छोटे होते, न बड़े। पाप
तो बस पाप है। ऐसा थोड़े ही है कि तुमने दो लाख की चोरी की तो बड़ी चोरी की और दो पैसे चुराए तो छोटी चोरी की। चोरी तो चोरी है। दो पैसे की उतनी ही है, जितनी दो लाख की है। क्योंकि चोरी का कोई संबंध तुमने कितना चुराया है, उससे नहीं है, तुमने चुराया बस इससे है।
अब इस भिक्षु हत्थक ने कोई बड़ा पाप नहीं किया था। किसी की हत्या नहीं
की, किसी की पत्नी नहीं ले भागा, कहीं जुआ नहीं खेला, कोई शराब नहीं पी ली थी, जरा सा झूठ। और वह भी इस आकांक्षा में कि बुद्ध का वचन विपरीत संप्रदायों के मुकाबले विजयी घोषित हो। कोई बड़ा पाप नहीं किया था। लेकिन छोटा ही सही! मगर छोटा कहीं पाप होता? पाप तो पाप ही है। झूठ तो झूठ ही है। छोटा झूठ, बड़ा झूठ, सब बराबर होते। उनकी मात्राओं में कभी कोई भेद नहीं होता। छोटी चोरी, बड़ी चोरी, सब बराबर होती है।
दूसरा दृश्यः

एक ब्राह्मण दार्शनिक भगवान के पास आया और बोला, हे गौतम! आप अपने शिष्यों को भिक्षाटन करने से भिक्षु कहते हैं। मैं भी भिक्षाटन करता हूं, अतः मुझे भी भिक्षु कहिए। वह विवाद करने को उत्सुक था और किसी भी बहाने उलझने को तैयार था। शब्दों पर उसकी पकड़ थी, सो उसने भिक्षु शब्द से ही विवाद को उठाने की सोची। उसे तो बस कोई भी निमित्त चाहिए था।
भगवान ने उससे कहा, ब्राह्मण, भिक्षाटन मात्र से कोई भिक्षु नहीं होता; हां, भिखारी चाहो तो मान ले सकते हो। पर भिखारी और भिक्षु पर्यायवाची नहीं हैं। मैं भिक्षु उसे कहता हूं, जिसने सब संस्कार छोड़ दिए। जिसके पास भीतर कोई संस्कार न बचे, उसे भिक्षु कहता हूं।
जिसको जीसस ने पुअर इन स्प्रिट कहा है। ब्लेसेड आर द पुअर इन स्प्रिट, धन्य हैं वे जो भीतर से दरिद्र हैं। ईसाइयत के पास इसकी ठीक व्याख्या नहीं है कि क्या मतलब है जीसस का--भीतर से दरिद्र। बुद्ध के इस वचन में उसकी व्याख्या है। संस्काररहित। जिसने सारी कंडीशनिंग छोड़ दी।

समझो, यह बात बड़ी मूल्य की है। हम संस्कारों से जीते हैं। कोई कहता, मैं हिंदू; कोई कहता, मैं मुसलमान; कोई कहता, मैं ईसाई; यह संस्कार है। कोई पैदा तो नहीं होता हिंदू की भांति, न कोई ईसाई की भांति। तुम हिंदू घर में बड़े हुए, तो एक संस्कार पड़ा। लोगों ने कहा कि तुम हिंदू हो तो तुम मानते हो कि तुम हिंदू हो। तुम हिंदू हो? कैसे? तुम्हें मुसलमान घर में रख दिया होता बचपन से और वहां तुम बड़े हुए होते तो तुम मुसलमान होते। तो यह तो संस्कार है। आए तो थे तुम बिल्कुल शुद्ध दर्पण की भांति; कोरा कागज आए थे; फिर उस पर लिखावटें पड़ीं। भारतीय घर में रहे, तो भारतीय भाषा सीखी। अरब में होते तो अरबी सीखते और चीन में होते तो चीनी सीखते। तो भाषा संस्कार है।
समझना। भाषा लेकर तुम आए नहीं थे, मौन लेकर आए थे। भाषा सीखी। मौन स्वभाव था, भाषा पर-भाव है। दूसरे ने डाला। जब तुम आए थे, तब तुम न बुद्धू थे, न विद्वान थे। कोई बच्चा न बुद्धू होता, न विद्वान होता। यह तो अभी समय लगेगा, बुद्धू और बुद्धिमान होने में अभी वक्त लगेगा। कई काम होंंगे, कई संस्कार पड़ेंगे, स्कूल में परीक्षाएं होंगी, न-मालूम कितनी प्रक्रियाओं से गुजरेगा, तब कोई इसमें विद्वान हो जाएगा, कोई इसमें बुद्धू हो जाएगा। आए थे बिल्कुल एक जैसे, हो गए अलग-अलग।
संस्कार का अर्थ है, जो हमने जन्म के बाद सीखा। जो सीखा, उसका नाम संस्कार है। संस्कार स्वभाव नहीं है। संस्कार स्वभाव के ऊपर पड़ गयी धूल है। स्वभाव तो है दर्पण जैसा और संस्कार है धूल जैसा। जब धूल की बहुत पर्तें पड़ जाती हैं दर्पण पर, तो फिर दर्पण में प्रतिबिंब नहीं बनता। बुद्ध कहते हैं, जिसने यह सारी धूल झाड़ दी, उसको मैं भिक्षु कहता हूं।
और क्यों भिक्षु कहता हूं? क्योंकि न वह हिंदू रहा--गरीब हो गया उतना; न ब्राह्मण रहा--गरीब हो गया उतना; न चीनी रहा, न हिंदुस्तानी रहा--और गरीब हो गया। ऐसे धीरे-धीरे सब छूटता जाता, जो-जो हमने अर्जित किया है, जो-जो हमारी संपत्ति है, वह सब छूट जाती है। संस्कार यानी संपत्ति। फिर कोरा कागज रह गया, उस कोरे कागज को बुद्ध ने कहा, भिक्षु। और ठीक यही अर्थ जीसस का है, पुअर इन स्प्रिट, जो आत्मा में दरिद्र है। आत्मा में कहीं कोई दरिद्र होता है! आत्मा में तो आदमी समृद्ध होता है।
लेकिन मतलब समझ लेना--बाहर के संस्कार जब सब छूट जाते हैं, बाहर की दृष्टि से जब आत्मा बिल्कुल कोरी हो जाती है, दरिद्र हो जाती है, तभी भीतर की दृष्टि से समृद्ध होती है।
जीसस का पूरा वाक्य हैः ब्लेसेड आर द पुअर इन स्प्रिट, फार देयर्स इज
द किंगडम आफ गाड। बड़ा अनूठा वचन है। धन्यभागी हैं जो आत्मा में दरिद्र हैं, क्योंकि परमात्मा का राज्य उन्हीं का है। एक ही वचन में दोनों बातें कह दी हैं। बाहर से दरिद्र हो गए, भीतर से इतने समृद्ध हो गए कि परमात्मा के राज्य के मालिक हो गए।
यही कारण है, दो शब्द हमने इस देश में चुने हैं। हिंदुओं ने चुना स्वामी-- संन्यासी के लिए--बौद्धों ने चुना भिक्षु। हिंदुओं ने भीतर का ध्यान रखा, वह जो घटेगा, संस्कार के छूट जाने पर वह जो परमात्मा का राज्य मिलेगा, उसको ध्यान में रखकर कहाः स्वामी। और बुद्ध ने कहा, वह तो बाद में घटेगा, तब घटेगा, वह तो देर की बात है, पहले तो भिक्षु होना पड़ेगा। हिंदुओं ने अंत को ख्याल में रखा, बुद्ध ने प्रारंभ को ख्याल में रखा।
और मेरी दृष्टि में प्रारंभ को ख्याल में रखना ज्यादा मूल्यवान है, क्योंकि अंत तो आ जाएगा; बीज तो बोओ, फल तो लग जाएंगे। लेकिन कहीं ऐसा न हो कि पहले से ही आदमी अकड़कर बैठ जाए कि मैं स्वामी हूं, तो भिक्षु हो ही न पाए। और जो भिक्षु नहीं हुआ, वह स्वामी न हो सकेगा।
तो भगवान ने कहा, ब्राह्मण, भिक्षामात्र करने से कोई भिक्षु नहीं होता। भिखारी चाहो तो मान ले सकते हो।
खूब गहरा भेद किया। भाषाकोश में तो एक ही बात लिखी है, भिक्षु कहो कि भिखारी, क्या फर्क पड़ता है! भिक्षाटन जो करता वह भिखारी और भिक्षाटन जो करता--भिक्षु। इसलिए बुद्धों के वचन समझने हों तो भाषाकोश का सहारा नहीं

लेना चाहिए। उनके प्रत्येक शब्द का अर्थ उनसे ही पूछना चाहिए। वे बोलते तो भाषा हैं, लेकिन भाषा में कुछ ऐसा बोलते हैं जो भाषा से बहुत पार का है।
भिखारी और भिक्षु पर्यायवाची नहीं हैं। भाषाकोश में तो हैं, लेकिन जीवन के अनुभव में, जीवन के कोश में नहीं हैं।
मैं उसे भिक्षु कहता हूं, जिसने सब संस्कार छोड़ दिए।
जिसने सारी कंडीशनिंग छोड़ दी, जो अनकंडीशंड हो गया। जो संस्कार-शून्य
हो गया। जो सहज निर्मल हो गया। जैसा आया था जन्म के क्षण वैसा फिर हो गया, बीच में जो-जो लिखावट बनी, सब पोंछ डाली। उसको भिक्षु कहता हूं। और उसे भिक्षु कहता हूं, जो भीतर एक शून्य मात्र हो गया है; वह शून्य ही असली भिक्षापात्र है। जिसके भीतर एक शून्य पैदा हो गया, जिसको इतना भी भाव नहीं रहा कि मैं हूं।
इसलिए बुद्ध ने आत्मा शब्द का उपयोग नहीं किया, क्योंकि आत्मा शब्द में मैं हूं की भनक है। बुद्ध ने शब्द प्रयोग किया, अनात्मा। बड़े अनूठे व्यक्ति थे बुद्ध। उन्होंने शब्द प्रयोग किया, अनत्ता। अत्ता का अर्थ होता है--मैं, अनत्ता का अर्थ होता है--न-मैं। आत्मा का अर्थ होता है--मैं, अनात्मा का अर्थ होता है--न-मैं। भारत की हजारों वर्ष की परंपरा थी आत्मा शब्द को बड़ा बहुमूल्य मानने की, बुद्ध ने वह परंपरा भी तोड़ दी। उन्होंने कहा, यह आत्मा शब्द अज्ञान से भरा है। इसमें मैं का भाव बचा रहता है। मैं का भाव तो जाना चाहिए। मैं तो संस्कारों का ही नाम है। सब संस्कारों के जोड़ से मैं बनता है। जब सारे संस्कार चले गए तो कैसा मैं? कोरा आकाश रह जाता है। बदलियां तो गयीं, बादल तो गए, निरभ्र आकाश रह गया। उस आकाश को बुद्ध कहते हैं, वही असली भिक्षापात्र है। और जिसने उस भीतर के भिक्षापात्र को पा लिया, उसे मैं भिक्षु कहता हूं।
और तब उन्होंने ये गाथाएं कहीं--

योध पुंंच पापंच वाहित्वा ब्रह्मचरिय वा।
संखाय लोके चरति स वे भिक्खूति वुच्चति।।

"जो पुण्य और पाप, दोनों को त्यागकर ब्रह्मचर्य से रहता है, ज्ञानपूर्वक लोक में विचरण करता है, वह भिक्षु। उसे मैं भिक्षु कहता हूं।" समझना इस सूत्र को--
"जो पुण्य और पाप, दोनों को त्यागकर।"
साधारणतः हमसे कहा जाता है, पाप त्यागो। बुद्ध कहते हैं, पाप तो त्यागो ही, लेकिन पुण्य को मत पकड़ लेना। नहीं तो कुएं से बचे, खाई में गिरे। लोहे की जंजीरें टूटीं, सोने की जंजीरें ढाल लीं। पाप तो बांधता ही है, पुण्य भी बांधता है।
देखते नहीं, पुण्यात्मा भी कैसा अकड़ जाता है, कैसे मैं से भर जाता है
कि मैंने पुण्य किया, कि मैं पुण्यधर्मा हूं, कि दानी हूं, कि ऐसा हूं, कि वैसा हूं। देखते हैं समाज-सेवक को कि कैसा अकड़कर चलने लगता है कि मैं समाज की सेवा कर रहा हूं। यह अकड़ तो फिर अहंकार ही बन जाएगी।
इसलिए बुद्ध कहते हैं, मैं भिक्षु उसे कहता हूं, जिसने पाप तो छोड़ा ही, पुण्य भी छोड़ा। जिसने सब छोड़ा, जिसने पकड़ना छोड़ा। जिसने कर्ता का भाव छोड़ा। जिसने सिर्फ एक भाव भीतर गहरा लिया--शून्य है, शून्य है, और कुछ भी नहीं है। इसलिए बुद्ध का दर्शन शून्यवाद कहलाया।
"और जो ज्ञानपूर्वक लोक में विचरण करता है।"
ज्ञानपूर्वक शब्द का ठीक अर्थ समझ लेना। बुद्ध की बड़ी विशिष्ट परिभाषा है। ज्ञानपूर्वक का यह अर्थ नहीं कि जो शास्त्रों को सिर पर रखे हुए जगत में विचरण करता है। ज्ञानपूर्वक का अर्थ होता है, बोधपूर्वक, स्मृतिपूर्वक, होशपूर्वक, अवेयरनेस के साथ जो जगत में विचरण करता है। एक-एक कदम जो होशपूर्वक उठाता है; श्वास भी जो होशपूर्वक लेता है; जो अपने जीवन में कुछ भी बेहोशी में नहीं करता, उसे मैं भिक्षु कहता हूं।
"और जो पाप और पुण्य दोनों को त्यागकर ब्रह्मचर्य से रहता है।"

ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ उतना नहीं है, जैसा तुमने मान रखा है, उससे बहुत बड़ा है। ब्रह्मचर्य का ठीक अर्थ होता है, ब्रह्म की चर्या। ईश्वरीय चर्या। ब्रह्मचर्य का इतना ही अर्थ नहीं होता जितना अर्थ अंग्रेजी के सेलिबेसी का होता है। ब्रह्मचर्य का इतना ही मतलब नहीं होता कि जो कामवासना में नहीं उतरता। वह तो बड़ा छोटा अर्थ है। वह तो है ही, लेकिन वह बड़ा छोटा अर्थ है, उतने पर बात समाप्त नहीं होती। ब्रह्मचर्य की पूरी बात तो तब होती है, जब कोई व्यक्ति ईश्वरीय चर्या में जीता है। ऐसे जीता है जैसे ईश्वर जीता है। इससे कम में ब्रह्मचर्य नहीं।
तो बुद्ध ने कहा, मैं भिक्षु उसको कहता हूं जिसकी चर्या ईश्वर जैसी है। इतनी शुद्ध, इतनी निर्मल, इतनी पवित्र। इतनी पवित्र कि पुण्य भी उसने त्याग दिया। और इतनी शांत और इतनी मौन कि वहां सदा स्मृति का दीया जलता रहता है। उठता है भिक्षु, बैठता है भिक्षु, चलता है भिक्षु, भोजन करता, पानी पीता, लेकिन हर वक्त स्मृति का दीया जलता रहता है--जागरूक। जिसको गुरजिएफ ने सेल्फ रिमेंबरिंग कहा है। आत्मस्मरण से भरा रहता है।
बुद्ध का शब्द है, सम्यक-स्मृति। ठीक-ठीक जानता रहता है कि मैं क्या
कर रहा हूं। जिसके जीवन में अनजाने कुछ भी नहीं होता। इसका अर्थ यह हुआ कि अंततः जिसका अचेतन मन विसर्जित हो जाएगा। क्योंकि जब अनजाने कुछ भी नहीं होता तो धीरे-धीरे भीतर रोशनी बढ़ती जाएगी, अचेतन समाप्त हो जाएगा, चैतन्य ही रह जाएगा। पूरा घर देदीप्यमान हो जाएगा। उसको मैं भिक्षु कहता हूं। तीसरा दृश्यः

भिक्षु गृहस्थों के घर निमंत्रित होने पर भोजनोपरांत दानानुमोदन करते थे। किंतु तीर्थक सुखं होतु आदि कहकर ही चले जाते थे। लोग स्वभावतः भिक्षुओं की प्रशंसा करते और तीर्थकों की निंदा करते थे। यह जानकर तीर्थकों ने, हम लोग मुनि हैं, मौन रहते हैं, श्रमण गौतम के शिष्य भोजन के समय महाकथा कहते हैं, बकवासी हैं, ऐसा कहकर प्रतिक्रिया में निंदा शुरू कर दी।
बुद्ध ने अपने भिक्षुओं को सदा कहा है कि जितना लो, उससे ज्यादा लौटा देना। कहीं ऋण इकट्ठा मत करना। इसलिए बुद्ध का भिक्षु जब भोजन भी लेता कहीं तो भोजन के बाद, धन्यवाद के रूप में, जो उसको मिला है उसकी थोड़ी बात करता था। जो आनंद उसने पाया, जो ध्यान उसे मिला है, जो शील की संपदा उसे मिली है, जो नयी-नयी किरणें और नयी-नयी उमंगों के तूफान उसके भीतर उठ रहे हैं, जो नया उत्सव उसके भीतर जगा है; जो नए गीत, नए नृत्य उसके भीतर आ रहे हैं, भोजन लेता तो धन्यवाद में वह अपने भीतर की कुछ खबर देता। भोजन लिया है, ऋणी नहीं होना है। स्वभावतः, जो तुम्हारे पास है वह दे देना। दो रोटी के बदले बुद्ध का भिक्षु बहुत कुछ लौटाता था। वह अपना सारा प्राण उंडेल देता था।
तो भिक्षु गृहस्थों के घर निमंत्रित होने पर भोजनोपरांत दानानुमोदन करते थे। किंतु तीर्थक सुखं होतु आदि कहकर ही चले जाते थे।
सुखी होओ, इतना कहकर चले जाते थे। स्वभावतः, लोगों को बुद्ध के भिक्षु प्रीतिकर लगते कि कुछ कहते तो हैं, कुछ समझाते तो हैं, कुछ जगाते तो हैं--हम जगें न जगें, यह हमारी बात, लेकिन अपनी तरफ से चेष्टा तो करते हैं। और जैनों के मुनि केवल सुखं होतु, सुखी होओ, इतना कहकर चले जाते हैं। स्वभावतः, जैन-मुनियों को यह बात अखरने लगी और उन्होंने प्रतिक्रिया में यह निंदा शुरू की--हम लोग मुनि हैं, मौन रहते हैं, श्रमण गौतम के शिष्य भोजन के समय महाकथा कहते हैं, बकवासी हैं। चुप रहना चाहिए, मुनि को चुप होना चाहिए, ऐसा कहकर निंदा शुरू की।
भिक्षुओं ने यह बात भगवान से कही। शास्ता ने उन्हें कहा, भिक्षुओ, मौन रहने मात्र से कोई मुनि नहीं होता। क्योंकि भीतर हजार विचार चलते रह सकते हैं। मौन का बोलने न बोलने से कोई वास्ता नहीं है। मौन तो निर्विचार दशा का नाम है।
समझो। चुप रहने का नाम मौन नहीं है। चुप तो आदमी हजार कारणों से रह जाता है। चोर से पूछो, चोरी की है? चुप रह जाता है। इसका अर्थ मौन तो नहीं।

किसी से पूछो, ईश्वर है? चुप रह जाता है। इसका अर्थ मौन तो नहीं। कोई किसी कारण चुप रह जाता है, कोई किसी और कारण चुप रह जाता है, लेकिन चुप रहने से मौन का कोई संबंध नहीं है। भीतर तो हजार विचार चलते ही रहते हैं। भीतर विचार न चलें। जब तक मन है, तब तक मौन नहीं। मन की मृत्यु का नाम मौन है। मन मर जाए तो मौन। भीतर विचार न चलें, तरंगें न उठें, तो मौन।
तो बुद्ध ने कहा, भिक्षुओ, मौन रहने मात्र से कोई मुनि नहीं होता, क्योंकि भीतर हजार विचार चलते रह सकते हैं।
तुमने भी देखा होगा, कभी घड़ीभर को बैठ जाते हो चुप होकर, कहां चुप हो पाते हो? सच तो यह है, और ज्यादा विचारों से भर जाते हो, जितने पहले भी नहीं भरे थे। दुकान पर रहते हो, काम-धाम में लगे रहते हो, इतने विचारों का पता नहीं चलता--वे चलते रहते भीतर, मगर तुम दूसरे काम में उलझे रहते हो, तुम्हें पता नहीं चलता। बैठे कभी घड़ीभर को आंख बंद करके तो विचारों का एकदम उत्पात शुरू होता है, तूफान उठते हैं, अंधड़ उठते हैं। न-मालूम कहां- कहां के विचार! जिनकी कोई संगति नहीं, कोई तुक नहीं तुम्हारे जीवन से; तुम सोच ही नहीं पाते कि यह भी क्या मामला है! यह क्यों चल रहा है? उठते हैं, बेतुके, असंगत, और एक के पीछे एक, कतार बंध जाती है। और चलते ही चले जाते हैं, उनका कोई अंत नहीं मालूम होता। तुम्हें थका डालते हैं। तो चुप रहना तो मौन नहीं है।
बुद्ध ने कहा, मौन का बोलने न बोलने से कोई वास्ता नहीं है। मौन का वास्ता तो है निर्विचार दशा से। और वह अंतर्दशा बोलने से भी भंग नहीं होती।
यह बात बड़ी गहरी है।
और वह अंतर्दशा बोलने से भी भंग नहीं होती।
यह मैं तुम्हें अपने अनुभव से भी कहता हूं। मौन बोलने से भंग होता ही नहीं। मौन इतनी गहरी घटना है कि एक दफा घट जाए, तुम्हारे भीतर सघन हो जाए मौन, फिर तुम बोलते रहो, बोलना ऊपर-ऊपर होता है, भीतर मौन की धारा बहती रहती है। अभी तुम जानते न, ऊपर से चुप हो जाओ, ऊपर चुप्पी होती है, भीतर विचार की धारा होती है। ठीक इससे उलटा भी होता है। बाहर विचार की धारा चलती रहे और भीतर मौन का गहन प्रभाव होता है।
तो बुद्ध ने कहा, और वह अंतर्दशा बोलने से भी भंग नहीं होती है।
बोलने से जो भंग हो जाए, वह भी कोई मौन है! वह तो कोई मौन न हुआ। वह तो केवल मौन का धोखा हुआ। वह तो केवल मौन का ऊपरी, औपचारिक आयोजन हुआ।
फिर कुछ इसलिए चुप रहते हैं कि जानते नहीं, बोलें भी तो क्या बोलें! न बोलने से कम से कम अज्ञान तो छिपा रहता है। और कुछ जानते हुए भी नहीं बोल पाते हैं, क्योंकि बोलने की दक्षता नहीं है।
गीत तो सबके भीतर उठते हैं, गा बहुत कम लोग पाते हैं--क्योंकि गीत गाने
की दक्षता! नाच तो सभी के भीतर उठता है, लेकिन नाच बहुत कम लोग पाते हैं-- क्योंकि नाचने की दक्षता!
अक्सर तुम्हें ऐसा लगा होगा--किसी और का गीत सुनकर तुम्हें नहीं लगा है--अरे, ऐसा ही मैं भी गाना चाहता था। और किसी और की बात सुनकर तुम्हें नहीं लगा है बहुत बार कि मेरी बात छीन ली! ऐसा ही मैं कहना चाहता था।
सच तो यह है, जब भी तुम्हें किसी की बात हृदय के बहुत अनुकूल पड़ती है,
तो इसीलिए पड़ती है--तुम भी उसे कहना चाहते थे वर्षों से, नहीं कह पाए, तुम दक्ष न थे; किसी और ने कह दी, तत्क्षण तुम्हारे भीतर उतर गयी। तुम्हारे भीतर तैयार ही थी, लेकिन स्पष्ट नहीं हो रही थी, अप्रगट थी, छिपी-छिपी थी, धुंधली-धुंधली थी, किसी ने साफ-साफ कह दी।
सदगुरु तुम्हें सत्य देता थोड़े ही है, जो सत्य तुम्हारे भीतर धुंधला- धुंधला है, उसके सत्य के साथ-साथ स्पष्ट होने लगता है। सदगुरु के सत्य के साथ-साथ तुम्हारे भीतर का सत्य तुम्हें स्पष्ट होने लगता है। सत्य दिया नहीं जाता, सत्य लिया नहीं जाता, सत्य कोई हस्तांतरण होने वाली संपदा नहीं है। मैं तुम्हें कुछ दे नहीं सकता, तुम जो बोलना चाहते हो, तुम जो कहना चाहते हो, तुम जो जानना चाहते हो, उसे मैं अपने ढंग से कह देता हूं, शायद

तुम्हारे भीतर संगति बैठ जाए उससे, तार जुड़ जाएं और तुम भी आंदोलित हो उठो।
संगीतज्ञ कहते हैं, अगर एक शांत, शून्य कमरे में एक कोने में वीणा रखी
हो और कोई कुशल वादक दूसरे कोने में बैठकर वीणा बजाए, तो वह जो खाली रखी वीणा है, उसके तार कंपने लगते हैं। उनसे भी धीमी-धीमी ध्वनि उठने लगती है। बस ऐसा ही होता है।
सदगुरु के पास शिष्य मौन बैठा होता है, शांत बैठा होता है, स्वीकार करने के भाव में, श्रद्धा में डूबा बैठा होता है, टकटकी लगाए। इधर गुरु की वीणा बजती, वहां शिष्य के भीतर के वर्षों-वर्षों, जन्मों-जन्मों से सूने पड़े तार हिलने लगते हैं। इसके लिए ठीक-ठीक शब्द जुंग ने खोजा है। वह शब्द है--सिंक्रानिसिटी। यहां कुछ होता है, ठीक वैसा ही दूसरे हृदय में होने लगता है अगर हृदय खुलने को तैयार हो--ठीक वैसा ही। न यहां से वहां कुछ जाता, न वहां से यहां कुछ आता, समानांतर घटना घटने लगती है।
तुमने नहीं देखा, कभी कोई तबला बजाता और तुम्हारे पैर थिरकने लगते हैं! कभी किसी नर्तक को देखकर तुम भी ताल देने लगते। क्या हो जाता है? सिंक्रानिसिटी। वहां कुछ घट रहा है, तुम्हारे भीतर भी कोई सोया हुआ पड़ा है, यहां भी कुछ घटने लगता है। आखिर तुम भी तो हो नर्तक! न नाचे होओ कभी, यह दूसरी बात है। लेकिन मीरा तुम्हारे भीतर भी सोयी तो पड़ी है। मीरा कभी नाचती हो बाहर--संयोग मिल जाए--और तुम डरे-डरे आदमी न होओ, भयभीत आदमी न होओ, तर्क में छिपे आदमी न होओ, तुम हृदय को खोल सको, द्वार-दरवाजे खोल सको और मीरा का झोंका तुम्हारे भीतर से गुजर जाए, तो तुम्हारी मीरा भी जग उठेगी! बस ऐसा ही होता है।
तो बुद्ध ने कहा, कुछ जानते हुए भी नहीं बोल पाते हैं, क्योंकि बोलने
की दक्षता नहीं है। और कुछ कृपणता के कारण नहीं बोलते हैं, क्योंकि जो उन्होंने जाना है, कहीं उसे दूसरे न जान लें। उसको संपत्ति की तरह पकड़कर रखते हैं। पहले तो जानना कठिन, फिर जाने हुए को जनाना और भी कठिन। शून्य में जाने हुए को शब्द तक लाने के लिए महाकरुणा अनिवार्य है।
इसलिए बुद्ध ने अपने भिक्षुओं से कहा, इसकी चिंता मत करो कि दूसरे क्या कहते हैं; तुमने जो जाना है, उसे जनाओ। तुम्हें जो मिला है, उसे बांटो। कहने दो, दूसरे क्या कहते हैं, इसकी चिंता मत लो।
पहले तो जानना कठिन और फिर जाने हुए को जनाना और भी कठिन।
दुनिया में सत्य को बहुत लोग उपलब्ध नहीं होते, लेकिन फिर भी काफी लोग उपलब्ध होते हैं। मगर जो लोग सत्य को उपलब्ध होते हैं, उनमें सभी लोग सदगुरु नहीं हो पाते। सदगुरु तो वही हो पाता है, जिसने जाना और जनाया भी। सत्य को तो उपलब्ध हो जाते हैं बहुत लोग।
ऐसा बुद्ध के जीवन में हुआ। उनके पास एक सम्राट मिलने आया, अजातशत्रु। और उसने बुद्ध से पूछा कि आपके दस हजार भिक्षु हैं, इनमें से कितने लोग बुद्धत्व को उपलब्ध हुए हैं? तो बुद्ध ने कहा, इनमें से बहुत लोग बुद्धत्व को उपलब्ध हो गए हैं। उसने कहा, मुझे बात जंचती नहीं। क्योंकि आपके अतिरिक्त इनमें से कोई भी प्रसिद्ध क्यों नहीं है? तो बुद्ध ने कहा, यह जरा दूसरी बात है। बुद्धत्व को उपलब्ध होना एक बात, जानना एक बात, जनाना बिल्कुल दूसरी बात। इन्होंने जान तो लिया है, मगर अब कैसे जनाएं? हां, इनमें से कुछ धीरे-धीरे दक्ष हो रहे हैं जनाने में भी। धीरे- धीरे। जैसे आदमी सत्य को जानने में वर्षों लगाता है, ऐसे फिर सत्य को जनाने में वर्षों लगाने पड़ते हैं। और बहुत से लोग तो इस चिंता में प.ड़ते ही नहीं, वे कहते हैं, अब झंझट में क्या पड़ना! अपना हीरा मिल गया, सम्हालकर रखा, अब कौन फिकर में पड़े! अब किसको बताना है! क्या बताना है!
बुद्ध ने ज्ञानी की दो अवस्थाएं कही हैं। एक को कहा--अर्हत, और एक को कहा--बोधिसत्व। अर्हत का अर्थ है, जिसने सत्य को जान लिया। और बोधिसत्व का अर्थ है, जिसने सत्य को जाना ही नहीं, दूसरों की तरफ बहाया भी। अर्हत के मार्ग का नाम बन गया है, हीनयान। छोटी-छोटी डोंगी। अपनी डोंगी में बैठ गए और चल पड़े, भवसागर पार कर लिया। और बोधिसत्व के मार्ग का नाम पड़ा, महायान। बड़ा यान, जिसमें हजारों लोगों को बिठा लिया। कहा कि आओ, जिनको भी आना है आ

जाओ, बैठो, भवसागर के पार जा रहे हैं। जो अकेला पार न हुआ, जिसने दूसरों को भी पार करवाया। जो स्वयं तो तरा, जिसने तारा भी। जो तरण-तारण है।
और तभी उन्होंने ये गाथाएं कहीं--

न मोनेन मुनि होति मूल्हरूपो अविछसु।
यो च तुलं" व पग्गय्ह वरमादाय पंडितो।।
पापानि परिवज्जेति स मुनी तेन सो मुनी।
यो मुनाति उभो लोके मुनी तेन पवुच्चति।।

"मौन धारण करने मात्र से कोई अविद्वान मूढ़ मुनि नहीं होता। जो पंडित मानो श्रेष्ठ तुला लेकर दोनों लोक को तौलता है और पापों को छोड़ देता है, वह इस कारण मुनि है और इसी कारण मुनि कहलाता है।"
जिसने दोनों लोकों को तौल लिया अपनी चेतना में--जैसे सूक्ष्म तराजू लेकर--न यहां कुछ पाने योग्य पाया, न वहां कुछ पाने योग्य पाया। जिसने दोनों लोक तौल लिए। न संसार में कुछ पाया कि संसार में कुछ पाने योग्य है; पाप में कुछ भी नहीं, जिसने मोक्ष में भी कुछ नहीं पाया कि पुण्य में भी कुछ भी नहीं, जिसने दोनों में कुछ नहीं पाया; ऐसी दशा में चित्त बिल्कुल ही शांत हो जाता है। जब पाने को ही कुछ नहीं, तो अशांति कहां से हो! अशांति तो पाने की दौड़ से होती है--यह पा लूं, यह पा लूं, तो मन अशांत होता है।
मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं, मन शांत करना है। मैं उनसे कहता हूं, लेकिन मन को शांत करने की व्यवस्था पता है! महत्वाकांक्षा छोड़नी पड़ती है। वे कहते हैं, यह तो जरा मुश्किल है। सच तो यह है, वे कहते हैं, कि हम आए ही इसलिए थे कि मन शांत हो जाए तो महत्वाकांक्षा की दौड़ में ठीक से दौड़ लें।
एक राज्य के मंत्री मेरी पास आते थे। वह कहते कि मैं आज बीस साल से मंत्री ही बना हुआ हूं। मेरे पीछे जो लोग आए, वे मुख्यमंत्री हो गए। असल में मुझ से ज्यादा दौड़-धूप नहीं होती। मैं आपके पास आया कि मुझे जरा ध्यान सिखा दें, कि जरा शांति मुझे आ जाए और बल आ जाए, तो मैं भी कुछ कर दिखाऊं! मैंने उनसे कहा, तुम भी अजीब बात कर रहे हो! ध्यान की पहली शर्त यह है
कि महत्वाकांक्षा जाए और तुम ध्यान को भी महत्वाकांक्षा की सेवा में लगाना चाहते हो! तुम ध्यान को भी दासी बनाना चाहते महत्वाकांक्षा की! तुम कहीं और जाओ! यह न हो सकेगा! यह असंभव है।
अक्सर आदमी धन की दौड़ में थक जाता है तो कहता है, चलो जरा ध्यान सीख लें। तो शायद थकान थोड़ी कम होगी तो और ठीक से दौड़ सकेंगे। आदमी बड़ा अजीब है। आदमी को पता ही नहीं वह क्या मांगने लगता है! और फिर उसे देने वाले भी मिल जाते हैं!
महर्षि महेश योगी लोगों को यही कह रहे हैं कि धन भी मिलेगा ध्यान से,
पद भी मिलेगा ध्यान से, स्वास्थ्य भी मिलेगा ध्यान से, ध्यान से सब कुछ मिलेगा। पदोन्नति भी होगी ध्यान से! अगर तुमने ठीक से ध्यान किया तो पदोन्नति भी होगी। स्वभावतः, अगर अमरीका में उनका प्रभाव पड़ रहा है तो कुछ आश्चर्य नहीं। लोग महत्वाकांक्षी हैं, लोग यही चाहते हैं।
जिन मंत्री की मैंने बात कही, उन्होंने भी मुझसे यही कहा कि आप यह कहते हैं कि कहीं और जाओ, मैं महर्षि महेश योगी के पास गया था तो उन्होंने तो कहा कि होगा, ध्यान करो। उन्होंने मंत्र दे दिया, मैं कर भी रहा हूं सालभर से, अभी तक कुछ हुआ नहीं, इसलिए आपके पास आया हूं। होगा ही नहीं। महत्वाकांक्षा के साथ ध्यान का संबंध ही नहीं जुड़ता।
उसको मुनि कहता हूं, बुद्ध ने कहा, जिसकी कोई महत्वाकांक्षा नहीं--न
इस लोक की, न परलोक की। संसार तो चाहता ही नहीं, मोक्ष की भी चाह छोड़ दी है जिसने, वही चुप होता है, वही मौन होता है, वही मुनि है।
और अंतिम दृश्यः

भगवान के जेतवन में रहते समय बहुत शीलसंपन्न भिक्षुओं के मन में ऐसे विचार हुए--हम लोग शीलसंपन्न हैं, ध्यानी हैं, जब चाहेंगे तब निर्वाण

प्राप्त कर लेंगे। ऐसी भ्रांत धारणाएं साधना-पथ पर अनिवार्य रूप से आती हैं।
जरा सा कुछ हुआ कि आदमी सोचता है, बस... किसी ने जरा सा ध्यान साध लिया, किसी ने जरा सच बोल लिया, किसी ने जरा दान कर दिया, किसी ने जरा वासना छोड़ दी कि वह सोचता है बस, मिल गयी कुंजी, अब क्या देर है, जब चाहेंगे तब निर्वाण उपलब्ध कर लेंगे। आदमी बड़ी जल्दी पड़ाव को मंजिल मान लेता है।
जहां रातभर रुकना है और सुबह चल पड़ना है, सोचता है--आ गयी मंजिल।
ऐसी भ्रांत धारणाएं साधना-पथ पर अनिवार्य रूप से आती हैं।
अनाचरण छूटा तो आचरण पकड़ लेता है। धन छूटा तो ध्यान पकड़ लेता है। पाप छूटा तो पुण्य पकड़ लेता है। इधर कुआं, उधर खाई।
भगवान ने उन्हें अपने पास बुलाया और पूछा, भिक्षुओ, क्या तुम्हारे संन्यस्त होने का उद्देश्य पूर्ण हो गया?
पूछना पड़ा होगा। क्योंकि देखा होगा, वे तो अकड़कर चलने लगे। देखा होगा
कि वे तो ऐसे चलने लगे जैसे पा लिया, जैसे आ गए घर। तो बुलाया उन्हें और पूछा, क्या तुम्हारे संन्यस्त होने का उद्देश्य पूर्ण हो गया?
वे छिपाना तो चाहते थे, पर छिपा न सके।
गुरु के सामने छिपाना असंभव है। वे आनाकानी करना चाहते थे, लेकिन कर न सके।
बुद्ध ने कहा, भिक्षुओ, छिपाने की चेष्टा न करो, सीधी-सीधी बात कहो, संन्यस्त होने का लक्ष्य पूर्ण हो गया है क्या? क्योंकि तुम्हारी चाल से ऐसा लगता है। तुम्हारी आंख से ऐसा लगता है कि तुम तो आ गए!
उनके भाव स्पष्ट ही उनके चेहरों पर लिखे थे।
उन्होंने झिझकते-झिझकते अपने मनों की बात कही, स्वीकार किया। भगवान
ने उनसे कहा, भिक्षुओ, चरित्र पर्याप्त नहीं है। आवश्यक है, पर पर्याप्त नहीं। चरित्र से कुछ ज्यादा चाहिए।
चरित्र तो निषेधात्मक है--चोरी नहीं की, झूठ नहीं बोले, बेईमानी नहीं की, हिंसा नहीं की, यह तो सब नकारात्मक है। विधायक कुछ चाहिए।
चरित्र जरूरी है, पर्याप्त नहीं। चरित्र से कुछ ज्यादा चाहिए।
सुनना इस बात को। चरित्र पर तुम अटक मत जाना। चरित्र तो बच्चों का खेल है। चरित्रवान होने में पुण्य कुछ भी नहीं है। पाप में तो बुराई है, पुण्य में कुछ भलाई नहीं है। तुम बहुत हैरान होओगे यह बात सुनकर। एक आदमी चोरी करता है, यह तो बुरी बात है। लेकिन एक आदमी चोरी नहीं करता, इसमें कौन सी खास बात है! समझना इस बात को। चोरी न की, तो इसको भी कोई झंडा लेकर घोषणा करोगे कि हम चोरी नहीं करते हैं। यह भी कोई बात हुई! चोरी न की, तो ठीक वही किया जो करना था, इसमें खास बात क्या है? किसी की जेब न काटी, तो कोई गुण पा लिया? जेब काटते तो बुराई जरूर थी, नहीं काटी तो कुछ खास भलाई नहीं हो गयी। एक आदमी अगर नकार पर ही जीने लगे तो चरित्र से जकड़ जाता है। धर्म विधायक की खोज है। नकारात्मक से बचना ठीक है, वह कमजोरी की बात है, मगर उतना कुछ खास नहीं है। अब तुमसे कोई पूछेगा कि तुम अपनी फेहरिश्त बनाओ, तुम उसमें बड़ी फेहरिश्त जोड़ सकते हो--सिगरेट नहीं पीते, पान नहीं खाते, चाय नहीं पीते, काफी नहीं पीते; यह सब चरित्र है। चोरी नहीं करते, बेईमानी नहीं करते, पर-स्त्रीगमन नहीं करते; यह सब चरित्र है। मगर इसमें खूबी क्या है? यह तो सहज ही मनुष्य का स्वभाव है, ऐसा होना नहीं चाहिए।
तो जो पाप करता है, वह मनुष्य होने से गिरता है। जो पाप नहीं करता, वह मनुष्य होने से ऊपर नहीं उठता। और धर्म तो वही है जो मनुष्य के ऊपर ले जाए, अतिक्रमण कराए।
तो बुद्ध ने कहा, चरित्र से कुछ और ऊपर चाहिए। शील साधन है, साध्य नहीं। पाप और पुण्य दोनों ही बांधते हैं। भिक्षुओ, जब तक समस्त आस्रव क्षीण न हो जाएं और अंतराकाश में शून्य ही शेष न रह जाए, तब तक रुकना नहीं है। और आश्वस्त भी मत हो जाना और जल्दी मत ठहर जाना। पड़ावों को पड़ाव जानो। पड़ाव मंजिल नहीं है।
और तब भगवान ने ये गाथाएं कहीं--

न सीलब्बतमत्तेन बाहुसच्चेन वा पन।
अथवा समाधि लाभेन विवित्तसयनेन वा।।
फुसामि नेक्खम्मसुखं अपुथुंजनसेवितं।
भिक्खु" विस्सासमापादि अप्पत्तो आसवक्खयं।।

"न केवल शील और व्रत के आचरण से, न बहुश्रुत होने से, न समाधि-लाभ से और
न ही एकांत में शयन करने से और न ऐसा सोचने से ही कि मैं सामान्यजनों द्वारा अप्राप्य निर्वाण के सुख का अनुभव कर रहा हूं, दुख समाप्त होता है। हे भिक्षु, (अपने निर्वाण-लाभ में) तब तक विश्वास मत करो, जब तक समस्त आस्रवों का क्षय न हो जाए।"
जब तक तुम्हारे चित्त में कोई भी चीज आती-जाती है, तब तक आस्रव। आस्रव
का मतलब, आना-जाना। जब तक तुम्हारे चित्त में कोई भी तरंग उठती है, गिरती है, तब तक आस्रव। जब तक समस्त आना-जाना शांत न हो जाए--जब तुम्हारे चित्त में न कोई आए, न कोई जाए, सूना आकाश सूना ही बना रहे, फिर बदलियां कभी न घिरें और असाढ़ कभी न हो, तभी आश्वस्त होना, उसके पहले विश्वास मत कर लेना कि पहुंच गए। जरा सा समाधि-लाभ हुआ, जरा शांत बैठे, सुख आया, इससे समझ मत लेना कि आ गयी मंजिल।
इस परम मार्ग में बहुत बार ऐसे पड़ाव आते हैं जो बड़े सुंदर हैं, जहां रुक जाने का मन करेगा, जहां तुम सोचोगे कि आ गया घर, बस अब यहीं ठहर जाएं। मन सदा चालबाजी करता है। वह कहता है, बस, अब रुक जाओ, थक भी गए और काफी तो पहुंच गए, और क्या करना है! देखो, ब्रह्मचर्य भी हो गया, अब देखो लोभ भी नहीं रहा, अब देखो दान भी करने लगे हैं, अब देखो क्रोध भी नहीं आता है, अब रुक जाओ, अब कितनी सुंदर जगह आ गए!
मगर बुद्ध कहते हैं, जब तक मन में आना-जाना बना रहे, कोई भी भाव उठता हो, तब तक रुकना मत। निर्भाव जब तक न हो जाओ, जब तक शून्य बिल्कुल महाशून्य न हो जाए, कुछ भी न उठे, कोई तरंग नहीं, तभी, तब रुक जाना। तब तो रुकना ही होगा। तब तो तुम न भी रुकना चाहो तो भी रुक जाओगे। तरंग ही नहीं उठती तो अब जाओगे कहां! जब तक जरा सी भी तरंग उठे, समझना कि अभी यात्रा पूरी नहीं हुई है।
ऐसे बुद्ध छोटे-छोटे जीवन-प्रसंगों को उठाकर बड़े परम सत्यों की उदघोषणा करते हैं। धर्म शाश्वत है, सनातन है, लेकिन उसकी अभिव्यक्ति तो क्षण-क्षण जीवन की परिस्थितियों में होनी चाहिए। इसीलिए मैं इन दृश्यों को तुम्हारे सामने उपस्थित कर रहा हूं। ये तुम्हारे जीवन के ही दृश्य हैं। और इनको ठीक से समझोगे तो इन संकेतों में तुम्हारे लिए बहुत पाथेय मिल सकता है।
आज इतना ही।

एस धम्मो सनंतनो, भाग 9
पचासीवां प्रवचन

जागरण ही ज्ञान

पहला प्रश्नः पीछे लौटना अब मेरे लिए असंभव है। बीज अंकुरित हुआ है। लेकिन यह सब हुआ आपको सुनते-सुनते, देखते-देखते, पढ़ते-पढ़ते। यह शास्त्र ही मेरे लिए नौका बनकर मुझे शून्य में लिए जा रहा है। भय छोड़कर बूंद सागर को मिलने को निकल पड़ी है। और आप कहते हैं कि शास्त्र से कुछ भी न होगा। यह आप कैसी अटपटी बात कहते हैं?

मैं अभी शास्त्र नहीं। मैं अभी जीवित हूं। तुम सौभाग्यशाली हो कि तुम शास्त्र के करीब नहीं हो।
बुद्ध जब बोले, तब धम्मपद शास्त्र नहीं था, तब धम्मपद शास्ता था। तब धम्मपद में श्वास थी, प्राण चलते थे, हृदय धड़कता था, खून बहता था, तब धम्मपद जीवित था। कृष्ण जब अर्जुन से बोले, तब गीता गुनगुनाती थी, नाचती थी। तब शास्त्र नहीं था, शास्त्र तो शास्ता के जाने के बाद बनता है। शास्त्र तो समय की रेत पर छोड़ी गयी लकीरें है। सांप तो जा चुका, रेत पर निशान रह गया। मैं अभी शास्त्र नहीं हूं। इसलिए मैं जो कहता हूं, उसमें कुछ अटपटा नहीं है। मैं भी शास्त्र बन जाऊंगा। जब जा चुका होऊंगा तो शास्त्र बन जाऊंगा। फिर नौका न बनेगी। शास्त्र डुबाता है, उबारता नहीं। जो मृत है, वह जीवित को कैसे उबारेगा? जो स्वयं मृत है, वह जीवित को कैसे उद्धार करेगा? शास्त्र बोझ बन जाता है, सिर भारी हो जाता है। पांडित्य मिलेगा शास्त्र से, प्रज्ञा नहीं मिलेगी। जानने लगोगे बहुत और जानोगे कुछ भी नहीं। जानते मालूम पड़ने लगोगे और अज्ञानी के अज्ञानी बने रहोगे। अज्ञान ज्ञान के वस्त्र पहन लेगा, लेकिन विसर्जित नहीं होगा।
और अज्ञान जब ज्ञान के वस्त्र पहन लेता है, तब और भी खतरनाक हो जाता है। यह तो ऐसे ही हुआ कि बीमारी ने जैसे स्वास्थ्य के वस्त्र पहन लिए। फिर तो बीमारी का पता ही नहीं चलता। फिर तो तुम औषधि की खोज भी नहीं करते। फिर तो तुम चिकित्सक के पास जाओगे क्यों, तुम स्वयं ही जानते हो।
इसलिए बुद्ध के पास पंडित नहीं आते। मेरे पास भी नहीं आते। पंडित आए क्यों? पंडित तो सोचता है, वह स्वयं ही जानता है।
तो पांडित्य नौका नहीं बनता, गले का पत्थर हो जाता है। उसके कारण आदमी डूबता है, उबरता नहीं। शास्त्र नहीं उबार सकता, कैसे उबारेगा? कागज की पोथी, स्याही के चिह्न, कैसे उबारेंगे? उससे ज्यादा मूल्यवान तो यह जो जीवन का विराट शास्त्र है, यह है। वृक्षों के हरे पत्ते कहीं ज्यादा जीवंत हैं। पक्षियों के गीत, खिले हुए फूल कहीं ज्यादा जीवंत हैं। इनसे सुनना, तो शायद कुछ समझ में आ जाए। मुर्दा किताब को कान के पास रखकर सुनोगे, वहां से कोई आवाज थोड़े ही आएगी। और मुर्दा किताब में तुम जो पढ़ लोगे, वह तुम्हारा ही है। तुम जो पढ़ लोगे, वह शास्त्र तुम्हें नहीं दे रहा है, तुम्हीं शास्त्र में डाल रहे हो। तुम अपने को ही पढ़ लोगे। तुम अपने से ज्यादा पढ़ भी कैसे सकते हो! तुम जो जानते हो, वही शास्त्र में से तुम निकाल लोगे। और शास्त्र तो बड़ा अवश है, कुछ कह भी न सकेगा, रोक भी न सकेगा। यह भी न कहेगा कि ऐसी ज्यादती न करो।
शास्ता नौका बनता है, शास्त्र नहीं। जब शब्द किसी जीवित शून्य से निकलते हैं, और तुमने उन्हें सुना, तो जरूर ले जाएंगे पार। जब शब्द धड़कते हैं, प्राणवान होते हैं, जब शब्दों के भीतर बोध का दीया जला होता है, तब। शास्त्र तो मिट्टी का दीया है, ज्योति तो जा चुकी। बुद्ध तो विदा हुए, मिट्टी का दीया पड़ा रहा गया, इसे पूजते रहो जन्मों-जन्मों तक, इससे तुम्हारी आंख न खुलेगी, इसमें ज्योति ही नहीं है। ज्योति से ज्योति जले। जब किसी की ज्योति जली होती है, तुम अगर उसके पास जाओ तो तुम्हारी ज्योति भी जल सकती है। पास जाने से ही जल सकती है। कुछ और करना ही क्या है!
जब तुम एक बुझे दीए को जलते दीए के पास लाते हो, पास लाते हो, एक घड़ी आती है कि दोनों की बातियां जब बहुत करीब आ जाती हैं तो एक छलांग, जलते दीए

से ज्योति बुझे दीए में उतर जाती है। और मजा यह है कि जलते दीए का कुछ भी नहीं खोता। जलता दीया वैसा ही जलता, उसकी ज्योति कम थोड़े ही हो जाती है। एक जलते दीए से हजार बुझे दीए जला लो, जलता दीया वैसा ही जलता है, उसकी ज्योति तो जरा भी कम नहीं होती।
बांटने से ज्ञान घटता नहीं, बांटने से जीवन घटता नहीं, बांटने से प्रेम घटता नहीं। और कला क्या है? कला इतनी ही है कि बुझा दीया अड़चन न डाले, रुकावट न डाले, बुझा दीया यह न कहे कि मैं दूर-दूर रहूंगा। बुझा दीया कहे कि मैं पास आने को तत्पर हूं। और क्या है शिष्यत्व! पास आने की कला, हिम्मत। पास गुरु के बैठ जाना सत्संग है। बैठे-बैठे हो जाता है।
तुम ठीक कहते हो कि "अंकुरित हुआ है बीज सुनते-सुनते, देखते-देखते, पढ़ते-पढ़ते।"
अकेले पढ़ने से यह न होता। मुझे सुनते हो, मुझे देखते हो, मुझे पीते हो,
तो फिर पढ़ने में भी तुम अपना न डालोगे। तुम्हें मेरा स्वाद लग गया। तब तो तुम पढ़ने में भी तुमने जो मुझमें देखा, मुझमें जो पाया, मुझमें जो सुना, मुझमें जो छुआ, वही डालोगे। फिर तुम मेरे शब्दों के साथ अनाचार न कर सकोगे। लेकिन मौलिक बात शब्द नहीं है। मौलिक बात मेरी मौजूदगी है। तुम मेरी किताब ही पढ़कर नहीं नौका बना सकोगे। कोई कभी नहीं बना सका।
लेकिन तुम पूछ सकते हो कि धम्मपद अगर अब नौका नहीं बनती और गीता नौका नहीं बनती और अष्टावक्र के वचन अब नौका नहीं बनते, तो फिर मैं इन पर बोलता क्यों हूं? इनके बोलने का राज भी तुम समझ लो। जब मैं धम्मपद पर बोलता हूं तो धम्मपद पुनः जीवित हो जाता है। तब धम्मपद धम्मपद नहीं रह गया, तब धम्मपद के शब्द मेरे शून्य में लिपट जाते हैं। जब मैं गीता पर बोलता हूं, तो कृष्ण को फिर थोड़ी देर के लिए मेरे साथ जीने का अवसर मिल जाता है। इसलिए सदियों से ऐसा रहा है। अतीत के बुद्धों पर बोला जाता रहा है, ताकि उनकी वाणी पुनः-पुनः जीवित होती रहे, खो न जाए।
जब मैं जा चुका होऊंगा, तब मेरे शब्द शास्त्र रह जाएंगे। फिर तुम्हें उनसे कुछ सहारा न मिलेगा। हां, फिर सहारा एक ही तरह मिल सकता है कि कोई और बुद्धपुरुष उन पर बोले। तो फिर जीवित हो जाएंगे। बुद्धत्व के स्पर्श से शब्द जीवित होते हैं। और जीवन में ही कुछ छुटकारा है, मुक्ति है। जीवन में ही कुछ आशा है।
ऐसा समझो कि फूल वृक्ष पर खिला है, तब एक बात है। इसी फूल को तुमने तोड़ लिया, यह गुलाब का फूल तुमने तोड़ लिया और अपनी गीता में कि बाइबिल में दबाकर रख दिया। फिर वर्षों बाद तुम देखोगे, फूल अब भी है--सूखा हुआ, अब गंध नहीं उठती; अब बढ़ता भी नहीं, घटता भी नहीं; सूखा हुआ फूल, गीता या बाइबिल में दबा हुआ फूल शास्त्र हो गया। वृक्ष पर था तब जीवित था।
अभी जो मैं बोल रहा हूं, मेरे वृक्ष पर लगे फूल हैं। जब मैं जा चुका होऊंगा, तब तुम्हारी गीता और बाइबिल में दबे हुए फूल हो जाएंगे। तब वे मुर्दा होंगे। लगेंगे कुछ-कुछ वैसे जैसा जीवित फूल था, बस आभास मात्र होगा--न उनमें सुगंध होगी, न उनमें प्राण होंगे, न उनमें बढ़ने की क्षमता होगी।
ख्याल रखना, जीवन का लक्षण यही है--जिसमें बढ़ने की क्षमता हो। अब धम्मपद बढ़ नहीं सकता अपने आप। हां, मेरे साथ चल सकता है, क्योंकि मैं जीवित हूं। जीवित आदमी के साथ अगर शास्त्र भी हो ले, तो शास्त्र भी जीवित हो जाता है। उसमें भी पैर लग जाते हैं, पंख लग जाते हैं।
तुम धोखे में आ जाओ सूखे फूल के, तुम शायद कहो कि यह गुलाब का फूल है, लेकिन आदमी को छोड़कर और कोई धोखे में न आएगा।
ऐसा हुआ, सम्राट सोलोमन के दरबार में एक युवती आयी। वह इथोपिया की साम्राज्ञी थी। और उसने खबर सुनी थी कि सोलोमन संसार का सबसे बुद्धिमान आदमी है। हिंदुस्तान में भी हम कहते हैं न किसी को, बहुत बुद्धिमानी करने लगे तो कहते हैं, बड़े सुलेमान हो गए! वह सोलोमन की ही कहानी है। हजारों साल बीत गए सुलेमान को हुए, लेकिन सुलेमान की बुद्धिमत्ता कहावत बन गयी, सारी दुनिया में कहावत बन गयी।

वह स्त्री उनका परीक्षण करना चाहती थी। वह इथोपिया की रानी उनके प्रेम में थी। लेकिन वह जानना चाहती थी, सच में वह बुद्धिमान, इतने बुद्धिमान हैं? उसने क्या किया, पता है? वह अपने एक हाथ में असली फूल और एक हाथ में नकली फूल लेकर आयी, एक हाथ में कागज का बना हुआ गुलाब और एक हाथ में असली गुलाब। और बड़े से बड़े कलाकारों ने बनाया था वह कागज का गुलाब। बड़ा मुश्किल था तय करना। और वह आकर सम्राट के थोड़ी दूर खड़ी हो गयी सिंहासन के सामने और उसने कहा कि मैं तुम्हें बुद्धिमान मानूंगी, अगर तुम बता दो कि मेरे कौन से हाथ में असली गुलाब है और कौन से हाथ में नकली गुलाब है। और नकली गुलाब इतना सुंदर था और इतना असली जैसा था कि सोलोमन थोड़ा चिंतित हुआ। उसने कहा, जरूर बताऊंगा। उसने कहा अपने दरबारियों को कि सब द्वार-दरवाजे खोल दो, सब खिड़कियां खोल दो।
बाहर बगीचा है। सारे द्वार-दरवाजे खोल दिए। उस साम्राज्ञी ने पूछा,
यह आप क्यों कर रहे हैं? सोलोमन ने कहा, थोड़ा प्रकाश, ताकि मैं ठीक से देख सकूं। लेकिन प्रकाश भी सहयोगी न हुआ। एक और बात सहयोगी हो गयी। दो मधुमक्खियां बगीचे से कमरे में प्रवेश कर गयीं। वे दोनों जाकर असली गुलाब पर बैठ गयीं। सोलोमन ने कहा कि यह असली गुलाब है। दरबारी भी चकित हुए, साम्राज्ञी भी चकित हुई। उसने पूछा, आप जाने कैसे?
उसने कहा कि मैं नहीं जाना, आदमी को धोखा दिया जा सकता है, मगर मधुमक्खियों को कैसे धोखा दोगे? वे दो मधुमक्खियां जो बैठ गयी हैं असली गुलाब पर, उन्होंने खबर दी। इसीलिए द्वार-दरवाजे खुलवाए थे, प्रकाश तो मैं जानता था कुछ अर्थ न होगा, तू बड़ी साम्राज्ञी है, तेरे दरबार में बड़े कलाकार हैं। और जब तू इसको परीक्षा बनाकर आयी है, तो गुलाब इतना सुंदर बनाया गया है और इस ढंग से बनाया गया है कि मैं भी पहचान न सकूंगा। नहीं, यह मेरी बुद्धिमत्ता नहीं है, यह तो मधुमक्खियों की बुद्धिमत्ता है, जिसका मैंने उपयोग कर लिया।
आदमी भर धोखे में आता है, इस जगत में और कोई धोखे में नहीं आता।
कहते हैं, जब बुद्ध ज्ञान को उपलब्ध हुए, तो जिस वृक्ष के नीचे बैठे थे, उसके आसपास बेमौसम फूल खिल गए। जिस वृक्ष के नीचे बैठे थे, वह सूखा जा रहा था, उस पर हरे पत्ते निकल आए।
अब तुम धम्मपद को रख दो जाकर उस वृक्ष के नीचे, वृक्ष धोखे में न आएगा। धम्मपद को रखने से उस वृक्ष में नए पत्ते न आएंगे। धम्मपद को ले जाकर रख दो किसी वृक्ष के नीचे, जिसमें फूल आने बंद हो गए हैं, तो फूल न आएंगे। तुम वृक्षों को धोखा न दे सकोगे, सिर्फ आदमी धोखा खाता है। आदमी धम्मपद के चरणों में सिर झुकाता है, धम्मपद की पूजा करता है, गीता की, कुरान की, बाइबिल की। किताबें बड़ी महत्वपूर्ण हो गयी हैं।
कई कारण हैं। पहला तो यह कि किताब बड़ी सुलभ है और सस्ती है। और किताब
के तुम मालिक हो जाते हो। किताब तुम्हारी मालिक नहीं हो पाती। तुम किताब में जो अर्थ निकालना चाहो, निकालो; जो व्याख्या करना चाहो, करो। अपने मतलब का जो हो, निकाल लो; अपने मतलब का जो न हो, छोड़ दो। किताब तुम्हें क्या बदलेगी, तुम किताब को बदल डालते हो।
सदगुरु का अर्थ होता है, जिसे तुम न बदल सको। वही तुम्हें बदल सकेगा। जिसे तुम बदल दोगे, वह तुम्हें कैसे बदलेगा?
इसलिए ध्यान रखना, उन साधु-महात्माओं से बचना जो तुम्हारे द्वारा संचालित होते हैं। तुम कहते हो, पानी छानकर पीओ और वे पानी छानकर पीते हैं। तुम कहते हो, रात चलो मत और वे नहीं चलते। और तुमसे डरते हैं। उन साधु- महात्माओं से सावधान रहना जो तुम्हारी मानकर चलते हैं, वे तुम्हें न बदल सकेंगे।
अगर तुम्हें बदलना हो तो किसी ऐसे आदमी की तलाश करना जो तुम्हारी सुनता ही नहीं। जो अपनी गुनता, अपनी सुनता, अपने ढंग से जीता है। तो शायद तुम कभी सदगुरु के पास पहुंच सको। इसलिए मैं निरंतर कहता हूं कि सदगुरु मौलिक रूप से विद्रोही होता है, परंपरागत नहीं होता, हो नहीं सकता। परंपरागत तो वे ही महात्मा होते हैं जो तुमसे भी गए-बीते हैं। तुम्हारी मानकर चलते हैं।

मेरे पास कुछ जैन-मुनियों ने खबर भेजी, हम मिलने आना चाहते हैं, लेकिन श्रावक नहीं आने देते। श्रावक नहीं आने देते! तो यह तो हद का महात्मापन हुआ! श्रावक कहते हैं कि वहां मत जाना, क्योंकि श्रावक डराते हैं कि अगर वहां गए, तो फिर हमसे कुछ लेना-देना नहीं है। फिर बात खतम हो गयी। फिर दोस्ती समाप्त! फिर यह पूजा-अर्चना जो तुम्हारी चलती है, बंद। और वह जो हम तुम्हारे भोजन-वस्त्र का इंतजाम करते हैं, वह खतम।
तो यह तो एक तरह की नौकरी-चाकरी हो गयी। इससे तो नौकर-चाकर भी भले। कम
से कम जहां जाना हो, जा तो सकते हैं। इससे तो गृहस्थ बेहतर कि कम से कम भीड़-भाड़ इतना दबाव तो नहीं रखती, किसी को आना हो तो आ तो सकता है। नहीं, यहां नहीं आ पाते; चोरी से किताब पढ़ते हैं, चोरी से टेप सुनते हैं। मुझे खबर भिजवाते हैं कि इन सज्जन के हाथ भिजवा देना, हम सुन लेंगे एकांत में, लेकिन किसी को पता न चले। श्रावक को पसंद नहीं है।
श्रावक कौन है? और श्रावक अगर तुम्हें चला रहा है, तुम्हारा सुनने वाला अगर तुम्हारा मालिक बन बैठा है, तो तुम उसे कैसे बदलोगे, थोड़ा सोचो तो! तुममें इतनी भी सामर्थ्य नहीं है कि तुम अपने ढंग से जी सको।
तो तुम्हारे उन महात्माओं से तुम्हारे जीवन में कोई क्रांति न होगी,
जो तुम्हारे अनुयायी हैं। उसको खोजना जहां बगावत हो, जहां जिंदगी अपनी मौज में हो, और जो अपने ढंग से जी रहा हो। तो शायद अड़चन तो बहुत होगी। ऐसे आदमी के पास हिम्मतवर लोग जाते हैं, भीड़-भाड़ नहीं जाती। ऐसे आदमी के पास तो वे ही लोग जाते हैं जिनको तलवार की धार पर चलने का शौक है, जिन्हें थोड़ा मजा है, जिन्हें जिंदगी में थोड़ा दुस्साहस है, जिनके जीवन में एक अभियान है और जो चाहते हैं कि जीवन की चुनौती स्वीकार की जाए।
यहां मेरे पास तुम्हें भीड़-भाड़ न दिखायी पड़ेगी। भीड़-भाड़ यहां आ नहीं सकती। यहां तो केवल वे ही लोग आ सकते हैं जिन्होंने तय ही कर लिया है कि इस जिंदगी में कुछ करना ही है, इस जिंदगी में कुछ होना ही है। यह मौत इस बार आए तो हमें वैसा ही न पाए जैसा हर बार पहले पाया था। इस बार कुछ नया, कोई ज्योति हमारे भीतर जलती हुई हो। अमृत की थोड़ी एक बूंद ही सही, लेकिन इस बार जीवन से अमृत निचोड़ ही लेना है।
तुम्हें हुआ, क्योंकि मैं अभी शास्त्र नहीं हूं। तुम धन्यभागी हो कि तुम शास्त्र के पास नहीं हो।

दूसरा प्रश्नः बुद्धत्व का क्या अर्थ है?

बुद्धत्व का अर्थ ऐसे तो सीधा-साधा है। बुद्धत्व का अर्थ होता है, जागा हुआ चित्त। बुद्धत्व का अर्थ होता है, होश। बुद्धत्व का अर्थ होता है, जो उठ खड़ा हुआ। जो अब सोया नहीं है, जिसकी मूर्च्छा टूट गयी।
जैसे एक आदमी शराब पीकर रात गिर गया हो रास्ते पर और नाली में पड़ा रहा
हो और रातभर वहीं सपने देखता रहा हो, और सुबह आंख खुले और उठकर खड़ा हो जाए और घर की तरफ चलने लगे। ऐसा अर्थ है बुद्धत्व का। जन्मों-जन्मों से हम न मालूम कितनी तरह की शराबें पीकर--धन की, पद की, प्रतिष्ठा की, अहंकार की-- पड़े हैं मूर्च्छित। गंदी नालियों में पड़े हैं। सपने देख रहे हैं। जिस दिन हम जाग जाते हैं, उठकर खड़े हो जाते हैं, याद आती है कि हम कहां पड़े हैं और हम घर की तरफ चलने लगते हैं--बुद्धत्व। बुद्धत्व का अर्थ है, जो जागा, जो उठा, जो अपने घर की तरफ चला।
बुद्धत्व का गौतम बुद्ध से कुछ लेना-देना नहीं है, वह उनका नाम नहीं है। जीसस उतने ही बुद्ध हैं, जितने बुद्ध। मोहम्मद उतने ही बुद्ध हैं, जितने बुद्ध। कबीर और नानक उतने ही बुद्ध हैं, जितने बुद्ध। मीरा, सहजो और दया उतनी ही बुद्ध हैं जितने कि बुद्ध। बुद्धत्व का कोई संबंध किसी व्यक्ति से नहीं है, यह तो चैतन्य की प्रकाशमान दशा का नाम है।
इस छोटी सी कहानी को समझो--
एक बार ब्राह्मण द्रोण भगवान बुद्ध के पास आया और उसने तथागत से पूछा, क्या आप देव हैं? भगवान ने कहा, नहीं, मैं देव नहीं। तो उसने पूछा, क्या आप गंधर्व हैं? तो भगवान ने कहा, नहीं, गंधर्व मैं नहीं। तो उसने पूछा, आप

यक्ष हैं? तो भगवान ने कहा, नहीं, न ही मैं यक्ष ही हूं। तब क्या आप आदमी ही हैं? और बुद्ध ने कहा, नहीं, मैं मनुष्य भी नहीं हूं। ब्राह्मण तो हैरान हुआ। उसने पूछा, गुस्ताखी माफ हो, तो क्या आप पशु-पक्षी हैं? बुद्ध ने कहा, नहीं। तो उसने कहा, आप मुझे मजबूर किए दे रहे हैं यह पूछने को, तो क्या आप पत्थर-पहाड़ हैं? पौधा-वनस्पति हैं? बुद्ध ने कहा, नहीं। तो उसने कहा, फिर आप ही बतलाएं, आप कौन हैं? क्या हैं?
उत्तर में तथागत ने कहा, वे वासनाएं, वे इच्छाएं, वे दुष्कर्म, वे सत्कर्म जिनका अस्तित्व मुझे देव, गंधर्व, यक्ष, आदमी, वनस्पति या पत्थर बना सकता था, समाप्त हो गयी हैं। वे वासनाएं तिरोहित हो गयी हैं, जिनके कारण मैं किसी रूप में ढलता था, किसी आकार में जकड़ जाता था। इसलिए ब्राह्मण, जानो कि मैं इनमें से कुछ भी नहीं हूं, मैं जाग गया हूं, मैं बुद्ध हूं।
वे सब सोए होने की अवस्थाएं थीं। कोई सोया है वनस्पति की तरह--देखते हैं, ये जो अशोक के वृक्ष खड़े हैं, ये अशोक के वृक्ष की तरह सोए हैं। बस इतना ही फर्क है तुममें और इनमें, तुम आदमी की तरह सोए हो, ये अशोक के वृक्षों की तरह सोए हैं। कोई पहाड़-पत्थर की तरह सोया है। कोई स्त्री की तरह सोया है, कोई पुरुष की तरह सोया है। ये सब सोने की ही दशाएं हैं। सब दशाएं सोने की दशाएं हैं। सब स्थितियां निद्रा की स्थितियां हैं। बुद्धत्व कोई स्थिति नहीं है, सारी स्थितियों से जाग जाने का नाम है। जो जाग गया और जिसने जान लिया कि मैं अरूप, निराकार; जिसने जान लिया कि न मेरा कोई रूप, न मेरा कोई आकार, न मेरी कोई देह।
बुद्ध ने ठीक ही कहा कि न मैं देव हूं, न मैं गंधर्व हूं, न मैं यक्ष हूं, न मैं मनुष्य हूं, न मैं पशु, न मैं पौधा, न मैं पत्थर--मैं बुद्ध हूं। बुद्धत्व सबकी संभावना है, क्योंकि जो सोया है, वह जाग सकता है। सोने में ही यह बात छिपी है। तुम सोए हो, इसमें ही यह संभावना छिपी है कि तुम चाहो तो जाग भी सकते हो। जो सो सकता है, वह जाग क्यों नहीं सकता? जरा प्रयास की जरूरत होगी। जरा चेष्टा करनी होगी।
एक और छोटी कहानी है--
एक रात्रि जब सारा काशीनगर सोया था, एक युवक था यश, वह जाग रहा था। वह अति चिंता में डूबा था। धनी था, समृद्ध था, लेकिन जैसी धनी और समृद्धों को चिंता होती है, वैसी चिंता थी। चिंता इतनी बढ़ गयी थी कि आत्मघात का विचार कर रहा था। चिंतित, अशांत, संतापग्रस्त उसे नींद नहीं थी। वह दुख में डूबा उठा और नगर से बाहर चला; उसने सोचा, आज अपने को समाप्त ही कर लूं। सार भी क्या है! यही पुनरुक्ति, यही रोज चिंता, यही रोज दुख, और मिलता तो कुछ भी नहीं, हाथ कुछ आता नहीं। रोज-रोज दुख भोगो, इससे बेहतर समाप्त हो जाओ। सत्तर-अस्सी साल तक इसी-इसी घेरे में दोहरते रहना, कोल्हू में जुते बैल की तरह चलते रहने का क्या प्रयोजन है!
वह नगर के बाहर आया, नगर-सीमांत पर बुद्ध का निवास था, वे एक वृक्ष के नीचे बैठे थे। आधी रात थी, चांद निकला था। वह युवक तो आत्महत्या करने जा रहा था। ऐसे ही आकस्मिक उसकी दृष्टि में बुद्ध बैठे दिखायी पड़ गए। उसने ऐसा शांत आदमी नहीं देखा था। एक क्षण को तो भूल ही गया अपनी चिंताएं, इस शांति का ऐसा छापा पड़ा, एक क्षण को तो भूल ही गया कि जिंदगी में दुख है। यह जो सुख का सागर जैसा आदमी बैठा था, इसके सुख की भनक पड़ी। एक क्षण को तो भूल ही गया कि मैं आत्महत्या करने आया हूं।
अब बुद्ध के पास जाओ तो आत्महत्या करने का ख्याल रह सकता है! आकस्मिक
ही आ गया था, कोई सोचकर आया न था, संयोग की बात थी कि बुद्ध थे वहां और वह राह से गुजरता था। खिंचा चला आया जैसे चुंबक से लोहा खिंचा चला आता है। जैसे ही बुद्ध को देखा उस पूरे चांद की रात में, इस पूरे मनुष्य को देखा, एक चांद आकाश में और एक चांद जमीन पर--और आकाश के चांद को लजाते देखा होगा-- चला आया, मंत्रमुग्ध। जैसे बीन सुनकर सांप नाचने लगता है, ऐसे ही बुद्ध की इस मौन अवस्था का उस पर प्रभाव हुआ होगा।
तथागत ने आंखें खोलीं और देखा उस युवक को। वह और भी निकट आ गया। उन आंखों में जादू था। उसने कहा, आश्चर्य! मैं तो निकला था मृत्यु की तलाश में

और जीवन के दर्शन होंगे, यह मैंने सोचा न था! मेरा जीवन अत्यंत दुख से भरा है। जीवन बड़ी पीड़ा है।
तथागत ने कहा, सच है, जीवन पीड़ा है; लेकिन एक और जीवन भी है, जहां पीड़ा
की कोई गति नहीं है। यहां देखो, मेरी तरफ देखो, मेरे भीतर देखो, यहां दुख है ही नहीं। और तुम भी चाहो कि दुख मिट जाए, तो जरा और मेरे पास आ जाओ। शरीर से ही नहीं, मन से मेरे पास आ जाओ। मैं तुम्हें जगा दूंगा। मैं जागा हूं, तुम भी जाग जाओगे। और जो जाग गया वह दुख के बाहर हो जाता है।
एक जीवन है जागरण का, उस जीवन का नाम है बुद्धत्व। वहां कोई दुख नहीं।
सब दुख मूर्च्छा में हैं। ये जो दुख-स्वप्न हम देख रहे हैं न मालूम कितने- कितने प्रकार के, ये सब नींद में देखे जा रहे हैं।
बुद्धत्व का अर्थ है, तुम्हारे भीतर जो छिपा पड़ा है ज्योतिर्पुंज, उसके आसपास का धुआं हट जाए। तुम्हारे भीतर जो निरभ्र आकाश छिपा है, उसके आसपास बदलियां घिर गयी हैं जन्मों-जन्मों में, वे बदलियां छंट जाएं। कठिन नहीं है, असंभव नहीं है। हो सकता है। एक को हुआ तो सभी को हो सकता है। इसलिए बुद्धत्व को तुम कोई असंभव लक्ष्य मत समझ लेना। यह तुम्हारे हाथ के भीतर है, यह तुम्हारी पहुंच के भीतर है। अब तुम हाथ ही न उठाओ तो बात और। यह यात्रा हो सकती है। जितने श्रम से तुम संसार की यात्रा कर रहे हो, उससे तो बहुत कम श्रम से यह यात्रा हो सकती है। जितनी ताकत तुम धन को पाने में लगाते हो, काश उतनी ताकत ध्यान को पाने में लगा दो तो ध्यान अभी हुआ। और धन तो कभी भी न होगा। और हो भी जाएगा तो भी कुछ न होगा। हुआ तो बराबर, न हुआ तो बराबर। धन कितना ही हो जाए, तुम निर्धन रहोगे ही।
बुद्धत्व का अर्थ है, घनीभूत ध्यान, सघनीभूत ध्यान। ध्यान पर ध्यान, पर्त पर पर्त ध्यान की। और ख्याल रखना, बुद्ध तुम्हारे जैसे ही मनुष्य थे। जिनको भी हुआ है, तुम्हारे जैसे मनुष्य थे। जरा याद तो करो, जरा अपने को इस स्मृति से तो भरो, स्मरण करो, बुद्ध तुम्हारे जैसे मनुष्य थे। तुम्हारे जैसे हड्डी-मांस-मज्जा से बने। उनके भीतर यह ज्योति जली, तो तुम्हारे भीतर भी यह ज्योति छिपी है। एक दिन उनके भीतर भी न जली थी तो वह भी ऐसे ही परेशान थे। जिस दिन जल गयी, उस दिन जाना--दूर नहीं थी, पास ही थी, सिर्फ ठीक से तलाश करने की बात थी। हमने ठीक से अभी प्रश्न भी नहीं पूछे कि हम कैसे इसकी तलाश करें। हम खोज ही नहीं रहे। एक चीज तो हम खोज ही नहीं रहे--स्वयं को हम खोज ही नहीं रहे।
सूफी फकीर हुआ, बायजीद। एक रात अपने झोपड़े में बैठा है और किसी ने आधी रात दरवाजे पर दस्तक दी। वह अपने ध्यान में लीन था, उसने आंखें खोलीं, उसने पूछा कि कौन है और क्या चाहते हो? उस आदमी ने कहा, मैं बायजीद की तलाश में आया हूं; बायजीद भीतर है? सन्नाटा हो गया थोड़ी देर को, और बायजीद ने कहा, भाई, मैं खुद ही तीस साल से बायजीद की तलाश कर रहा हूं। और यही मैं पूछ रहा हूं--बड़ा चमत्कार है--कि बायजीद भीतर है? मुझे पता चल जाएगा तो तुम्हें खबर करूंगा। अभी तो मुझे ही पता नहीं चला कि बायजीद भीतर है या नहीं है। या भीतर कौन है!
बायजीद ने ठीक कहा कि तीस साल से मैं खुद ही तलाश कर रहा हूं कि मैं कौन हूं। मुझे ही अभी पता नहीं तो तुमसे कैसे कहूं कि मैं कौन हूं!
दुनिया में तीन तरह के लोग हैं। एक, जिन्होंने तलाश ही नहीं की, जिन्होंने पूछा ही नहीं कि मैं कौन हूं। इनकी संख्या बड़ी है। इनकी ही भीड़-भाड़ है। इन्हें अपना पता नहीं है और ये चले चले जाते हैं। और ये लाख तरह की तमन्नाएं करते हैं और लाख तरह की तृष्णाएं करते हैं और इन्हें यह भी पता नहीं कि मैं कौन हूं। इनके जीवन की बुनियाद ही नहीं पड़ी है और ये जीवन का भवन बनाने में लगे रहते हैं। इनके भवन अगर गिर-गिर जाते हैं तो कुछ आश्चर्य नहीं।
बुनियाद तो पहली बात से पड़ेगी--इस बात को तो मैं जान लूं कि मैं कौन हूं। इसको जान लेने से ही तय हो जाएगा कि मैं क्या खोजूं? मेरे स्वभाव के अनुकूल क्या है? क्या मुझे तृप्ति देगा? अभी तो मुझे यही पता नहीं कि मैं कौन हूं, तो जो मैं खोजूंगा, उससे मुझे तृप्ति मिलेगी या नहीं मिलेगी, इसका

कैसे पता होगा? जो मैं खोजने चला हूं, उसका मुझसे कोई साज बैठेगा, संगीत बैठेगा मेरे साथ?
तो पहली तो बुनियादी बात है--मैं कौन हूं? अधिक लोग पूछते ही नहीं, सौ में निन्यानबे लोग पूछते ही नहीं कि मैं कौन हूं। इनसे पृथ्वी भरी है। दूसरे वे लोग हैं जिन्होंने पूछना शुरू किया कि मैं कौन हूं। दूसरे
का नाम संन्यासी, पहले का नाम गृहस्थ। जिसने पूछा ही नहीं कि मैं कौन हूं, वह गृहस्थ, संसारी। जिसने पूछा कि मैं कौन हूं, वह संन्यस्त। और जिसने जान लिया कि मैं कौन हूं, वह बुद्ध, वह बुद्धत्व को उपलब्ध हो गया।
ये तीन अवस्थाएं हैं--संसारी की अवस्था, संन्यासी की अवस्था, बुद्ध की अवस्था। बुद्ध की अवस्था तक पहुंचने के लिए संन्यास की प्रक्रिया से गुजरना जरूरी है। संसारी और बुद्ध को जोड़ता है संन्यास। संन्यास बीच का सेतु है।
और बुद्ध बनने का यह अर्थ नहीं होता है कि तुम बुद्ध का अनुकरण करो। बुद्ध बनने का अर्थ होता है, आत्मानुसरण करो, आत्मानुसंधान में लगो। तुम बुद्ध जैसे बनने की कोशिश मत करना, नहीं तो बुद्ध कभी नहीं बन पाओगे। तुम तो स्वयं बनने की कोशिश करोगे तो बुद्ध बन पाओगे।

इसे ख्याल रखना, यह भूल बहुत हो जाती है। कभी सौभाग्य से कोई आदमी खोज में भी निकलता है तो यह एक झंझट खड़ी हो जाती है--वह नकल में पड़ जाता है, बुद्ध बन जाऊं। तो वह सोचता है, जैसे बुद्ध उठते, वैसे उठूं; जैसे बुद्ध बैठते, वैसे बैठूं; जो बुद्ध पहनते, वैसा पहनूं; जो बुद्ध खाते, वैसा खाऊं; वह नकलची हो जाता है, वह अभिनेता हो जाता है। बुद्ध के बाहर के व्यवहार का अनुकरण करके तुम बुद्धत्व को न पाओगे। और जब तुम्हारे भीतर का बुद्ध जागेगा, तो तुम अपने ही ढंग से बैठोगे, अपने ही ढंग से उठोगे, बुद्ध से इसका कुछ लेना-देना नहीं होगा। प्रत्येक व्यक्ति अपनी परम अवस्था में अद्वितीय होता है।
मैंने सुना है, प्रसिद्ध झेन गुरु क्वान झान के जीवन की घटना है। एक विद्यार्थी उनके पास व्यक्तिगत मार्गदर्शन के लिए आया। क्वान झान ने उससे पूछा कि अब तक उसने ध्यान किस गुरु के पास सीखा है? विद्यार्थी ने जब कहा कि वह जाकू शिस्तू के अंतर्गत योगेन मठ में अध्ययन करता था, तो गुरु ने कहा, मुझे दिखाओ वह जो तुमने सीखा है। विद्यार्थी ने उत्तर में कहा, सिद्धासन पर अचल बैठना मैंने सीखा है। और जल्दी से उसने पालथी मारी, आंख बंद कीं और सिद्धासन पर बैठ गया शरीर को अडोल करके।
क्वान झान तो खूब हंसा और उसने कहा--हट, बाहर निकल यहां से! मेरे मठ में पत्थर के बुद्ध बहुत हैं। और भीड़ बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है।
यह भी कोई बात सीखी? वह बिल्कुल बुद्ध बनकर बैठ गया। ठीक सिद्धासन मार लिया, आंख बंद कर लीं, रीढ़ सीधी कर ली, आंख बंद करके अडोल हो गया। वह सोचा कि शायद यह कोई बड़ी उपलब्धि है। यह तो कोई उपलब्धि नहीं।
जब बुद्धत्व घटता है, तो बाहर के किसी कारण से नहीं घटता। और जब बुद्धत्व घटता है, तो बाहर दो व्यक्ति कभी एक से नहीं होते, दो बुद्ध कभी एक से नहीं होते। बुद्ध को पालथी मारे बुद्धत्व हुआ, महावीर जब बुद्ध बने तो अजीब हालत में बैठे थे--उकडूं बैठे थे। उकडूं कोई बैठता है बुद्ध बनने के लिए! गोदोहासन में बैठे थे। उकडूं शब्द न लिखना पड़े, क्योंकि उकडूं बड़ा अजीब सा लगता है कि क्या कर रहे थे, तो जैनों ने शब्द खोज लिया--गोदोहासन। वे उकडूं नहीं लिखते। क्योंकि उकडूं जरा अजीब सा लगता है कि यह महावीर कर क्या रहे थे उकडूं बैठकर! मल-मूत्र विसर्जन करने गए थे, क्या कर रहे थे? उकडूं काहे के लिए बैठे थे? तो उन्होंने बेचारों ने अच्छा शब्द खोज लिया है, अब यह उकडूं शब्द जंचता नहीं, तो गोदोहासन। जैसे गऊ को दुहते वक्त कोई बैठता है, ऐसे बैठे थे। अब गऊ दुह रहे थे? दुह तो लिया परमात्मा को उन्होंने उस क्षण में।
कोई जानता नहीं, किस घड़ी, कैसी अवस्था में, उठते, बैठते कि चलते बुद्धत्व घटेगा। कोई आसन नहीं है जिसमें बुद्धत्व घटता हो। हां, बुद्धत्व घट जाए तो तुम्हारे सभी आसन भीतर की ज्योति से ज्योतिर्मय हो जाते हैं।

तो नकल में नहीं पड़ना। नकल से बचना। नकल बड़ा खतरनाक द्वार है। और बहुत लोग उलझ जाते हैं। क्योंकि यह बात आसान दिखती है। बुद्ध जैसे कपड़े पहनते हैं, ऐसे कपड़े पहन लें। इसमें क्या अड़चन है। यह तो बड़ी सुगम बात है। इसमें एक आशा बंधती है कि चलो, उन्हीं जैसे कपड़े पहन लिए, उन्हीं जैसे उठने लगे, उन्हीं जैसे बैठने लगे; वह जब सोते हैं, सोने लगे; वह जिस करवट सोते हैं, उसी करवट सोने लगे, तो शायद भीतर का भी घट जाए। भीतर की जो घटना है, वह बाहर के इन बाह्य आचरणों पर निर्भर नहीं है। तुम सोते रहो ठीक बुद्ध जैसे ही, कुछ फर्क न पड़ेगा।
बुद्धत्व का तो एक ही सूत्र है कि तुम्हारे प्रत्येक कृत्य में जागरूकता समाविष्ट हो जाए। तुम्हारा प्रत्येक कृत्य होश की गरिमा से भर जाए। तुम कुछ भी बेहोशी में न करो--कुछ भी। जो भी तुम करो, उस करने में होश रहे, बोध रहे कि मैं ऐसा कर रहा हूं। जब बोध रहता है तो गलत अपने आप बंद हो जाता है। जब बोध रहता है तो ठीक अपने आप होता है।

तीसरा प्रश्नः ओशो, अगर कल तक मैंने भी आपके आश्रम में किसी न किसी रूप में चोरी की हो और आज प्रबल भाव उठे कि ओशो के सामने जाकर अपना अपराध स्वीकार करूं और फिर एक मन कहे कि बीती ताहि बिसार दे आगे की सुधि लेहि, तो ऐसे में आप क्या मार्गदर्शन देंगे?

पूछा है कृष्णप्रिया ने।
पहली तो बात, जब भाव उठ रहा है तो भाव तो अभी उठ रहा है। भाव उठ रहा है
कि जाकर अपनी चोरी का, या अपनी भूल का, या अपने अपराध का स्वीकार कर लें, यह भाव तो अभी उठ रहा है। यह तो कुछ बीता हुआ भाव नहीं है। चोरी कभी की होगी, उससे कोई प्रयोजन नहीं है। यह भाव कि अपराध को स्वीकार कर लूं, यह तो अभी उठ रहा है। यह भाव तो बीता हुआ नहीं है। यह भाव अतीत में नहीं है, यह भाव तो वर्तमान में है। चोरी रही होगी अतीत में, चोरी को जाने दो, जो हो गया हो गया। लेकिन यह भाव तो अभी उठ रहा है, इस भाव को मत टालो। इस भाव को तो उठने दो, इसे तो प्रगट होने दो।
इस भाव के प्रगट होने में लाभ है। यह भाव पूरी तरह प्रगट हो जाए, इस भाव की पूरी स्वीकृति हो जाए, तो ही संभव होगा--बीती ताहि बिसार दे। क्योंकि जिस बात को हमने स्वीकार कर लिया, उसका बोझ हल्का हो जाता है। नहीं तो बोझ बना ही रहता है। स्वीकार करने का, कनफेशन का यही तो मूल्य है। तुमने किसी का बुरा सोचा, अगर जाकर कह दिया कि ऐसा मेरे मन में भाव उठा, क्षमा चाहता हूं, तो छुटकारा हो गया। लेकिन तुमने यह न कहा, तुमने सोचा कि मैंने किसी को बताया भी तो नहीं है, किसी को पता भी नहीं है, अब कहने की भी क्या जरूरत है, तो यह तुम्हें कुरेदता रहेगा। यह भीतर कहता रहेगा कि देखो, तुम्हारे मन में ऐसा बुरा भाव उठा था और तुम स्वीकार करने की भी सामर्थ्य न जुटा सके। यह अधूरा-अधूरा लटका रहेगा। यह तुम्हारे संग-साथ हो जाएगा। इसकी एक पर्त बन जाएगी।
ईसाइयों ने कनफेशन की बड़ी अदभुत प्रक्रिया खोजी, उसका मूल्य यही है।
हर धर्म ने दुनिया में कुछ न कुछ बात दी है, विशेष बात दी है। ईसाइयों ने जो विशेष बात दी है, वह कनफेशन है। केथलिक धर्म ने जो बड़े से बड़ा अनुदान दिया है मनुष्य-जाति को, वह कनफेशन है, स्वीकार कर लेना।
अंग्रेजी में कहावत हैः टू एर इज ह्यूमन, भूल करना मानवीय है। तो कुछ आश्चर्य नहीं कि कभी चोरी कर ली हो, इसमें कुछ बहुत बड़ी बात नहीं हो गयी। मनुष्य चोरी करते हैं। मानवीय है। कभी ऐसी घड़ी आ जाती है, करनी ही पड़ती है।
मानवीय है। अंग्रेजी की कहावत अच्छी है कि टू एर इज ह्यूमन, पर अधूरी है, आधी है। टू कनफेश इज डिवाइन, तब पूरी हो जाएगी। स्वीकार कर लेना दिव्य है। भूल करना मानवीय, स्वीकार कर लेना दिव्य। भूल कर ली तो घाव बन गया, स्वीकार कर लिया तो घाव खुल गया, मवाद बह गयी।
भूल कर ली और घाव को छिपाए-छिपाए फिरे, धूप न लगने दी, ताजी हवा न लगने दी, तो भरेगा नहीं। और मवाद बढ़ेगी और घाव धीरे-धीरे बड़ा होगा। नासूर हो जाएगा। कैंसर भी हो सकता है। खुला छोड़ो। मुक्त करो। मवाद को निकल जाने दो।

धूप लगने दो, ताजी हवा लगने दो, सूरज की किरणों को खेलने दो उस घाव के ऊपर, ताकि भर जाए। भरने का मौका दो।
तो कृष्णप्रिया पूछती है कि "अगर कल तक मैंने भी आपके आश्रम में किसी
न किसी रूप में चोरी की हो और आज प्रबल भाव उठे... ।"
तो प्रबल भाव उठता हो तो उसे पूरा करना। सौभाग्य है कि ऐसा भाव उठ रहा है। तब तो चोरी की, उससे भी लाभ ले लिया। अगर यह प्रबल भाव उठा और तुमने स्वीकार कर लिया, तो चोरी करने से जितनी भूल हुई, उससे कहीं बहुत ज्यादा लाभ स्वीकार करने से हो गया। चोरी करने से तो कुछ बड़ी भारी भूल नहीं हो गयी थी, ध्यान रहे, मानवीय है। ऐसा आदमी खोजना मुश्किल है जिसने कभी न कभी, किसी न किसी कारण, किसी न किसी ढंग से चोरी न कर ली हो। लेकिन जिसने स्वीकार कर लिया, उसने चोरी की भी सीढ़ी बना ली। उसने चोरी को भी लिटा दिया मंदिर की सीढ़ी पर और उसके ऊपर चढ़कर मंदिर में प्रवेश कर गया। मार्ग का पत्थर सीढ़ी बन गया।
स्वीकार करो। और जब प्रबल भाव उठ रहा है तो इसको दबाना मत, क्योंकि इसे दबाया अगर, तो यह दबा हुआ भाव बार-बार उभरेगा, और तुम्हें याद बार-बार चोरी की आएगी। और याद बार-बार चोरी की आए और बार-बार अपराध लगे कि बुरा किया, बुरा किया, तो दीनता पैदा होगी, भय पैदा होगा, चिंता पैदा होगी, डर लगेगा कि किसी दिन पकड़ न जाऊं, कोई जान न ले, किसी जाने-अनजाने किसी को खबर न हो जाए। तो तुम्हारे जीवन का जो खुलापन है, वह नष्ट हो जाएगा।
जीवन ऐसा हो कि उसमें छिपाने को कुछ भी नहीं है, तो एक मुक्तता होती है। तब तुम बंधे-बंधे अनुभव नहीं करते। खुले अनुभव करते हो। जितने जल्दी हो, छिपाने योग्य बातों को मुक्त कर देना चाहिए, कह देना चाहिए। हानि न होगी, लाभ ही लाभ होगा।
और अगर तुम इन घावों से मुक्त हो जाओ, तो ही वह घटना घटेगी जो तुम्हारा दूसरा मन कह रहा है--बीती ताहि बिसार दे आगे की सुधि लेहि। अभी तो वह मन चालबाजी कर रहा है, अभी तो वह मन यह कह रहा है कि छोड़ो भी! अच्छा वचन उद्धृत कर रहा है। तुमने सुना न कि शैतान भी शास्त्र के वचन उद्धृत करता है। शैतान को शास्त्र बिल्कुल कंठस्थ है। यह तो बड़ी तरकीब की बात कर रहा है मन। मन कह रहा है, बीती ताहि बिसार दे! अब क्यों पंचायत में पड़ना, किससे कहना, क्या कहना, क्या फायदा! अब किसी को पता भी नहीं चला। नाहक, अपने हाथ से झंझट में क्यों पड़ना!
अगर इस मन की मान ली, तो यह वही मन है जिसने चोरी की थी। आज कहता है, बीती ताहि बिसार दे, क्योंकि इसको घबड़ाहट लग रही है कि कहीं प्रबल भाव के प्रवाह में स्वीकार न कर लो। स्वीकार कर लिया तो आगे चोरी करना मुश्किल हो जाएगा। क्योंकि स्वीकार मनुष्य को दिव्य बनाता है। और दिव्यता जैसे-जैसे आनी शुरू होती है, छोटे काम मुश्किल हो जाते हैं।
यह मन डरा है। यह मन कह रहा है कि अरे, छोड़ो भी! खुद भगवान ही हजार बार
कह चुके कि बीती ताहि बिसार दे, जो गया सो गया, अतीत तो न हो गया, अब उसकी क्या चिंता करना!
लेकिन क्या सच में ही बीत गया है? अगर बीत गया था तो याद भी न आती। चोरी तुमने की होगी सालभर पहले कि दस साल पहले, इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता। अगर यह बीत ही गयी थी बात, तो इसकी याद क्यों आती?
यह बीती नहीं है। तुम्हारे मन में अभी भी अटकी है, कांटे की तरह चुभ रही है। कांटा लगा होगा छह महीने पहले, लेकिन कांटा अभी भी लगा है और चुभता है। और कभी-कभी ऐसा हो जाता है, कांटा भी निकल जाता है और फिर भी चुभन रह जाती है। चुभन भी निकलनी चाहिए, नहीं तो चुभन भी पीड़ा देती है। तुम्हें कई दफा पता चला होगा--कांटा तो निकल गया, फिर भी तुम खोजते हो कि कहीं कांटा मालूम होता है, क्योंकि चुभन अभी भी है। घाव रह गया।
मन से बहुत सावधान रहना, मन बहुत चालबाज है। और कभी-कभी बड़ी अच्छी बातें करता है--बीती ताहि बिसार दे! बीत ही गयी होती तो प्रबल भाव न उठता स्वीकार करने का।
पूछा है कृष्णप्रिया ने, "तो ऐसे में आप क्या मार्गदर्शन देंगे?"

मैं तो हमेशा ही प्रबल भाव के पक्ष में हूं। जो प्रबल भाव उठे, उसे दबाना मत। और जब ऐसा शुभ भाव उठ रहा हो, तब तो दबाना ही मत। तब तो उसे प्रगट करना। इससे तुम्हारी शुद्धता बढ़ेगी, स्वच्छता बढ़ेगी और दुबारा होने की संभावना कम हो जाएगी।

चौथा प्रश्नः क्या जब तक मन है, तब तक हम किसी न किसी तरह की राजनीति में उलझे ही रहते हैं? क्या मन से पार हुए बिना राजनीति से ऊपर उठने का कोई उपाय नहीं है? कृपा करके समझाएं।

मन ही राजनीति है। मन की सारी चेष्टाएं शोषण की हैं। मन के सारे आयोजन दूसरों पर मालकियत करने के हैं। मन महत्वाकांक्षा के जहर से भरा है। मन ही राजनीति है। इसीलिए तो मैं कहता हूं कि धार्मिक व्यक्ति को राजनीति की दिशा में जाना असंभव है। क्योंकि धार्मिक व्यक्ति पैदा ही तब होता है जब वह मन के पार उठता है, ध्यान में उठता है, अ-मन की दशा में जाता है, उन्मन होता है, तब तो धर्म पैदा होता है।
राजनीति का अर्थ होता हैः दूसरों पर कब्जा कर लूं, दूसरों से बड़ा हो जाऊं, दूसरों से महत्वपूर्ण हो जाऊं, दूसरों को पीछे डाल दूं, दूसरे न-कुछ सिद्ध हो जाएं और मैं सब कुछ हो जाऊं, मेरा अधिकार बड़ा हो, मेरी सत्ता बड़ी हो, मेरा अहंकार बड़ा हो, मेरा अहंकार सिंहासन पर बैठे, स्वर्ण-सिंहासन पर बैठे।
फिर ध्यान रखना कि जहां इतने लोग राजनीति में लगे हों, वहां सभी लोग स्वर्ण-सिंहासनों पर तो बैठ नहीं सकते। तो जो बैठने में सफल हो जाते हैं, वे अहंकारी हो जाते हैं; और जो बैठने में हारते जाते हैं और सफल नहीं हो पाते, वे धीरे-धीरे हीनता की ग्रंथि से भर जाते हैं। तो कुछ बन जाते हैं मालिक और कुछ बन जाते हैं गुलाम। लेकिन आदमी मालिक बने तो विकृत हो जाता है, गुलाम बने तो विकृत हो जाता है, आदमी तो आदमी ही रहे तो सुंदर होता है। किसी के मालिक बनना राजनीति है और किसी के गुलाम बन जाना भी राजनीति है। तो न तो किसी के मालिक बनना चाहना और न किसी के गुलाम बनना चाहना। न तो किसी को मौका देना कि तुम्हें मालिक बना ले और न किसी को मौका देना कि तुम्हें गुलाम बना ले।
दुनिया में दो तरह की राजनीति है। मालिक की राजनीति और गुलाम की राजनीति। मालिक की राजनीति प्रगट होती है, गुलाम की राजनीति अप्रगट होती है। इससे तुम यह मत समझना कि तुम पद पर नहीं हो, प्रतिष्ठा पर नहीं हो, तो तुम राजनीति के बाहर हो ही गए। जरूरी नहीं है। पद-प्रतिष्ठा पर भला न होओ, तो तुम गुलाम की राजनीति का खेल खेल रहे होओगे। तुम वहां से चालबाजी चलोगे।
इसे समझो। पुरुषों के हाथ में ताकत है, स्त्रियों के हाथ में ताकत नहीं है, तो स्त्रियां गुलाम की राजनीति का पार्ट अदा कर रही हैं सदियों से। बड़ी तरकीब से पुरुष को गुलाम करती हैं। तरकीब सूक्ष्म होती है। पुरुष को बिल्कुल निर्भर कर देती हैं। मालिक तो पुरुष है, दिखावे के लिए मालिक पुरुष है। और पुरुष मानता है कि वह मालिक है, उसकी चलती है, लेकिन भीतर स्त्री तरकीब से चलाती है। रोती है, परेशान होती है, बीमार हो जाती है। तो उसकी माननी पड़ती है। वह गुलाम की राजनीति है, वह कमजोर की राजनीति है। दोनों भ्रष्ट हो गए। नेता भ्रष्ट हो गए हैं, अनुयायी भ्रष्ट हो गए हैं। मालिक भ्रष्ट हो गए हैं, गुलाम भ्रष्ट हो गए हैं। राजनीति का मतलब ही केवल इतना है कि मैं दूसरे को चलाऊं। किस तरह से चलाऊं, यह बात महत्वपूर्ण नहीं है।
मैं एक कहानी पढ़ रहा था। सच ही होगी कहानी।
तारीख उन्नीस मार्च को लोकसभा के लिए मतदान होना था। सरकार तब कांग्रेस की थी। अठारह मार्च की शाम को एक घर में तीन मित्र बैठे बातें कर रहे थे। स्वभावतः, अठारह मार्च की शाम और बात होती भी क्या, राजनीति की बात चल रही थी--क्या होगा चुनाव का फल? एक ने कहा, कल मतदान हो जाएगा। दूसरे ने

कहा, इस बार जनता पार्टी का बड़ा जोर है। तीसरे ने कहा, हम तो कांग्रेस को ही वोट देंगे, आफ्टर आल हम सरकारी आदमी हैं।
मतदान हो गया। बाईस तारीख को चुनाव-परिणाम की घोषणा के बाद फिर वे ही तीन लोग बैठे बातें कर रहे थे। एक ने कहा, अब तो जनता पार्टी की सरकार बन ही गयी। दूसरे ने कहा, किसी को उम्मीद नहीं थी कि कांग्रेस इस बुरी तरह से हारेगी और जनता पार्टी इस कदर जीतेगी। तीसरे ने कहा--ये वही सज्जन थे, जिन्होंने कहा था कि हम तो सरकारी आदमी ठहरे, सरकारी नौकर थे, तो हम तो कांग्रेस को ही वोट देंगे--ये तीसरे सज्जन बोले, ठीक है जी, हमारा वोट जनता पार्टी के काम आ गया। दोनों मित्र चौंके, उन्होंने कहा, क्या कहते हो? आप तो कह रहे थे, मैं कांग्रेस को वोट दूंगा। उन्होंने कहा, तो क्या आपने जनता पार्टी को वोट दिया फिर? वे तीसरे सज्जन बोले, हां जी, आफ्टर आल हम सरकारी नौकर हैं।
जिसकी लाठी उसकी भैंस, उसके साथ हम।
एक तो मालिक जो बन बैठे हैं, उसकी राजनीति है। और एक जो मालिक नहीं बन पाता, उसकी राजनीति है। दोनों से मुक्त होना है। दोनों से मुक्त आदमी ही संन्यस्त है। किसी के मालिक बनना अनाचार है। हर एक व्यक्ति अपना मालिक है। क्यों कोई दूसरा किसी का मालिक हो? और किसी का गुलाम बनना अपना आत्म-अपमान है। अपनी आत्मा का इतना दमन और अपमान करना उचित नहीं।
तो न तो किसी के मालिक बनना और न किसी के गुलाम बनना। ऐसा जो आदमी है, उसको मैं संन्यस्त कहता हूं। और ऐसी दशा लाने के लिए तुम्हें मन से धीरे- धीरे पार जाना ही होगा। मन कहीं न कहीं उलझा देगा अन्यथा। मन किसी न किसी तरह की राजनीति में डुबा देगा।
तुम ठीक ही पूछते हो कि "क्या जब तक मन है, तब तक हम किसी न किसी तरह की राजनीति में उलझे ही रहेंगे?"
उलझे ही रहोगे। क्योंकि मन ही राजनीतिज्ञ है। मन का जब तक तुम पर कब्जा है, तब तक मन की भाषा यही है, मन के सोचने का ढंग यही है
मैक्यावेली ने कहा है, या तो तुम दूसरे के मालिक बन जाओ, अन्यथा दूसरा तुम्हारा मालिक बन जाएगा। यह मन का गणित है। मन कहता है, या तो दूसरे को हराओ, अन्यथा दूसरा तुम्हें हरा देगा। या तो विजेता बनो, या पराजित हो जाओगे। चुन लो जो चुनना हो। मन कोई दूसरा विकल्प ही नहीं देता, बस ये दो बातें देता है--या तो पिट जाओ, या पीट दो।
दोनों हालतें बुरी हैं। दोनों हालत में जीवन नष्ट हो जाता है। मैक्यावेली को संन्यास का कोई ख्याल भी नहीं था, कल्पना भी नहीं थी। संन्यास का अर्थ, दोनों के बाहर हो जाओ। यह जो बाहर हो जाना है, बाहर की घटना नहीं है, यह तो तुम जब मन के बाहर हो जाओगे तभी घटेगी।
तो अपने भीतर मन से बाहर सरक जाओ, मन की बहुत मत सुनो। मन कहता है, नाम छोड़ना है! इतिहास में काम कर जाना है! कुछ करके दिखा दो! मन कहता है, धन ही इकट्ठा कर लो, पद ही इकट्ठा कर लो, लोगों को बतला दो कि तुम क्या हो! इस मन की सुनी अगर तुमने, तो तुम चल पड़े महत्वाकांक्षा की यात्रा पर। फिर हो सकता है स्थूल रूप में तुम राजनीति में भाग न भी लो... ।
समझो कि एक आदमी मुनि हो गया है, वह राजनीति में भाग लेता भी नहीं, लेकिन तब और तरह की राजनीति चलने लगती है। वह सोचता है कि मैं जो संसारी हैं उनसे श्रेष्ठ हूं। यह राजनीति हो गयी। इसमें कुछ फर्क न रहा। मैं श्रेष्ठ हूं, तो राजनीति हो गयी। यह तरकीब से श्रेष्ठ हो गया। कोई आदमी चुनाव लड़कर श्रेष्ठ हो गया, कोई आदमी धन इकट्ठा करके श्रेष्ठ हो गया, यह आदमी त्याग करके श्रेष्ठ हो गया। मगर श्रेष्ठ होने का खेल जारी रहा।
मन के बाहर होने का अर्थ होता है, मेरी अब कोई महत्वाकांक्षा नहीं। मैं जो हूं, पर्याप्त हूं। मैं जैसा हूं, सुंदर हूं। मुझे अपना होना स्वीकार है। मैं आह्लादित हूं, जैसा प्रभु ने मुझे बनाया, जैसा मैंने अपने को पाया, मैं धन्यभागी हूं। इससे अन्यथा होने की, किसी के ऊपर बैठने की कोई आकांक्षा नहीं है। और न किसी को नीचे बिठाने की कोई आकांक्षा है।

ऐसी तृष्णा के बाहर जो चित्त की दशा है, वहीं राजनीति समाप्त होती है। सिर्फ बुद्धों की ही राजनीति समाप्त होती है। और राजनीति समाप्त तो संसार समाप्त। संसार राजनीति का फैलाव है। राजनीति समाप्त तो आवागमन समाप्त।

पांचवां प्रश्नः जीवन दुख है, भगवान बुद्ध का इस बात पर इतना जोर क्यों है? क्या जीवन सचमुच दुख ही दुख है, दुख के सिवा उसमें और कुछ भी नहीं है?

जीवन दुख है, इसलिए बुद्ध का इतना जोर है कि जीवन दुख है। यह जोर इसीलिए है कि तुम इतने मूर्च्छित हो कि दुख में पड़े हो और तुम्हें दुख नहीं दिखायी पड़ता। इसलिए बुद्ध चिल्ला-चिल्लाकर कहते हैं कि जीवन दुख है-- जन्म दुख है, जवानी दुख है, जरा दुख है, सब दुख है। यह बुद्ध का इतना चिल्ला- चिल्लाकर कहना इसलिए है कि तुम बहरे हो। तुमसे धीरे-धीरे कहा जाए तब तो तुम सुनोगे ही नहीं, चिल्ला-चिल्लाकर कहने पर भी नहीं सुनते।
और देखो, तुम पूछ रहे हो उलटा कि "जीवन दुख है, भगवान बुद्ध का इस बात
पर इतना जोर क्यों है?"
तुम दिखता है कि थोड़े नाराज भी हो, कि यह आदमी क्यों चिल्लाए चला जा रहा है कि जीवन दुख है! हम जरा मजा ले रहे हैं रुपये गिनने में, अपने बाल-बच्चों को सम्हालने में, और यह आदमी कहे चला जा रहा है--जीवन दुख है! यह हमारा मजा खराब किए देता है। हम किसी तरह घर बनाए हैं और यह आदमी कह रहा है--जीवन दुख है! अभी तो घर बना है, अभी तो ठहरो। अभी तो जरा उत्सव मना लेने दो, बंदनवार लगाने दो, बैंड-बाजा बजाने दो। हम तो विवाह करने जा रहे हैं और आप रास्ते में खड़े चिल्ला रहे हैं कि जीवन दुख है! अरे, विवाह तो हो जाने दो! जल्दी क्या है? आएगा बुढ़ापा, आएगी मौत, तब देख लेंगे।
इसलिए बुद्ध ने यह नहीं कहा कि बुढ़ापा दुख है, बुद्ध ने जन्म से शुरू किया, बुद्ध ने कहा, जन्म दुख है। बुद्ध ने यह नहीं कहा कि मृत्यु दुख है, बुद्ध ने कहा, जन्म ही दुख है--मृत्यु तो होगी ही। हम तो मानते हैं कि मृत्यु है दुख, मृत्यु तो आएगी जब आएगी। कौन जाने आती भी कि नहीं आती, सदा दूसरे की आती, अपनी तो कभी आती नहीं। और हो सकता है हम बच जाएं कोई तरकीब से, या कौन जाने विज्ञान तब तक कोई उपाय खोज ले, कोई दवा खोज ले। और फिर जब होगा तब होगा, इतनी दूर की तो बात हमें पकड़ती भी नहीं, परेशान भी नहीं करती।
इसलिए बुद्ध कहते हैं, जन्म दुख है, जवानी दुख है। बुद्ध कहते हैं, मित्रता दुख है, प्रेम दुख है, संबंध दुख है, राग दुख है। बुद्ध कहते हैं, हार दुख है, जीत दुख है, असफलता तो दुख है ही, सफलता भी दुख है। सफल आदमी को भी तो देखो जरा। जब वह बैठ जाता है अपनी कुर्सी पर, तब उसकी हालत तो देखो जरा! सफलता भी क्या खाक सफलता है! बुद्ध कहते हैं, सब दुख है।
तुम्हें सुनकर थोड़ी बेचैनी हुई होगी, इसीलिए तुम पूछते हो, कि हमें सुख से बैठने न दोगे! हम दो क्षण अपने को भुला लें, तो भूलने न दोगे! हम थोड़ा अपने को रंग में डुबा लें, तो डूबने न दोगे! तुम चिल्लाए ही चले जा रहे हो कि जीवन दुख है!
तुम पूछते हो कि "क्या जीवन सचमुच ही दुख है? दुख ही दुख, दुख के सिवा उसमें और कुछ भी नहीं?"
नहीं, और बहुत कुछ है। इसीलिए बुद्ध दोहराते हैं कि जीवन दुख है। ताकि
वह जो बहुत कुछ है, उसकी तरफ तुम्हारी आंख उठे। तुम्हारा जीवन दुख है। जब बुद्ध कहते हैं, जीवन दुख है, बुद्ध अपने जीवन को दुख नहीं कह रहे हैं, स्मरण रखना। मैं भी तुमसे कहता हूं, तुम्हारा जीवन दुख है, दुख ही दुख है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि मैं जीवन की निंदा कर रहा हूं। मैं सिर्फ इतना ही कह रहा हूं कि तुम्हारे जीवन का जो ढंग है, वह दुख है। एक और ढंग भी है जो महासुख है। तुम्हारा जीवन दुख है, मेरा जीवन दुख नहीं है। और तुम्हारा जीवन दुख है, यह तुम्हें दिखायी पड़े तो ही तुम मेरे जीवन की तरफ चल सकोगे, नहीं तो नहीं चल सकोगे।

अब तुम समझना। बुद्ध के साथ बहुत अन्याय हुआ है। पश्चिम में तो बुद्ध
पर बहुत किताबें लिखी गयी हैं, सबमें बुद्ध को पैसिमिस्ट, निराशावादी लिखा है। कि यह आदमी दुखवादी है, यह आदमी दुख ही दुख की बात करता है। यह कहता है, सब दुख है। यह आदमी तो निराशा पैदा कर देता है।
वह सब भ्रांत बातें हैं, वह धारणा गलत है। बुद्ध दुख की बात करते हैं, इसलिए नहीं कि दुखवादी हैं। भूल-चूक हो गयी पश्चिम में समझने वालों की। पश्चिम में दुखवादी हुए हैं, तो उन्होंने सोचा कि यह आदमी भी दुखवादी है। पश्चिम में दुखवादी हैं, जो कहते हैं, दुख है। शापेनहार कहता है, सब दुख है। मगर वह दुखवादी है। वह कहता है, इस दुख के पार कोई उपाय ही नहीं है। दुख से छूटने की कोई संभावना ही नहीं है। दुख के अतिरिक्त कोई होने की व्यवस्था ही नहीं है। ये दुखवादी हैं।
और शापेनहार को भी यह भ्रांति है कि वह बुद्ध से प्रभावित है। वह बिल्कुल भी बुद्ध से प्रभावित नहीं है, वह बुद्ध के बिल्कुल विपरीत बात कह रहा है। उसने बुद्ध के चार आर्य-सत्य समझे नहीं। बुद्ध कहते हैं, दुख है। दूसरा आर्य-सत्य, दुख के कारण हैं। अकारण नहीं है दुख। अगर अकारण हो तो फिर मिटाना मुश्किल है। दुख है, जरूर दुख है, लेकिन इसके कारण हैं। अगर कारण छोड़ दो, दुख मिट जाएगा। और फिर तीसरा सत्य है कि इस दुख को मिटाने के उपाय हैं। और फिर चौथी घोषणा है--बुद्ध कहते हैं, मैं अपने अनुभव से कहता हूं, वह दशा भी है जहां दुख बिल्कुल निरुद्ध हो जाता है, जहां दुख बिल्कुल समाप्त हो जाता है।
बुद्ध को दुखवादी कहोगे? पहली बात ही सुनी और बात खतम हो गयी! तुम डाक्टर के पास गए और उसने कहा कि तुम्हें टी.बी. है। और तुम भागे कि यह आदमी दुखवादी है। इसने हमको टी.बी. बता दी। हम तो वैसे ही परेशान हैं और अब इन्होंने टी.बी. बता दी। किसी तरह अपने को भुला रहे थे, किसी तरह अपने को चला रहे थे, अब इस आदमी ने और मुसीबत खड़ी कर दी।
तुमने पूरी बात ही न सुनी। वह यह कह रहा था कि हां, क्षयरोग है, क्षयरोग के कारण हैं, क्षयरोग के कारणों से छुटकारे के लिए औषधियां हैं और क्षयरोग से छूट गयी अवस्था भी है। तुमने तीन सत्य सुने ही नहीं। पहले सत्य पर ही शापेनहार उलझ गया, और उसने मान लिया कि वह बुद्ध को समझ गया।
ऐसे ही ज्यां पाल सार्त्र है पश्चिम में, जो कहता है कि सब दुख है, अर्थहीन, विषाद ही विषाद, जीवन संताप ही संताप। तो पश्चिम को ऐसा लगता है कि बुद्ध वही कह रहे हैं जो शापेनहार कहते हैं और सार्त्र कहते हैं। नहीं, बुद्ध की बात बिल्कुल भिन्न है। बुद्ध से बड़ा महासुखवादी खोजना मुश्किल है। मुझे ऐसा कहने दो कि बुद्ध से बड़ा सुखवादी खोजना कठिन है। बुद्ध हेडोनिस्ट हैं, सुखवादी हैं। और इसीलिए तुम्हारे दुख को बार-बार दिखाते हैं कि तुम नाहक दुख में समय खराब कर रहे हो, सुख हो सकता है। इधर बगल में पड़ी है बात, इस हाथ की तरफ तो देखो जरा, तुम एक ही तरफ उलझे हो और जीवन को दुख में डाले जा रहे हो।
बुद्ध का इतना चिल्लाना करुणा के कारण है। बुद्ध देखते हैं कि तुम्हारे भीतर सुख की महावर्षा हो सकती है और तुम दुख के कीड़े बन गए हो, इसलिए चिल्लाते हैं। बुद्ध दुखवादी नहीं हैं और न ही तुम्हारे जीवन का सुख छीन लेना चाहते हैं--सुख तो है ही नहीं, छीनेंगे भी क्या! बुद्ध तुम्हारे जीवन का यथार्थ तुम्हें बता देना चाहते हैं। ताकि तुम्हें यथार्थ चुभने लगे, छाती में तीर की तरह लगने लगे और एक दिन तुम भी पूछो कि ठीक है, देखा कि जीवन दुख है, अब उपाय क्या है? जब दुख दिखायी पड़ेगा तभी तो उपाय पूछोगे न!
इसलिए बुद्ध दोहराते हैं कि दुख ही दुख है। क्योंकि सुख ही सुख हो सकता है। यही ऊर्जा जो दुख बन रही है, यही ऊर्जा सुख बन जाती है। यही जो अभी विषाद बना है, उत्सव बन जाता है। यही जो अभी आंसू हैं, गीत बन जाते हैं।

छठवां प्रश्नः मैं बहुत अज्ञानी हूं, दया करें और मुझे ज्ञान दें।

ज्ञान तो दिया नहीं जा सकता। हां, लिया जा सकता है, दिया नहीं जा सकता। तुम ले लो तो ले लो, मेरे दिए न हो सकेगा। नदी बह रही है, तुम पीना चाहो पी लो, नदी छलांग लगाकर तुम्हारे ओंठों को न छू सकेगी। नदी बहती रहेगी, तुम पर निर्भर है। झुक जाओ, भर लो अंजुलि, जितना पीना हो पी लो। मेरी तरफ से देने में कमी नहीं है, लेकिन मैं तुम्हें दे न सकूंगा, तुम लेना चाहो तो ले सकोगे--मैं इधर उपलब्ध हूं।
पूछते हो, "मैं बहुत अज्ञानी हूं, दया करें और मुझे ज्ञान दें।"
फिर दूसरी बात, तुम्हारी धारणा अज्ञान के संबंध में और ज्ञान के संबंध में जरूर कुछ भ्रांत होगी। तुम सोचते हो शायद, तुम्हें कुछ बातें पता नहीं हैं, पता हो जाएं तो तुम्हारा अज्ञान मिट जाएगा। नहीं जी! कुछ बातें पता चलने से अज्ञान नहीं मिटेगा, अज्ञान ढंक जाएगा। अज्ञान को मिटाना हो तो कुछ बातें पता चलने की जरूरत नहीं है, एक ही बात पता चलने की जरूरत है कि तुम कौन हो? और तुम कौन हो, यह मैं तुम्हें कैसे बताऊंगा?
तुम कौन हो, यह तो तुम्हें अपने अंतर्तम में जाकर देखना होगा। तुम हो, बड़ी बात तो यही है कि तुम हो। और तुम होशपूर्वक भी हो, नहीं तो कौन पूछता कि मैं अज्ञानी हूं और मुझे ज्ञान दें? तुम्हें होश भी है। धीमा-धीमा है, धुंधला-धुंधला है; ज्योति है, बहुत साफ नहीं है, लेकिन है तो। साफ की जा सकती है। सोना है, मिट्टी मिला है, तो मिट्टी बाहर निकाली जा सकती है, आग में सोना डाला जा सकता है। जल है, अस्वच्छ है, छाना जा सकता है, निखारा जा सकता है। वस्त्र हैं, गंदे हैं, तो साबुन उपलब्ध है--संन्यास साबुन है--धो लो।
लेकिन ख्याल रखना कि ज्ञान कोई ऐसी बात नहीं है जैसे जानकारी। जानकारी ज्ञान नहीं है। इन्फर्मेशन ज्ञान नहीं है। ऐसा कुछ नहीं है कि मैं तुम्हें बता दूं कि परमात्मा है, आत्मा है, और तुमने सुन लिया और तुमने जान लिया और अज्ञान मिट गया। काश, इतना सस्ता होता! काश, इतना आसान होता! तब तो तुम जानते ही हो ये बातें, अब और जनाने को क्या है? नहीं, अज्ञान मिटता है भीतर के जागरण से, बाहर से आयी हुई सूचनाओं से नहीं। बाहर से सूचनाएं आती हैं, अज्ञान ढंक जाता है, आदमी पंडित हो जाता है, ज्ञानी नहीं हो पाता। ज्ञानी तो होता है भीतर के विस्फोट से, भीतर की ज्वाला के सुलगने से।
और भीतर की ज्वाला सुलगानी हो तो अज्ञान की अवस्था बिल्कुल ठीक है। मेरे पास पंडित आ जाता है तो पहले मुझे उसे अज्ञानी बनाना पड़ता है। पहले उसका ज्ञान छीनना पड़ता है। क्योंकि अज्ञान तो स्वाभाविक है, ज्ञान कृत्रिम है। अज्ञान नैसर्गिक है, निसर्ग से रास्ता निकलता है, कृत्रिम से कोई रास्ता नहीं निकलता। झूठ से कैसे कोई रास्ता निकलेगा!
तो तुम तो अच्छा है कि तुम जानते हो कि तुम अज्ञानी हो। यही मेरी भावना है कि ऐसा तुमने प्रश्न ही न पूछा हो भर, अगर तुम जानते ही हो कि तुम अज्ञानी हो तो बड़ी बात तो हो गयी, आधी बात तो हो गयी। तो मुझे तुमसे पांडित्य न छीनना पड़ेगा, यह आधा काम तो समाप्त हुआ।
बहुत बड़ा संगीतज्ञ हुआ--वेजनर। उसके पास जब कोई संगीत सीखने आता था,
तो कभी वह किसी से कुछ फीस मांगता, किसी से दो गुनी फीस मांगता, अजीब था मामला! और एक दफा दो साथी साथ ही साथ आए संगीत सीखने, उसने एक से तो आधी फीस मांगी और एक से दुगुनी फीस मांगी। और जिससे दुगुनी मांगी, वह थोड़ा हैरान हुआ। उसने कहा, यह भी कोई बात हुई? मैं दस साल से संगीत का अभ्यास कर रहा हूं, मुझसे दुगुनी फीस! और यह आदमी बिल्कुल सिक्खड़ है, इसने कुछ सीखा ही नहीं, इसने कभी हाथ नहीं लगाया संगीत को, और इससे आधी! मुझसे आधी लेते तो तर्कसंगत होता।
वेजनर ने कहा कि नहीं भाई, तुम्हें मेरे तर्क का पता नहीं। दस साल तुमने सीखा न! अब मुझे उस सीखने को भी भुलाना पड़ेगा, पहले सफाई करनी पड़ेगी।
यह आदमी कम से कम साफ-सुथरा है, कोरा है। इसकी स्लेट पर कुछ लिखा नहीं है।
इससे आधी फीस लेता हूं। तुमसे दुगुनी मांगी है, तुम्हारी स्लेट पर बहुत कुछ लिखा है, जब तक मैं वह साफ न कर लूं तब तक नयी बात लिखी न जा सकेगी।

तो मैं तुमसे कहता हूं, तुम धन्यभागी हो कि तुम्हें पता है कि तुम अज्ञानी हो। अब इस अज्ञान को जल्दबाजी में ज्ञान में छिपा मत लेना, ज्ञान में आच्छादित मत कर लेना। यह अज्ञान शुभ है। इस अज्ञान से रास्ता निकलता है। वह रास्ता ध्यान की तरफ मुड़ना चाहिए, ज्ञान की तरफ नहीं। ज्ञान की तरफ मुड़ा, चूक जाओगे; ध्यान की तरफ मुड़ा, एक दिन ज्ञान को उपलब्ध हो जाओगे।
यह बात विरोधाभासी लगेगी--ज्ञान की तरफ गए तो ज्ञान कभी भी न हो पाएगा, ध्यान की तरफ गए तो ज्ञान होना निश्चित है। और ध्यान और ज्ञान की प्रक्रियाएं अलग-अलग हैं। ध्यान की प्रक्रिया है--बोध, जागरूकता। और ज्ञान की प्रक्रिया है--शास्त्र, सिद्धांत, दर्शन, फिलासफी। दोनों अलग-अलग बातें हैं।
यह छोटी सी घटना तुम सुनो--
एक प्रभात एक नए भिक्षु ने सदगुरु पेंग ची के आश्रम में पहुंचकर एक प्रश्न पूछा था। उस भिक्षु का नाम था, चिंग शुई। उसने जाकर कहा था, यह चिंग शुई बहुत अकेला, बहुत अज्ञानी और बहुत दरिद्र है; इस बूढ़े भिक्षु को कुछ आत्मिक समृद्धि चाहिए, पूज्यश्री दया करें! सदगुरु ने एक क्षण उसे देखा और फिर बड़े जोर से आवाज दी--भंते, चिंग शुई! शुई ने कहा--जी, गुरुदेव! सदगुरु हंसने लगे, और बोले, शराब के प्याले पर प्याले पीने पर भी पीने वाला कहता है कि मेरे ओंठ अभी गीले नहीं हुए हैं। यह अदभुत बात उन्होंने कही। शराब के प्याले पर प्याले पीने के बाद भी पीने वाला कहता है कि मेरे ओंठ अभी गीले नहीं हुए हैं।
क्या हुआ? सिर्फ पुकारा था नाम--भंते, चिंग शुई! और भिक्षु ने उत्तर दिया था--जी, गुरुदेव! सदगुरु यह कह रहे हैं कि तुझे इतना होश है कि मैंने पूछा और तूने उत्तर दिया, मैंने पुकारा और तूने आवाज का उत्तर दिया, तुझे इतना होश है, तो बस काफी है। इतने ही होश को थोड़ा और गहरे करते जाना है। होश का तू प्याला पीता ही रहा जन्मों-जन्मों तक, तूने ठीक से पहचाना नहीं।
यह अदभुत बात उन्होंने कही। उन्होंने कहा, जो बोला, वही तो है समृद्धि। मैंने पुकारा और तूने सुना, तू बहरा नहीं है, यही तो है समृद्धि। मैंने पुकारा और प्रत्युत्तर आया, तू अचेतन नहीं है, यही तो है समृद्धि। मैंने पुकारा और तत्क्षण--एक क्षण बिना सोचे--तूने अपनी उपस्थिति जतला दी, तेरे भीतर सोच-विचार न हुआ, यही तो है ध्यान। यह घड़ी गहरी होती जाए तो अभी प्याले पर प्याला पीआ है, फिर तू पूरी सरिता, पूरा सागर पी जाएगा।
तुम पूछते हो, "मैं बहुत अज्ञानी हूं, दया करें और मुझे ज्ञान दें।" अज्ञानी होना अच्छा है, शुभ है। अज्ञानी यानी सरल, अज्ञानी यानी जटिल नहीं, अज्ञानी यानी बच्चे जैसा। अच्छा है। इस अज्ञान को खराब मत कर लेना।
मैं अज्ञान के पक्ष में हूं। मैं ज्ञान के बिल्कुल पक्ष में नहीं हूं।
अज्ञान से मेरा बड़ा लगाव है। अज्ञान तो बड़ी शुभ घटना है, कुछ घेरे नहीं है तुम्हारे मन को।
इस घड़ी में ध्यान की तरफ मुड़ो। जीवन सब तरफ से पुकार रहा है, उत्तर दो। ज्यादा संवेदनशील बनो। जब वृक्ष की हरियाली पुकारे, तो गौर से उस हरियाली को आंखों में उतर जाने दो। जब पक्षी पुकार करें, तो उस पुकार को सुनो और तुम्हारे हृदय को उस पुकार के साथ डोलने दो। जब हवा का झोंका आए, तो उस झोंके को ऐसे ही मत लौट जाने दो, धन्यवाद दो, उसके साथ डोलो। जब आकाश की तरफ आंखें उठाओ, तो इस विराट आकाश के प्रति अनुग्रह का भाव रखो। चांद-तारे जब तुम्हें पुकारें तो सुनो। चारों तरफ से पुकार रहा है सदगुरु--भंते, चिंग शुई! चारों तरफ से पुकार आ रही है। परमात्मा सब तरफ से पुकार रहा है। तुम जरा थोड़े कम बहरे, कम अंधे, बस इतना काफी हो जाएगा।
धीरे-धीरे होश बढ़ेगा, धीरे-धीरे होश गहरा होगा। और जैसे-जैसे होश गहरा होता है, वैसे-वैसे तुम ज्ञान के करीब आने लगे। ज्ञान तुम्हारे भीतर पड़ा है। ज्ञान तुम साथ लेकर आए ही हो। तुम्हारी समृद्धि तुम्हारे साथ है, तुम्हारा साम्राज्य तुम्हारे साथ है। इसीलिए तो जीसस बार-बार कहते हैं, प्रभु का राज्य तेरे भीतर है।

आखिरी प्रश्नः मन यदि स्वप्नवत है, तो फिर मन से जो भी किया जाए वह भी
तो स्वप्नवत ही होगा न! तब क्या साधना भी स्वप्नवत ही है और संन्यास भी?

ऐसा ही है। साधना भी स्वप्न है और संन्यास भी। मगर स्वप्न-स्वप्न में भेद है।
एक कांटा लग जाता है पैर में तो दूसरे कांटे से हम पहले कांटे को निकालते हैं। दूसरा भी कांटा है, ध्यान रखना। मगर एक लग गया है कांटा तो दूसरे कांटे से निकालते हैं। दूसरा कांटा नहीं है, ऐसा मत सोच लेना, नहीं तो बड़ी भूल हो जाएगी। फिर जब पहला कांटा निकल गया तो क्या करते हो? दोनों कांटे फेंक देते हो। यह थोड़े ही है कि दूसरे कांटे को सम्हालकर रख लेते हो, कि इसको तिजोड़ी में बंद रखते हो, कि इसकी पूजा करते हो।
संसार कांटा है। संन्यास भी कांटा है। एक कांटे से दूसरे कांटे को निकाल लेना है। फिर दोनों बेकार हो गए। परम अवस्था में संन्यास भी नहीं है।
उस ब्राह्मण ने जिसने बुद्ध से पूछा कि आप देव हैं, गंधर्व हैं, मनुष्य हैं, वह एक बात भूल गया, उसे पूछना चाहिए था, आप संन्यासी हैं, गृहस्थ हैं? तो भी वह कहते कि न मैं संन्यासी हूं, न गृहस्थ हूं। वह कहते, मैं बुद्ध हूं। बुद्धत्व की घटना में कहां संसार और कहां संन्यास! संसार बीमारी है, तो संन्यास औषधि है। लेकिन जब बीमारी चली गयी तो तुम औषधि की बोतल भी तो फेंक आते न कचरेघर में! उसको सम्हालकर थोड़े ही रख लेते हो। या लायंस क्लब को दान कर आते हो! उसका करोगे क्या? व्यर्थ हो गयी।
जहर से जहर को मिटाना पड़ता है। संन्यास भी उतना ही स्वप्न है, जितना संसार।
इस छोटी सी कहानी को अपने हृदय में लो--
एक व्यक्ति ने स्वप्न में देखा कि वह चोरी के जुर्म में पकड़ लिया गया है--होगा कृष्णप्रिया जैसा, स्वीकार न करोगे तो सपना आएगा, सपने में फंसोगे; इससे बेहतर है, जागने में स्वीकार कर लेना चाहिए--एक व्यक्ति ने स्वप्न में देखा कि वह चोरी के जुर्म में पकड़ लिया गया है और जेल में बंद है। उसने बहुत आरजू-मिन्नतें कीं, मित्रों को कहा, मजिस्ट्रेट को कहा, किंतु कोई काम नहीं आया, कोई काम नहीं हुआ। वह जानता था कि वह निर्दोष है, किंतु फिर भी अपने को बचा नहीं पा रहा था।
उसी बीच जब उसके दुख के उसकी आंखों में आंसू थे, एक सर्प ने उसे काट खाया। सर्प के काटते ही एक चीख उसके मुंह से निकली और वह जग गया। और उसने पाया कि वह तो बिल्कुल ठीक है, और आराम से अपने बिस्तर पर है। न कोई चोरी की है, न कोई मजिस्ट्रेट है, न कोई जेल है, न कोई सजा है।
वह बहुत हंसने लगा। वह तो कभी बंदी था ही नहीं। उसका बंदी होना, उसकी आरजू-मिन्नतें, मित्रों, मजिस्ट्रेटों से, जेलर से, प्रार्थनाएं, सब स्वप्न थे। वह सांप भी स्वप्न ही था जिसने उसे काटा, पर उसमें अन्य वस्तुओं से थोड़ी सी भिन्नता थी। उसने उसे जगा दिया। जागने पर वह सांप भी असत्य हो गया। लेकिन उसमें जगाने की सामर्थ्य थी। जेल भी झूठ था, सांप भी झूठ था, चोरी भी झूठ थी, मित्र और मजिस्ट्रेट भी झूठ थे, कारागृह में पड़ा हुआ, हाथ में जंजीरें बंधा हुआ, वह भी झूठ था, वह सांप भी झूठ था। लेकिन झूठ-झूठ में थोड़ा फर्क था, सपने-सपने में थोड़ा फर्क था। उस सांप ने काटा--हाथ में जंजीरें थीं तो अपने को बचा भी नहीं पाया, बचाता भी कैसे--काटा तो चीख निकल गयी। चीख निकली तो नींद टूट गयी।
ऐसा ही समझना। साधना भी उतना ही स्वप्न है जितना संसार। पर स्वप्न-स्वप्न में भेद है। अगर साधना को काटने दिया तो चीख निकल जाएगी। उसी चीख में जागरण हो जाएगा। हां, जागकर तो वह भी झूठ हो गया सांप, जागकर तो वह भी उतना ही असत्य हो गया। पहले सांप ने जेल के सपने को खाया, मजिस्ट्रेट के सपने को खाया, कैदी के सपने को खाया और फिर अंततः सांप अपने को भी खाकर मर गया, उसने आत्महत्या कर ली।
संन्यास पहले संसार को मिटा देता है, और फिर स्वयं आत्मघात कर लेता है
और मिट जाता है। संन्यास कोई आखिरी बात नहीं है, मध्य की बात है। जोड़ने

वाली बात है। संन्यास एक उपाय है, बस, इससे ज्यादा नहीं है। और उपाय की भी इसीलिए जरूरत है कि हम कहीं उलझे हैं। न उलझे होते तो उपाय की भी कोई जरूरत न थी।
तो ख्याल रखना, दोनों ही असत्य हैं। इसलिए गृहस्थी से निकलकर संन्यस्त में इस तरह मत उलझ जाना जैसे गृहस्थी में उलझे थे। ध्यान तो यही रखना कि एक दिन इससे भी जाग जाना है। यह स्मरण बना ही रहे--एक दिन ध्यान से भी मुक्त हो जाना है। एक दिन जप-तप से भी मुक्त हो जाना है। एक दिन तो ऐसी घड़ी आनी है जहां सिर्फ बुद्धत्व रह जाए, शुद्ध दीया जलता रह जाए, जरा भी धुआं न हो, कुछ और शेष न रह जाए। शून्य में जलती हो ज्योति, उसका कोई रूप-रंग न रहे, कोई आकृति न रहे, कोई ढंग न रहे। सब कोटियों के पार सत्य का आवास है। उस सत्य को ही हम निर्वाण कहते हैं।
तो ऐसा समझो--संसार, संन्यास, निर्वाण। संसार की बीमारी को संन्यास की औषधि से मिटा देना है, ताकि निर्वाण फलित हो जाए। एक भ्रांति को दूसरी भ्रांति से मिटा देना है।
आज इतना ही।

एस धम्मो सनंतनो, भाग 9
छियासीवां प्रवचन

सौंदर्य तो है अंतर्मार्ग में

मग्गानट्ठंगिको सेट्ठो सच्चानं चतुरो पदा।
विरागो सेट्ठो धम्मानं द्विपदानंच चक्खुमा।। 225।।

एसोव मग्गो नत्थांं दस्सनस्स विसुद्धिया।
एतं हि तुम्हे पटिवज्जथ मारस्सेतं पमोहनं।। 226।।

एतं हि तुम्हे पटिपन्ना दुक्खस्संतं करिस्सथ।
अक्खातो वे मया मग्गो अांंय सल्लसंथनं।। 227।।

तुम्हेहिकिच्चं आतप्पं अक्खातारो तथागता।
पटिपन्ना पमोक्खंति झायिनो मारबंधना।। 228।।

आदमी बड़ा जटिल है। बदलने की घड़ी भी आ जाए तो ऊपर से बदल जाता है और भीतर की बदलाहट बचा जाता है।
कबीर ने कहा है, मन न रंगाए रंगाए जोगी कपड़ा।
कपड़े को रंग लेना तो आसान है। असली बात तो मन को रंगने की है। कपड़े का रंग जाना मन के रंगने की खबर हो तब तो ठीक, शुभ। और कपड़े का रंग जाना मन को रंगने से बचने का उपाय हो, तो बहुत खतरनाक। इससे तो बेहतर था जैसे थे वैसे ही रहते, कम से कम धोखा तो न होता। प्रार्थना की घड़ी आती है तो आदमी मंदिर चला जाता है। ऊपर-ऊपर की प्रार्थना कर लेता है, भीतर हृदय पिघलता ही नहीं। इससे तो बेहतर था प्रार्थना न करते। पीड़ा तो रहती कि प्रार्थना नहीं की। अब प्रार्थना भी कर ली और प्रार्थना हुई भी नहीं, ऐसी जटिलता है।
मन जो आखिरी धोखा देता है आदमी को, वह यही है कि तुम्हें समझा देता है
कि लो देखो, अब और क्या करना है, पूजा भी कर ली, प्रार्थना भी कर ली, मंदिर भी हो आए, कपड़े भी रंग लिए, संसारी थे संन्यासी हो गए, अब और करने को क्या बचा! ऊपर-ऊपर के फर्क से कुछ होता नहीं। परिधि को कितना ही रंगो, जब तक केंद्र न रंग जाए तब तक क्रांति नहीं होती। तुम्हारा असली चेहरा तो वही का वही रहता है, ऊपर से मुखौटे पहन लेते हो। आदमी की यह जटिलता धीरे-धीरे दूसरों को धोखा देने से पैदा हुई है। जब तुम दूसरों को धोखा देते हो और बहुत कुशल हो जाते हो, तो एक दिन तुम अपने को भी धोखा दे लेते हो।
इसीलिए शास्ताओं ने कहा है, दूसरों को धोखा मत देना। क्योंकि दूसरों
को धोखा देने का अंतिम परिणाम एक ही होगा कि तुम अपने को भी धोखा दे लोगे। बेईमानी में इतने निष्णात हो जाओगे कि अंततः जो गड्ढा तुमने दूसरों के लिए खोदा है, वह तुम्हारी ही कब्र बनेगा। ऐसा ही हो रहा है। तुम दूसरे से झूठ बोलकर सच को छिपा लेते हो। एक दिन तुम पाओगे, तुमने अपने से झूठ बोलकर सच को छिपा लिया। तुम झूठ बोलने में इतने पारंगत हो गए, अपने से ही झूठ बोल रहे हो और पकड़ नहीं पाते। तुम्हारी बेईमानी इतनी कुशल हो गयी, इतनी कलात्मक हो गयी कि अब तुम खुद भी न पकड़ पाओगे कि कैसे और कब तुमने अपने को धोखा दे दिया।
आज के सूत्र इस संदर्भ में ही हैं। पहले तो संदर्भ को समझ लें। सूत्र-संदर्भ--

सूरज ढला, एक दिवस और बीत गया। रात्रि उतरने लगी, रात के पहले तारे आकाश में उभर आए। शांत है विहार और शीतल समीर बह रहा है। भगवान जेतवन में ठहरे हैं। उनके साथ पांच सौ भिक्षु भी ठहरे हैं।
ये पांच सौ भिक्षु आसनशाला में बैठे हुए बातचीत कर रहे हैं, गपशप कर रहे हैं। आश्चर्य कि उनकी बातचीत और साधारणजनों जैसी ही है। उनकी बातें सुनकर तय करना कठिन है कि वे संसारी हैं या संन्यासी हैं। उनकी चर्चा-

वार्ता के विषय अंतर्यात्रा के विषय ही नहीं हैं। जैसे वे अभी भी बहिर्यात्रा में ही संलग्न हों।
भगवान मौन बैठे उनकी बातें सुन रहे हैं। चकित हैं और करुणा से भरे हुए भी। हैरान हैं और उनके प्रति बड़ी दया का भाव भी है। वे तो शायद अपनी बातों में इतने तल्लीन हैं कि भगवान को भूल ही गए हैं। भगवान को भूलना कितना आसान, याद रखना कितना कठिन है! भगवान पास भी मौजूद हों तो भी भूलना आसान। भगवान सामने बैठे हों तो भी भूलना आसान। भिक्षु अपनी बातों में इतने तल्लीन हैं कि उन्हें याद ही नहीं रही कि भगवान भी पास बैठे सुन रहे हैं। उनका विस्मरण हो गया है।
कोई कह रहा है, अमुक गांव का मार्ग बड़ा सुंदर है, अमुक गांव का मार्ग बड़ा खराब है। अमुक मार्ग पर कंकड़-पत्थर हैं, कांटे हैं, अमुक मार्ग बड़ा साफ-सुथरा है। अमुक मार्ग पर छायादार वृक्ष हैं, स्वच्छ सरोवर भी हैं; और अमुक मार्ग बहुत रूखा-सूखा है, उससे भगवान बचाएं।

भिक्षु हैं, पर्यटन करना होता है, अलग-अलग मार्गों पर चलना होता है, गांव-गांव भटकना होता है, तो बात चल रही है कि कौन से मार्ग जाने योग्य हैं, कौन से मार्ग जाने योग्य नहीं हैं।
और कोई कह रहा है कि फलां नगर का राजा अदभुत है, बड़ा दानी है। उस नगर का सेठ भी सच्चा सेठ है--श्रेष्ठी ही है।
सेठ शब्द आया है श्रेष्ठ से। उस धनी को ही श्रेष्ठ कहते थे, सेठ कहते थे, जो दानी हो।
तो भिक्षु कह रहे हैं, राजा भी अदभुत, उस नगर का जो नगरसेठ है, नगरश्रेष्ठी है, वह सच में ही श्रेष्ठ है। और फलां नगर का राजा भी कंजूस, उसका नगरसेठ भी कंजूस, उसकी जनता भी कंजूस, वहां तो भूलकर कोई पैर न रखे। उन्होंने तो इस धर्म का नाम ही नहीं सुना है। उस नगर में तो दान की कोई आशा ही न रखे। अपना भिक्षापात्र भी चोरी न जाए तो बहुत; समझो कि तुम भाग्यवान हो। अपने चीवर बचाकर निकल आए उस गांव से तो समझो प्रभु की बड़ी कृपा है। दान देने वाले जैसे अब रहे ही नहीं। और दान को सभी शास्ताओं ने धर्म का मूल कहा है।
और कोई अन्य कह रहा है, सुंदर स्त्री-पुरुष देखने हों तो उस-उस राज्य में जाओ। शेष जगहों पर तो हीन, कुरूप स्त्री-पुरुषों के समूह मात्र हैं, जमघट मात्र हैं, भीड़-भाड़ है।
भगवान ने यह सब सुना। चौंके भी, हंसे भी। उन भिक्षुओं को पास बुलाया
और बोले--भिक्षुओ, बाह्यमार्गों की बातें करते झिझकते नहीं? भिक्षु होकर भी बाहर के मार्गों की बात करते हो! अंतर्मार्ग की सोचो, भिक्षुओ! समय थोड़ा और करने को बहुत कुछ शेष है। इन्हीं बाह्यमार्गों पर जन्म-जन्म भटकते रहे हो, अभी भी थके नहीं? और भी भटकना है? बाह्यमार्गों में कैसा सौंदर्य! और बाह्यमार्गों में कैसी छाया! और बाह्यमार्गों पर कैसे सरोवर! सौंदर्य तो है आर्यमार्ग में। सौंदर्य तो है अंतर्मार्ग में। छाया भी वहीं है, सरोवर भी वहीं है। शरण ही खोजनी हो तो वहीं खोजो। वहीं मिटेगी प्यास, वहीं मिटेगी तपन, वहीं मिटेगी भूख, और कहीं नहीं। भिक्षु को आर्यमार्ग में ही रहना चाहिए, क्योंकि वही दुख-निरोध का मार्ग है।
और तब उन्होंने ये गाथाएं कहीं।
पहले तो इस कहानी के एक-एक हिस्से को खूब गहरे हृदय में उतर जाने दें,
तो गाथाएं समझ में आ जाएंगी।
सूरज ढल गया; एक दिवस और बीत गया।
संन्यासी यदि सच में संन्यासी है, तो मौत करीब आ गयी, मौत और करीब आ गयी, उसे और सजग हो जाना चाहिए। एक दिन हाथ से और जा चुका और अभी तक कुछ विशिष्ट हुआ नहीं--ध्यान नहीं हुआ, समाधि नहीं लगी, अभी तक करुणा का दीया नहीं जला, एक दिन और गया। और कौन जाने कल सुबह हो, न हो; यह रात आखिरी हो। अगर कोई सच में संन्यस्त है, तो ये घड़ियां व्यर्थ की बातों में गंवाने की नहीं।

सूरज ढल गया है, ऐसे ही एक दिन हम ढल जाएंगे। हर ढलते सूरज के साथ हम ढल रहे हैं। हर संध्या हम और थोड़े कम हो गए। इधर दिन बीतते हैं, उधर हमारे जीवन की ऊर्जा चुकती जाती है। बूंद-बूंद करके एक दिन जीवन समाप्त हो जाएगा। संसारी व्यर्थ की बातें सोचे, समझ में आता है; लेकिन संन्यस्त! संन्यस्त को तो एक ही बात महत्वपूर्ण है कि मृत्यु है और जीवन को अभी तक मैंने जाना नहीं। संन्यासी के सामने तो एक ही सवाल है, एक ही चुनौती है कि मौत पास आ रही है और जीवन से मेरा अभी तक परिचय नहीं हुआ। जीवन क्या है, अभी मैं उत्तर देने में समर्थ नहीं। मैं कौन हूं, अब तक साक्षात्कार नहीं हुआ। ये घड़ियां, बीतती घड़ियां ऐसे व्यर्थ गंवाने को नहीं हैं।
सूरज ढल गया है। एक दिवस और बीत गया!
रात्रि उतरने लगी, ऐसे ही एक दिन मौत उतर आएगी। रोज उतरती रात्रि अंततः आने वाली मौत की खबर लाती है। अंधेरा उतरने लगा। ऐसे ही एक दिन महा अंधकार उतर आएगा। तुम आए भी, गए भी, और तुम्हारे जीवन में कुछ भी न हुआ! जैसे आए वैसे चले गए! खाली हाथ आए, खाली हाथ चले गए! कूड़ा-करकट बटोरा भी तो वह सब पड़ा रह जाएगा।
तो संसारी और संन्यासी में फर्क होगा। हर दृष्टि से फर्क होगा। एक ही जगह खड़े हों भला दोनों, एक ही ढलते सूरज को देखते हों, लेकिन संन्यासी कुछ और देखेगा और संसारी कुछ और देखेगा।
एक रात ऐसा हुआ। बुद्ध ने अपना प्रवचन दिया। अपने प्रवचन के बाद वह रोज ही कहते थे, अब जाओ, रात्रि का अंतिम कार्य कर डालो। लेकिन उस दिन संयोग की बात, भिक्षुओं में और भी लोग आए थे सुनने। एक चोर भी आया था, एक वेश्या भी आयी थी। यह जो बुद्ध कहते थे कि अब रात्रि का अंतिम काम कर डालो, वह था ध्यान में उतर जाना। क्योंकि बुद्ध कहते थे, पता नहीं कल सुबह हो या न हो। मौत तुम्हें ध्यान में पाए। नींद तुम्हें ध्यान में पाए, क्योंकि नींद छोटी मौत है। नींद रोज-रोज मौत का ही तो स्वाद है। ऐसे ही तो एक दिन मौत में लीन हो जाओगे; जैसे रोज नींद में खो जाते हो।
और देखा तुमने, नींद में तुम्हारा बाहर का संसार पड़ा रह जाता है--न तो याद रहती है कि तुम गरीब हो, न याद रहती कि तुम अमीर हो, न याद रहती कि पढ़े- लिखे कि अपढ़, न याद रहती कि ज्ञानी कि पंडित, न याद रहती कि बच्चे कि जवान कि बूढ़े, कि स्त्री कि पुरुष, न याद रहती सुंदर, असुंदर, कुछ भी याद नहीं रह जाता। यही याद नहीं रह जाती कि मेरा नाम क्या, पता-ठिकाना क्या! बाहर का सब नींद में ही पड़ा रह जाता है, तो मौत की तो बात ही क्या कहनी है! तो हर रोज नींद आती, मौत की खबर लेकर आती। छोटी-छोटी मौत का अनुभव लाती।
तो बुद्ध कहते थे, रात सोने के पहले, रोज रात मरने के पहले ध्यान में उतर जाओ। कौन जाने सुबह हो या न हो! मौत तुम्हें ध्यान में पाए। तो जीवन रूपांतरित हो जाएगा। तो फिर दुबारा जन्म न होगा। अब इसको रोज-रोज कहना पड़ता था, इसलिए उन्होंने यह एक प्रतीक बना लिया था कि भिक्षुओ, अब जाओ और रात्रि का अंतिम कार्य कर डालो।
भिक्षु तो उठकर ध्यान करने चले गए। चोर चौंका, उसने कहा, रात हो गयी काफी, ठीक ही कहते हैं कि जाऊं अपने काम में लगूं। चोरी उसका काम था। और वेश्या ने सोचा कि ठीक ही कहते हैं भगवान, इनको पता कैसे चला कि वेश्यागिरी मेरा काम है और रात आ गयी है, अपने काम में लगूं!
एक ही वचन बोला था बुद्ध ने कि रात आ गयी, नींद करीब आ रही है, अब जाओ अपना आखिरी काम कर डालो। जिन्हें ध्यान करना था वे ध्यान करने चले गए, जिन्हें चोरी करना था वे चोरी करने चले गए, जिन्हें वेश्यागमन करना था वे वेश्यागमन करने चले गए; जो वेश्या थी उसने अपनी दुकान खोल ली, चोर अपने काम पर निकल गया--एक ही वचन, लेकिन अर्थ अनेक हो गए।
सूरज ढलता है। आंख तो वही खबर लाती है, लेकिन भीतर की चेतना अलग-अलग व्याख्या करती है।
सुना है मैंने, दो आदमी एक झील के किनारे खड़े थे। पूरे चांद की रात थी, चांद ऊपर उठा था, झील में चांद चमक रहा था। एक आदमी कवि था और एक कबाड़ी था। कबाड़ी ने ऐसा झील में गौर से देखा और कहा कि अरे, एक जूता पड़ा मालूम पड़ता है, और एक टीन का डिब्बा भी पड़ा है। और उस कवि ने तो अपने सिर में हाथ मार

लिया। उसने कहा, चांद पड़ा है इस झील में, तुझे चांद नहीं दिखायी पड़ता! आकाश उतरा है इस झील में, तुझे आकाश दिखायी नहीं पड़ता। तुझे दिखायी पड़ रहा एक जूता और एक टीन का डिब्बा!
कबाड़ी यानी कबाड़ी। चांद दिखे उसे, जिसके पास चांद को देखने की चेतना हो। जिसके पास थोड़ी काव्य की क्षमता हो। जिसके हृदय में थोड़ा सौंदर्य का बोध हो। कबाड़ी को! कबाड़ी को चांद नहीं दिख सकता। कहावत है तिब्बत में कि चोर, जेबकट अगर संत के पास भी जाए तो उसकी नजर संत की जेब पर होती है--चाहे जेब खाली ही क्यों न हो--संत पर नजर नहीं पड़ती। हम वही देखते हैं जो हम हैं। हम वैसा ही देखते हैं जो हम हैं।
सूरज ढल गया।
तो बुद्ध चाहते कि इस अपूर्व घड़ी को, सूरज के ढलने की घड़ी को उनके संन्यासी, उनके भिक्षु शांत, मौन बैठकर अपने जीवन के ढलने के प्रवाह को देखें इस घड़ी में। तुम जानकर जरूर चकित होओगे कि इस देश में हमने सदा से प्रार्थना को संध्या का नाम दिया है। क्यों दिया है?
संध्या प्रार्थना का क्षण है। एक दिन बीत गया; और एक रात आ गयी। एक और दिवस गया भीड़-भाड़ का, उपद्रव का, कर्म का, आपाधापी का; और एक छोटी मौत द्वार पर खड़ी है। इन दोनों के बीच प्रार्थना कर लो। संध्या का अर्थ है, दिवस और रात्रि के बीच के क्षण। ये क्षण प्रार्थना बन जाएं। इसलिए धीरे-धीरे इस देश में तो संध्या शब्द ही प्रार्थना का पर्यायवाची हो गया।
ऐसे ही सुबह। रात बीत गयी, एक मौत गयी, फिर तुम उठे, आपाधापी की दुनिया फिर शुरू होगी। यह जो रात और दिन के बीच का थोड़ा सा काल है, यह संध्या, यह जो मध्य की संधि--संधि से बना संध्या--यह जो बीच का थोड़ा सा अंतराल है, इस बीच के अंतराल, इस बीच की संधि का उपयोग कर लो।
और इसका बड़ा बहुमूल्य अर्थ है। जब तुम्हारा चित्त जागरण से नींद में उतरता है, या नींद से जागरण में आता है, तो जैसे गाड़ी में गियर बदलते हैं, ठीक ऐसी ही घटना घटती है। एक क्षण को जब तुम गियर बदलते हो, एक गियर से दूसरे गियर में कार को डालते हो, तो एक क्षण को कार किसी भी गियर में नहीं रह जाती--न्यूट्रल से गुजरती है। ठीक ऐसे ही जब दिनभर बीत गया और दिनभर की चेतना शांत होने लगी और रात की चेतना उठने लगी, तो एक क्षण को न तुम जागे होते, न तुम सोए होते--एक क्षण को जरा सी संधि है, उस संधि में तुम देह के भीतर ही नहीं होते। उस संधि में तुम अपने स्वभाव में होते हो।
काश, उस संधि को तुम जागकर देख लो तो संध्या हो गयी। उस संधि को तुम ठीक से पहचान लो तो तुम मुक्त हो जाओगे। रोज आती यह घड़ी और रोज हम चूकते चले जाते हैं। जन्मों-जन्मों से आती यह घड़ी और हम चूकते चले जाते हैं। हमारे चूकने में हमारी कुशलता अपूर्व है।
सूरज ढल गया; एक दिवस और बीत गया। रात्रि उतरने लगी, रात के पहले तारे उभर आए। शांत है विहार।
संध्या हो गयी तो पक्षी भी चुप हो गए, वृक्ष भी सोने की तैयारी करने लगे। आदमी पक्षियों और वृक्षों से भी गया-बीता है। पक्षियों ने भी पंख सिकोड़ लिए, अपने-अपने घोंसलों में दुबककर बैठ गए। रात की तैयारी होने लगी। वृक्षों ने भी अपने पत्ते ढीले छोड़ दिए, फूल बंद हो गए, मौत का इंतजाम होने लगा। लेकिन आदमी है कि लगा है। अगर संसारी हो तो ठीक, क्षमा कर दो। लेकिन संन्यासी भी लगा है, व्यर्थ की बातों में लगा है। शांत थे ये क्षण, शीतल समीर बह रहा था, इस मौके का तो उपयोग कर लेना चाहिए।
सोचो उस घड़ी को, उस दृश्य को आंखों में बन जाने दो, उस दृश्य में थोड़ी देर जीओ, तो ही ये सूत्र जीवित हो पाएंगे; तो ये गाथाएं पुनरुज्जीवित हो जाएंगी। तब तुम इन्हें ऐसे ही सुन पाओगे जैसे तुम मौजूद रहे होओ। यही मैं चाहता हूं कि तुम फिर मौजूद हो जाओ उस जगह। सांझ, पहले तारे निकलने लगे, रात उतरने लगी, शीतल हवा बहती, पशु-पक्षी सब शांत हो गए, वृक्षों ने भी अपनी आंखें बंद कर लीं, सोने की तैयारी करने लगे। और ये भिक्षु, और भगवान की मौजूदगी--फिर भी संध्या में न उतरे, फिर भी प्रार्थना में न उतरे। ये संसारी ही थे, इन्होंने चीवर पहन लिए थे भिक्षु के; इन्होंने गैरिक वस्त्र

धारण कर लिए थे; इन्होंने दुकानदारी छोड़ दी थी, मगर ऊपर-ऊपर छूटी थी, भीतर दुकानें खुली थीं।
मन न रंगाए रंगाए जोगी कपड़ा
कपड़े रंग लिए थे, मन नहीं रंगा था। तो तुम किसको धोखा दे रहे हो? तुम अपने को ही धोखा दे रहे हो।
भगवान जेतवन में ठहरे हैं। पांच सौ भिक्षु आसनशाला में बैठे हुए बातें कर रहे हैं।
पहली तो बात भिक्षुओं को मौन होना चाहिए। जहां तक बन सके, मौन होना चाहिए; जितना बन सके, मौन होना चाहिए। जितनी घड़ियां मौन में बीत जाएं, उतना शुभ। पहली तो बात, बात भिक्षुओं को करनी नहीं चाहिए, जब तक कि अनिवार्य न हो जाए। भिक्षुओं को मितभाषी होना चाहिए। टेलीग्रैफिक, जितने शब्द बिल्कुल जरूरी हों, बस उतने ही बोलने चाहिए, उससे ज्यादा नहीं।
तुम टेलीग्राम देने जाते न पोस्ट आफिस, तो कितना सोच-विचार करते हो! क्योंकि दस शब्द ही भेजने हैं। सब काट-छांट कर देते हो, जो-जो बेकार शब्द हैं, निकाल देते हो; दस शब्द बना लेते हो। यही तुम पत्र लिखने बैठते हो तो फिर फिक्र नहीं करते, दस पेज लिख डालते हो। और तुमने एक चमत्कार की बात देखी कि दस शब्दों वाले तार का जो प्रभाव होता है, वह दस पेज वाले पत्र का नहीं होता। मामला क्या है? व्यर्थ शब्दों में सार्थक शब्द भी खो जाते हैं। व्यर्थ शब्दों को काट दो तो सार्थक में एक ज्योतिर्मयता आ जाती है, एक गहराई आ जाती है, एक प्रगाढ़ता आ जाती है।
भिक्षु को तो मितभाषी होना चाहिए। उसको तो एक-एक शब्द तौलकर बोलना चाहिए। उसे तो एक-एक शब्द में त्वरा, अपने प्राण डालने चाहिए। भिक्षु अनावश्यक नहीं बोलेगा। एक शब्द नहीं बोलेगा, एक विराम चिह्न नहीं लगाएगा अनावश्यक। जितना अत्यंत जरूरी है, बस उतना। और उसी घड़ी रुक जाएगा।
तो पहली तो बात, ये भिक्षु बैठे हैं आसनशाला में, पांच सौ भिक्षु, बातें कर रहे हैं। बाजार पैदा कर दिया होगा! पांच सौ लोग बातें कर रहे हों, तो बाजार हो गया होगा! ये बाजार में ही रहे हैं अब तक। भिक्षु भी हो गए हैं, लेकिन बाजार छूटता नहीं। बाजार इनके साथ चला आया है, बाजार इनके हृदय में बैठा है।
बाहर भागने से कुछ भी नहीं होता है जब तक भीतर रूपांतरण न हो। भाग जाओ हिमालय पर, करोगे क्या? हिमालय की गुफा में बैठकर भी सोचोगे अपनी दुकान की ही बात। सोचोगे तो वही तुम जो हो। इसलिए असली सवाल कहीं जाने का नहीं है, असली सवाल तो भीतर से दृष्टि-रूपांतरण का है, चित्त के बदलाहट का है, बोध के नए करने का है।
बातें कर रहे हैं, यह बात ही नहीं जंचती। और फिर बुद्ध की मौजूदगी में! चलो अकेले होते, बुद्ध मौजूद न होते और ये बातें करते, तो भी चलता; क्षम्य थे। आखिर आदमी हैं। कभी-कभी बात करने का मन इनका भी हो जाता है। भिक्षु हैं तो भी क्या, आदमी आखिर आदमी है। बतियाना चाहता है, सुख-दुख कहना चाहता है। लेकिन बुद्ध की मौजूदगी में! जहां बुद्ध मौजूद हों, वहां एक अपूर्व प्रसाद बरस रहा है; तुम अपनी बकवास में उस प्रसाद से वंचित रह जाओगे। वहां बुद्ध बरस रहे हैं और तुम किसी और काम में लगे हो!
बुद्ध की मौजूदगी में तो सब काम रुक जाने चाहिए। तुम्हारे चित्त के
सब व्यापार रुक जाने चाहिए। तुम्हारा हृदय तो सिर्फ बुद्ध के लिए खुला होना चाहिए। बुद्ध की मौजूदगी में तो वैसा ही होना चाहिए, जैसा तुमने सूरजमुखी का फूल देखा है न! जिस तरफ सूरज होता है उसी तरफ घूम जाता है। शिष्य को तो गुरु की तरफ सूरजमुखी का फूल जैसा हो जाना चाहिए।
इन्होंने तो पीठ कर दी! ये तो भूल ही गए, इन्हें तो याद ही न रहा, ये तो अपनी बातचीत में इतने तल्लीन हो गए; बातचीत ज्यादा महत्वपूर्ण हो गयी, बुद्ध कम महत्वपूर्ण हो गए, बातचीत के धुएं में बुद्ध की ज्योति खो गयी। इन्होंने बातों का इतना धुआं खड़ा कर दिया, इतने बादल खड़े कर दिए कि इन्हें याद ही न रहा कि ये किसकी मौजूदगी में हैं! ये कहां बैठे हैं! संन्यासी को स्मरण होना चाहिए। नहीं तो संन्यास कैसा!

आश्चर्य कि उनकी बातचीत और साधारणजनों जैसी ही है। उनकी बातचीत को सुनकर यह तय करना कठिन है कि वे संसारी हैं या संन्यासी हैं।
वही व्यर्थ की बातें। किस गांव में लोग सुंदर हैं और किस गांव में लोग सुंदर नहीं हैं। और किस गांव में दान मिलता है और किस गांव में दान नहीं मिलता। और कौन से रास्ते पर छायादार वृक्ष हैं और कौन से रास्ते पर छायादार वृक्ष नहीं हैं। वही साधारण पृथकजन की बातचीत, भीड़ की बातचीत; वही सुख-दुख की कथा, वही रोना, जो सब तरफ चल रहा है।
उनकी चर्चा-वार्ता के विषय अंतर्यात्रा के विषय ही नहीं हैं।
पहले तो बात करनी ही नहीं चाहिए। फिर करनी ही हो तो बात का लक्ष्य अंतर्यात्रा होनी चाहिए। पूछते एक-दूसरे से कि भिक्षु, कैसा तुम्हारा ध्यान चलता? पूछते एक-दूसरे से कि तुम्हारे आस्रव रुक रहे कि नहीं? पूछते एक-दूसरे से, अहिंसा का जन्म हो रहा है या नहीं? कहते अपनी बात कि चलता हूं बहुत, लेकिन चूक-चूक जाता हूं, विचार बाधा डालते हैं, शांति खंडित हो जाती है, एकाग्र बैठ नहीं पाता, चित्त यहां-वहां छिछल-छिछल जाता है, पारे की भांति है, जितना पकड़ता हूं उतना ही बिखर जाता है। भीतर की कुछ बात होती, भीतर की यात्रा के लिए एक-दूसरे को कुछ सहयोग देने की बात होती, तो समझ में आती थी। तो पता चलता कि ये अंतर्यात्रा के पथिक हैं।
लेकिन उनकी चर्चा के विषय अंतर्यात्रा के विषय नहीं। वस्तुतः ऐसा लगता है कि अभी भी उनकी बहिर्यात्रा चल रही है। क्योंकि जो तुम्हारे चित्त में चल रहा है, वही तुम्हारी यात्रा है। तुम कहां बैठे हो, इससे फर्क नहीं पड़ता; मंदिर में कि मस्जिद में, इससे फर्क नहीं पड़ता; कृष्ण के साथ कि क्राइस्ट के साथ, कि बुद्ध के कि महावीर के साथ, इससे फर्क नहीं पड़ता; तुम्हारे भीतर जो चल रहा है, वही तुम्हारी यात्रा है। तुम भीतर क्या सोच रहे... ।
तुम यहां बैठे हो, तुम भीतर क्या सोच रहे, वहीं तुम हो। यहां होना तो तुम्हारा फिर बहुत स्थूल होना है। हुए न हुए, बराबर है। तुम्हारे भीतर जो चल रहा है, वही तुम्हारी स्थिति है; उस पर ही ध्यान रखना, वहां बहिर्यात्रा बंद होनी चाहिए। बहिर्मुखता बंद होनी चाहिए।
भगवान मौन बैठे उनकी बातें सुन रहे हैं। चकित हैं!
चकित हैं कि मैं यहां देने को मौजूद, मगर ये लेने को तैयार नहीं! चकित हैं कि मैं बरस रहा इनके ऊपर, लेकिन इनके मटके उलटे रखे हैं! कि मैं इन्हें भरे दे रहा हूं, लेकिन इनकी मटकियों में छिद्र हैं, वह सब बहा जा रहा है। कि मैं रोज-रोज इन्हें जगा रहा हूं और ये रोज-रोज सोए जा रहे हैं। ये और तो किस चीज के प्रति जागरूक होंगे, ये मेरी मौजूदगी के प्रति भी जागरूक नहीं हैं! चकित हैं और करुणापूर्ण भी।
दया भी है कि बेचारे, संन्यस्त होकर भी संन्यासी हुए नहीं! संन्यस्त होकर भी संसारी ही बने हैं! तो दया तो आएगी, करुणा तो आएगी। निंदा नहीं है-- किसी सदगुरु के मन में कभी निंदा नहीं होगी। जब तुम भूल भी करते हो, तब भी उसके हृदय में दया होती है। जब तुम उसके विपरीत भी जाते हो, तब भी तुम्हारे लिए प्रार्थना करता है। जब तुम उससे शत्रुता साध लेते हो, तब भी उसकी अनुकंपा में कोई भेद नहीं पड़ता।
वे तो शायद अपनी बातों में इतने तल्लीन हैं कि भगवान को भूल ही गए हैं। भगवान को भूलना कितना आसान, याद रखना कितना कठिन है!
लोग कहते हैं, भगवान को जानना है। लोग कहते हैं, भगवान कहां है? लोग कहते हैं, भगवान दिखला दो, दर्शन करा दो। लेकिन भगवान अगर तुम्हारे सामने भी खड़ा हो तो तुम दर्शन न कर पाओगे, तुम्हारी आंखें बंद हैं। भगवान तुम्हारे कानों के पास चिल्लाए-चीखे, तो तुम सुन न पाओगे, तुम्हारे कान बंद हैं। तुम्हारे भीतर इतना शोरगुल है! तुम अपने शोरगुल को सुनोगे कि भगवान की आवाज सुनोगे! उसकी आवाज बड़ी धीमी है। भगवान चिल्लाता नहीं, फुसफुसाता है। उसकी आवाज में आक्रमण नहीं है। उसकी आवाज एक धीमे स्वर की भांति है, शून्य स्वर की भांति है; संगीत की एक तरंग की भांति है। तुम जब तक शांत न हो जाओ तब तक तुम उस तरंग को न पकड़ पाओगे। जब तुम शांत हो जाओगे तभी तुम पकड़ पाओगे। और शांत होते ही तुम हैरान होओगे कि हम कहां खोजते फिरते

थे, उसने तो हमें चारों तरफ से घेरा हुआ है; उसके अतिरिक्त कोई और है ही नहीं।
लेकिन यह तो बड़ी दूर की बात हो गयी कि वृक्ष में तुम्हें किसी दिन भगवान दिखायी पड़े। बुद्ध में नहीं दिखायी पड़ता, कृष्ण में नहीं दिखायी पड़ता, कबीर में नहीं दिखायी पड़ता, नानक में नहीं दिखायी पड़ता, यह तो बहुत दूर की बात हो गयी कि पत्थर में दिखायी पड़े।
अब देखो, आदमी कैसा अदभुत है! मंदिर में पत्थर की मूर्तियां बनाकर बैठा है। तुम्हें जीवित मौजूद कोई हो तो दिखायी नहीं पड़ता, पत्थर की मूर्ति में कैसे दिखायी पड़ेगा! तुम्हें चलता-फिरता हंसता हुआ भगवान भी दिखायी नहीं पड़ता; बोलता, जागता, श्वास लेता भगवान दिखायी नहीं पड़ता; पत्थर की मूर्ति में कैसे दिखायी पड़ेगा! पत्थर की मूर्ति में तो अंतिम रूप से दिखायी पड़ सकता है--जब सब जगह दिखायी पड़ गया तब दिखायी पड़ सकता है। पत्थर की मूर्ति यात्रा का प्रारंभ नहीं हो सकती, यात्रा का अंत भले हो। कोई कह रहा है, अमुक गांव का मार्ग बड़ा सुंदर है, अमुक गांव का मार्ग बहुत खराब है--वहां भूलकर मत जाना--अमुक मार्ग पर कंकड़-पत्थर हैं, कांटे हैं, छाया भी नहीं है और सरोवर भी नहीं हैं। अमुक मार्ग बड़ा साफ-सुथरा है, बड़े छायादार वृक्ष हैं वहां, स्वच्छ सरोवर भी हैं।
बुद्ध सुनते हैं, चौंकते हैं। सोचते होंगे कि मैं तो सोचता था, ये अब भीतर के मार्ग की बात शुरू करेंगे, ये अभी भी बाहर के मार्गों की सोच रहे हैं!
सूखे मार्गों से कुछ नहीं मिलता, छायादार मार्गों से भी कुछ नहीं मिलता। बाहर के सब मार्ग भटकाते हैं; कोई मार्ग पहुंचाता नहीं। और बाहर के सरोवरों से कहीं प्यास बुझी है, जीवन की तृष्णा बुझी है! जितना पीओ उतनी प्यास बढ़ती है। और बाहर के वृक्षों से किसी को छाया मिली है? जब तक कोई अपने अंतरतम की छाया में न बैठ जाए तब तक कोई छाया नहीं है। तब तक सब धोखा है। बाहर तो प्रपंच है, माया है, बाहर तो समय को काटने और भुलाने के उपाय हैं, बाहर उपलब्धि नहीं है। बाहर तो खोना ही खोना है। खोना हो तो बाहर जाना। पाना हो तो भीतर आना।
और कोई कह रहा है, फलां नगर का राजा बड़ा श्रेष्ठ; उस नगर का नगरश्रेष्ठी भी वस्तुतः श्रेष्ठ है। कारण! कारण यही कि वे दान देते हैं। और कहने वाला यह भी कह रहा है कि और दूसरे गांव भी हैं, वहां भूलकर मत जाना; वहां का राजा महाकंजूस, महाकृपण, वहां का नगरसेठ कृपण, इतना ही नहीं वहां की प्रजा भी बड़ी कृपण है--जैसा राजा वैसी प्रजा। वहां से तो अपना भिक्षापात्र भी बचकर लौट आए तो बहुत। चोरी हो जाने का डर है। चीवर भी चोरी चला जाएगा।
मैंने सुना है, मुल्ला नसरुद्दीन गांव का काजी हो गया था। पहला ही मुकदमा आया। एक आदमी को गांव के बाहर लूट लिया गया था। वह आदमी भागा हुआ आया, उसने कहा कि महानुभाव, आपके गांव के बाहर मैं लूट लिया गया, सब लूट लिया गया। मेरी पोटली ले ली गयी, मेरी पोटली में रुपए थे वह ले लिए गए, मेरा घोड़ा भी छुड़ा लिया; यही नहीं, मेरे कोट-कमीज, मेरी धोती भी उतार ली; बहुत लुटेरे देखे हैं, मगर यह भी कोई लूट हुई! सिर्फ अंडरवियर पहने था।
मुल्ला ने उसका अंडरवियर देखा और कहा, अंडरवियर नहीं छीना? उसने कहा
कि नहीं। उन्होंने कहा, तो फिर वे किसी और गांव के रहे होंगे। इस गांव में तो जो भी काम हम करते हैं, पूरा ही करते हैं। तू दूसरे गांव में जाकर अपनी फरियाद कर। यह मेरे गांव का मामला हो ही नहीं सकता।
तो भिक्षु कह रहे थे, कुछ ऐसे भी गांव हैं जहां अपनी वस्तुएं बचाकर लौट आओ... ज्यादा उनके पास है भी नहीं; तीन चीवर होते थे भिक्षु के पास, भिक्षापात्र होता था, इतनी उसकी पूंजी थी।
मगर यह बड़े मजे की बात है कि पूंजी कम हो कि ज्यादा हो, इससे लगाव में कोई फर्क नहीं पड़ता। जिसके पास महल है, वह महल न खो जाए इससे डरता है। और जिसके पास लंगोटी है, वह लंगोटी न खो जाए इससे डरता है। जहां तक खोने के भय का संबंध है, दोनों का भय बराबर होता है। इसमें जरा भी फर्क नहीं होता। तुम्हारे पास लाख रुपए हैं तो तुम उतने ही भयभीत होते हो, तुम्हारे पास एक

रुपया है तो भी तुम उतने ही भयभीत होते हो। वह एक रुपया खो जाए तो तुम्हारी पूरी संपदा गयी, लाख खो जाएं तो उसकी पूरी संपदा गयी, भय बराबर है।
इसलिए ख्याल रखना, यह मत सोचना कि तुमने महल छोड़ दिया और कुटिया में रहने लगे, तो तुम्हारी संपत्ति पर मोह की स्थिति कम हो गयी। इससे कुछ फर्क न पड़ेगा। वह मोह जो महल पर लगा था, झोपड़ी पर लग जाएगा। तिजोड़ी छोड़ दी और लंगोटी हाथ में रह गयी, तो जो तिजोड़ी पर लगा था वह लंगोटी पर लग जाएगा। इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता कि तुम्हारे पास कितनी चीजें हैं। चीजों की संख्या से तुम्हारे परिग्रह का कोई संबंध नहीं, परिग्रह तो भाव की दशा है। परिग्रह से मुक्ति तो समझ से होती है कि मेरा यहां कुछ भी नहीं है, ज्यादा से ज्यादा मैं उपयोग कर सकता हूं, फिर सब पड़ा रह जाएगा। परिग्रह का छुटकारा वस्तुओं के छोड़ने से नहीं होता।
अब ये भिक्षु सब छोड़कर आ गए हैं। इनमें बहुत बड़े-बड़े घरों के लोग थे। क्योंकि बुद्ध खुद राजा के बेटे थे तो राजपरिवारों के लोग उत्सुक हुए। स्वाभाविक। बुद्ध का संबंध राजपरिवारों से था, मित्रता राजपरिवारों से थी, राजकुमारों के साथ पढ़े-लिखे बड़े हुए थे, उनका संपर्क देश के श्रेष्ठतम वर्ग से था, संपन्नतम वर्ग से था। तो जब बुद्ध संन्यस्त हुए, तो इस देश का जो श्रेष्ठतम संपन्न वर्ग था, उसके बेटे-बेटियां बुद्ध के साथ चल पड़े। स्वाभाविक। अब रैदास के साथ कोई राजा नहीं हो जाता संन्यासी! रैदास के साथ चमार ही संन्यासी होते हैं। स्वाभाविक।
बुद्ध जब संन्यस्त हो गए तो एक लहर फैली, एक हवा फैली। बुद्ध का जिनसे संबंध था, वे भी चल पड़े। बड़े घरों से लोग आए थे, सब छोड़कर आए थे, न मालूम कितना धन, न मालूम कितना पद छोड़कर आए थे, लेकिन एक-एक चीवर के लिए लड़ने लगे। एक-एक चीवर को बचाकर रखने लगे। रात अपना चीवर टटोलकर देख लेते थे कि कोई चुराकर तो नहीं ले गया। अपने भिक्षापात्र पर ऐसा मोह करने लगे कि जैसे यह कोई साम्राज्य हो। आदमी अदभुत है। इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता कि तुम्हारा आंगन कितना बड़ा है। छोटा हो तो उसमें तुम उतने ही लग जाते हो, बड़ा हो तो उतने ही लग जाते हो। इसलिए बड़े आंगन और छोटे आंगन की चिंता मत करना, चित्त को बदलना।
फिर वह भिक्षु कह रहा था, दान देने वाले अब रहे ही नहीं। अब कहां वे पुराने दिनों की बातें। वह स्वर्णयुग अब न रहा, जब लोग देना जानते थे! और सभी शास्ताओं ने दान देने को धर्म का मूल कहा है।
अब यह भी समझने जैसी बात है। शास्ताओं ने धर्म को दान के साथ पर्यायवाची कहा है, निश्चित कहा है, लेकिन इसका मतलब बड़ा अनूठा लिया लोगों ने। तुम भी देखते न, भिखारी द्वार पर आकर खड़ा हो जाता है। वह कहता है, धर्म का मूल दान, लोभ पाप का बाप बखाना; दो, क्योंकि देना धर्म का मूल है। अगर दो तो धार्मिक, अगर न दो तो अधार्मिक।
मैंने सुना है, एक गांव में एक महाकंजूस था। उसने कभी किसी को दान न दिया। एक मंदिर बन रहा था; तो लोगों ने सोचा कि चलो, एक बार और कोशिश कर लें, आखिरी कोशिश है यह, अब दुबारा इसके घर कभी न जाएंगे। कभी उसने किसी को दिया ही न था। फिर भी एक कोशिश कर लेनी जरूरी है। एक और कोशिश सही! एक आखिरी प्रयत्न!
वे गए। उन्होंने बड़ी दान की महिमा समझायी। और वह थोड़े-थोड़े प्रभावित
भी हुए, प्रसन्न भी हुए, प्रफुल्लित भी हुए, क्योंकि कंजूस उत्सुक दिखायी पड़ रहा था। उसकी आंखों में थोड़ा भाव मालूम हो रहा था। उन्हें लगा कि शायद आज जो कभी नहीं हुआ, हो जाएगा। कंजूस को बहुत प्रभावित देखकर उन्होंने कहा कि अब बोलिए, आप कितना दान देते हैं? आप उत्सुक भी दिखायी पड़ रहे हैं, हम धन्यभागी! कंजूस ने कहा, दान! नहीं-नहीं, मैं भी तुम्हारे साथ चलता हूं। तुम्हारी बात से मैं उत्सुक हो गया, प्रभावित हो गया, मैं भी अब दान ही मांगूंगा; ये फिजूल की बातें, दूसरा काम क्यों करना! जब दान इतनी बड़ी बात है, तो क्या दुकानदारी में पड़े रहना, अब मैं भी दान ही मांगूंगा।
दान को धर्म का मूल कहा था भिखमंगों के लिए नहीं। यह तो कुछ उलटी बात
हो गयी। जिनके पास है, वे देने में राजी हों, इसके लिए कहा था। जिनके पास नहीं है, वे छीनने को तत्पर हो जाएं, इसके लिए नहीं कहा था। देने का एक मजा

हो--जरूर दान धर्म है, क्योंकि देने में धर्म है; जो हो, देना। लेकिन भिखारियों ने इसको अपना शास्त्र बना लिया।
इस देश में जो इतने भिखारी पैदा हो गए, उसका कारण यही। उन्होंने कहा
कि देना पड़ेगा ही, क्योंकि दान तो धर्म है। नहीं दिया तो पापी हो, नर्क में सड़ोगे। देखते हो न, अगर भिखारी को न दो तो वह गालियां देता जाता है। वह नरक में भेजने का उपाय करता जाता है। और बिल्कुल आश्वस्त है कि तुम नरक में पड़ोगे। उसने तुम्हें एक मौका दिया था दान देने का।
यह तो कुछ उलटी बात हो गयी। धर्म के साथ अक्सर ऐसा हुआ है। कहा कुछ जाता है, हो कुछ जाता है, उलटा हो जाता है। कहा था कि देने वाला दे, यह तो लेने वाला लेने को उत्सुक हो गया। यह बात की उलटी परिणति हो गयी।
भिक्षु बड़े उत्सुक हैं। जहां दान मिलता है, कहते हैं, वहां श्रेष्ठजन;
और जहां दान नहीं मिलता, वहां अश्रेष्ठजन। लेकिन उनकी नजर क्या है? तुम्हारी नजर में भी धन का ही मूल्य है। जो दे देते हैं, वे श्रेष्ठ; और जो नहीं देते हैं, वे श्रेष्ठ नहीं। तो तुम ऊपर से लगते हो कि धन को छोड़ आए, लेकिन धन को अभी छोड़ा नहीं।
देखते हैं न, किसी महात्मा का व्याख्यान चल रहा हो और कोई धनपति आ जाए
तो व्याख्यान भी बीच में रुक जाता है। वह कहता है, आइए सेठ जी, आइए, बैठिए! मैं छोटा था तो मेरे गांव में कोई भी महात्मा आए तो मैं सुनने जाता था। यह बात देखकर मैं बड़ा हैरान हुआ कि एक बात में सब महात्मा राजी थे कि गांव के जो सेठ थे, बड़े सेठ, वह कभी भी समय पर तो आते नहीं थे, बड़े आदमी कहीं समय पर आते हैं। जब सब आ जाते, महात्मा भी बोलना शुरू कर देते--उन्हीं का मंदिर था वह, उसी में महात्मा ठहरते, उन्हीं का भोजन करते--महात्मा बोलना शुरू कर देते तब वह आते, कभी पंद्रह मिनट बाद, कभी बीस मिनट बाद, महात्मा तत्क्षण रुक जाते, कहते, आइए, सेठ जी आइए!
मैं एक दफे उनके मंदिर में सुनने गया था, ब्रह्मचर्चा चल रही थी, और एकदम सेठ जी बीच में आ गए, तो महात्मा जी ने कहा, आइए सेठ जी, आइए, बैठिए! मैं खड़ा हुआ, मैंने कहा कि मैं कुछ समझा नहीं, मालूम होता है ब्रह्म से भी कोई बड़े आ गए। यह ब्रह्म की चर्चा चल रही थी, यह सेठ जी कौन हैं! और सेठ का यहां बीच में आने का प्रयोजन क्या है? और तुम्हें यह देखने की जरूरत क्या है कि कौन आदमी बीच में आया? पीछे आए हैं तो बैठेंगे। लेकिन आगे बुलाकर बिठाना, बोलने को रोक देना, यह मेरी समझ में नहीं आता। यह किस तरह की ब्रह्मचर्चा चल रही है!
लेकिन ऐसा ही चलता है। जिनको तुम महात्मा कहते हो, उनका ध्यान भी धन
पर ही लगा है। धन है तो मूल्य है, धन नहीं है तो निर्मूल्य हो गया सब।
ये भिक्षु भी दान की ही बात सोच रहे हैं। जो दान देते हैं, वे श्रेष्ठ।
जो इन्हें देते हैं, वे श्रेष्ठ। जो नहीं देते, वे अश्रेष्ठ। यह कोई कसौटी नहीं हो सकती। और इस कसौटी से सिर्फ एक ही बात पता चलती है कि इनका मन अभी भी धन में उलझा है।
और कोई अन्य कह रहा था, सुंदर स्त्री-पुरुष देखने हों तो उस-उस राज्य में जाओ।
सारी शिक्षा यही है कि मनुष्य देह नहीं है। अब देह में सौंदर्य और असौंदर्य की बात सोचना बड़ी साधारणजन की बात है। मनुष्य के भीतर जो है, वह निराकार है, अरूप है, निर्गुण है। उसकी तलाश में आए हैं। लेकिन नजर अभी भी चमड़ी पर लगी है। कौन सुंदर? कौन असुंदर? तो अभी भी सपनों में खोए हैं। अभी भी कुछ अंतर नहीं पड़ा है, अभी भी संसार चल रहा है। ठीक अपनी जगह चल रहा है। भगवान ने यह सब सुना। स्वभावतः चौंके! उन भिक्षुओं को पास बुलाया और बोले--भिक्षुओ, बाह्यमार्गों की बातें करते झिझकते नहीं?
शर्म नहीं आती? संकोच नहीं होता? लज्जा नहीं लगती? थोड़ा सोचो, क्या तुम कह रहे हो? किसलिए कह रहे हो? क्योंकि जो भी कहा जाता है उसके भीतर कारण है। अकारण कुछ भी नहीं है। तुमने अगर कहा कि सुंदर स्त्री-पुरुष, तो तुम्हारे भीतर अभी भी रूप की वासना है। तुमने अगर कहा, धन देने वाले, दान करने वाले श्रेष्ठ पुरुष, तो तुम्हारे भीतर धन की अभी भी कामना है। और तुमने कहा, छायादार वृक्ष, साफ-सुथरे रास्ते, सरोवरों से भरे हुए मार्ग, तो

तुम्हारे भीतर अभी भी सुविधा का आग्रह है। और सुविधा या सौंदर्य या संपत्ति, इनको मूल्य न देने के लिए ही तो तुम संन्यस्त हुए हो, कि इनको अब मूल्य नहीं देना है। अब किसी और बड़े मूल्य को खोजना है, परम मूल्य को खोजना है। इनकी तरफ पीठ करो, अब अपने घर की तरफ चलो।
अंतर्मार्ग की सोचो, भिक्षुओ!
सोचना ही हो, विचार ही करना हो, तो उस भीतर के पथ का विचार करो, एक-दूसरे को सहयोग दो। जो जहां तक बढ़ गया है, वहां तक की बात बताए कि दूसरे भी वहां तक बढ़ सकें। जो जहां अटक गया है, अपने अटकन की बात बताए कि शायद कोई सहारा दे सके। चर्चा करो, ताकि तुम सहयोगी हो जाओ। अकेले जाने में कठिनाई है, इसीलिए तो भिक्षुओं का संघ बुद्ध ने बनाया था, कि जहां अकेले न जा सको, वहां सब संग-साथ चलो।
कभी-कभी ऐसा हो जाता है, अकेले जाना कठिन होता है, दूसरों के सहारे की जरूरत पड़ती है। कोई भूल तुम से हो रही है, दूसरे से नहीं हो रही, वह तुम्हें सम्हाल दे सकता है। कहीं तुम फिसलने लगो तो कोई तुम्हारा हाथ पकड़ ले सकता है। कहीं तुम गिर पड़ो तो कोई दो मित्र तुम्हें उठा ले सकते हैं। यह भिक्षुओं का संघ इसलिए है कि तुम एक-दूसरे के संगी-साथी बनो भीतर की यात्रा में।
यहां तो कुछ उलटा हो रहा है। तुम तो बाहर की यात्रा की बातें कर रहे हो, और इतने रस से कर रहे हो! और संकोच भी नहीं, और लज्जा भी नहीं; और शर्म भी नहीं लगती तुम्हें? तुम तो ऐसे मौज से कर रहे हो जैसे तुम कुछ गलत कर ही नहीं रहे।
अंतर्मार्ग की सोचो, भिक्षुओ! समय थोड़ा और करने को बहुत कुछ शेष है।
समय ज्यादा नहीं है। कब दीया बुझ जाएगा, नहीं कहा जा सकता। कब हवा का झोंका आएगा और तुम विदा हो जाओगे, नहीं कहा जा सकता। लहर की भांति है यह जीवन। अभी है, अभी नहीं है। इसलिए एक क्षण भी खोने जैसा नहीं है। एक क्षण भी गंवाने जैसा नहीं है। सारे समय को, जितना समय मिला है, अंतर्यात्रा पर समर्पित कर दो।
इन्हीं बाह्यमार्गों पर जन्म-जन्म भटकते रहे, अभी भी थके नहीं?
इतना तो चल चुके हो इन रास्तों पर, इतना तो सौंदर्य देखा, इतने तो स्त्री-पुरुष देखे, इतने तो धन-पद देखे, अभी तक थके नहीं? अभी भी इन्हीं का सपना चल रहा है? और छोड़ चुके तुम इन्हें। छोड़कर आए हो, फिर भी इन्हीं की सोच रहे हो?
मैंने सुना है, एक सूफी फकीर के पास एक युवक आया। संन्यस्त होने आया। फकीर की कुटी में प्रवेश करके उसने चरणों में सिर झुकाया और कहा कि प्रभु, मुझे स्वीकार करें, मैं सब छोड़कर आ गया हूं। और उस फकीर ने कहा, झूठ मत बोल! वह युवक तो बहुत चौंका। और उस फकीर ने कहा, पीछे देख, पूरी भीड़ अपने साथ ले आया है। उस युवक ने तो डरकर पीछे भी देखा, वहां तो कोई भी न था। फकीर ने कहा, वहां नहीं, भीतर। और तब उस युवक ने आंख बंद की, और देखा कि निश्चित, वहां सब खड़े हैं। मित्र, प्रियजन, पत्नी, बच्चे, जिनको वह गांव के बाहर छोड़ आया, जो गांव के बाहर तक उसे छोड़ने आए थे, वे सब खड़े हैं। पंक्तिबद्ध। शरीर से तो आ गया है, मन से अभी वहीं अटका है। गुरु ने ठीक कहा, बिल्कुल ठीक कहा कि यह भीड़-भाड़ छोड़कर आ। यह भीड़-भाड़ न चलेगी यहां। अकेला होकर आ।
संन्यास का अर्थ ही यह होता है, अकेले होने में जिसे मजा आ गया। भीड़ से
जो थक चुका है, व्यर्थ से जो ऊब चुका है, संसार से जो भर चुका है। देख लिया सब, सब तरफ से देख लिया, उलट-पलटकर देख लिया, कुछ नहीं पाया, खाली है। ऐसा रिक्त संसार को देखकर जो आ गया, फिर वह ऐसी बातें करेगा? ऐसी बातें तो फिर संभव न रह जाएंगी। ये बातें तो बड़ी सूचक हैं।
तो बुद्ध कहते हैं, इन्हीं मार्गों पर चलते-चलते जन्म-जन्म बीत गए, अभी तक थके नहीं? और भी भटकना है?
क्योंकि जो सोचोगे, तो फिर भटकोगे। पहले तो विचार पैदा होता है, फिर कृत्य बन जाता है। ख्याल रखना, कोई भी कृत्य अचानक पैदा नहीं होता। पहले तो विचार का बीज पड़ता है। फिर विचार का बीज धीरे-धीरे मजबूत होकर जड़ें जमाता है, फिर अंकुरण होता है, फिर कृत्य बन जाता है। अभी सोच रहे हो धन के

संबंध में, फिर आज नहीं कल धन के पीछे दौड़ने लगोगे। अभी सोच रहे हो सुंदर स्त्री-पुरुष के संबंध में, लेकिन कब तक रुकोगे? यह विचार अगर गहन होता गया, तो कृत्य में परिणित होगा ही।
इसलिए अगर कृत्य से बचना हो तो विचार से बचना होता है। सभी विचार अंततः कृत्य में रूपांतरित हो जाते हैं। और कृत्य को बदलना बहुत कठिन है, विचार को छोड़ देना बहुत सरल है, क्योंकि विचार छोटा है।
ऐसा समझो कि एक बीज, वटवृक्ष का बीज कितना छोटा सा होता है। अगर वटवृक्ष का बीज तुम्हारे आंगन में पड़ा हो तो इसको फेंक देने में क्या अड़चन है! जरा बुहारी मार दी, बाहर हो जाएगा। लेकिन वटवृक्ष पैदा हो जाए, फिर बुहारी मारने से कुछ भी न होगा। फिर तो बड़ा आयोजन करना होगा, तब कहीं यह वटवृक्ष निकलेगा। क्रेन लानी पड़ेगी, या लकड़हारे लाने पड़ेंगे, इसे काटना पड़ेगा, तब कहीं यह दूर होगा। और ये जो भीतर कृत्य के वृक्ष बड़े हो जाते हैं, इनकी जड़ें तुम्हारे प्राणों में फैल जाती हैं। ये तुम्हारे चित्त को सब तरह से आच्छादित कर लेते हैं। इनको उखाड़ना अपने को तोड़ने जैसा होता है-- बड़ा पीड़ादायी है।
इसलिए बुद्ध कहते हैं, क्या अभी और भटकने का मन है? ये विचार तो सांकेतिक हैं, ये तो खबर दे रहे हैं कि अभी भटकने की और इच्छा बनी है। ऐसा लगता है, भिक्षुओ, तुम कच्चे ही संन्यस्त हो गए, तुम पके नहीं थे। तुम्हारा मन अभी वहीं अटका है। ऐसा लगता है, तुम किसी लोभ में आ गए। तुमने मेरी बात सुनी, तुम प्रभावित हो गए। तुमने छोड़ दिया, लेकिन तुम्हें बात समझ में नहीं आयी थी। तुम्हारे जीवन में अभी प्रौढ़ता नहीं आयी थी।
अभी और भटकना है? बाह्यमार्गों में कैसा सौंदर्य! बाह्यमार्गों में कैसी छाया! बाह्यमार्गों पर कैसे सरोवर!
बुद्ध की सारी चेष्टा, पूरे जीवन--कोई बयालीस वर्ष बोधि के बाद वे लोगों को समझाते रहे--अथक, सारा एक ही प्रयास कि किसी तरह लोग अपने भीतर आ जाएं; किसी तरह उन्हें स्वयं का दर्शन हो जाए। एक ही संदेश हजारों ढंग से दिया, एक ही बात हजारों ढंग से कही, सार तो इतना ही है कि अपने भीतर आ जाओ। इसलिए कोई भी अवसर चूके नहीं। कोई भी अवसर हो, उन्होंने उसको ही मौका बना लिया।
यह अवसर था। भिक्षु बात कर रहे थे, उन्होंने इसको ही अवसर बना लिया। यही एक उपाय बन गया।
कहा कि बाहर के मार्गों में कैसा सौंदर्य!
बाहर के तो सभी मार्ग कंटकाकीर्ण हैं। भिक्षु कुछ और कह रहे थे, बुद्ध
ने उस कुछ को उपयोग कर लिया। कहा, बाहर के मार्गों में कैसा सौंदर्य! बाहर के तो सभी मार्ग असुंदर हैं, क्योंकि बाहर के सभी मार्ग अंततः नर्क में ले जाते हैं, दुख में ले जाते हैं। जो दुख में ले जाए, वह कैसे सुंदर!
और बाहर के मार्गों में कैसी छाया!
क्योंकि बुद्ध कहते हैं, मैंने तो बाहर के मार्गों पर चलते लोगों को सिर्फ जलते पाया है। कैसी छाया! तुम बातें कैसी कर रहे हो! बाहर के मार्गों पर मैंने लोगों को भटकते पाया, पसीने से तरबतर पाया, जलते पाया, लपटों में घिरा पाया, पीड़ा में पाया, संताप और चिंता में पाया।
बाहर के मार्गों पर कैसी छाया! और बाहर के मार्गों पर कैसे सरोवर!
किसी को कभी तृप्त होते देखा है? किसी की प्यास बुझते देखी है? सिकंदर
की नहीं बुझती जिसके पास सब है, सम्राटों की नहीं बुझती जिनके पास सब है। बुद्ध यह कह रहे हैं कि मेरी नहीं बुझी थी, मेरे पास सब था। मैं पागल थोड़े ही कि उस सबको छोड़कर चला आया! देखा कि नहीं बुझती।
बाहर के मार्गों पर सरोवर नहीं हैं। बाहर के मार्गों पर तो ऐसी ही स्थिति है कि जितना प्यास को बुझाने की कोशिश करो, उतना और आग में घी पड़ता है, उतनी और प्यास भभकती है।
सौंदर्य तो है आर्यमार्ग में।
बुद्ध अंतर्मार्ग को आर्यमार्ग कहते हैं। आर्य का अर्थ होता है, श्रेष्ठ। जो श्रेष्ठ हैं, वे भीतर की तरफ जाते हैं; जो निकृष्ट हैं, वे बाहर की तरफ जाते हैं। आर्यमार्ग का अर्थ होता है, जिनके पास बुद्धिमत्ता

है वे भीतर की तरफ जाते हैं, जो बुद्धिहीन हैं वे बाहर की तरफ जाते हैं। स्वभावतः, बुद्धिहीन ही बाहर की तरफ जाएगा, क्योंकि बाहर से कुछ मिलता तो नहीं है, सिर्फ भटकावा और भटकावा। मिलता तो भीतर है।
तो ऐसा ही समझो कि कोई आदमी कंकड़-पत्थरों को बीनता रहे, तो उसको तुम बुद्धू ही कहोगे न! जिनसे कुछ भी न मिलेगा। कोई मधुमक्खी कंकड़-पत्थरों पर बैठी रहे और सोचे कि मधु मिल जाएगा, तो पागल कहोगे न! फूलों पर मिलता है मधु। ऐसे ही भीतर है आनंद। वह फूल तुम्हारे भीतर है, जहां तुम्हारे जीवन का मधु संचित है। तुम्हारा भौंरा जब भीतर उड़ेगा, भीतर गुनगुन करेगा और भीतर के कमल पर बैठेगा, तब तुम भरोगे रस से, तब रसधार बहेगी।
तो बुद्धिमान तो भीतर की तरफ जाता, बुद्धिहीन बाहर की तरफ जाता। इसलिए भीतर की यात्रा को बुद्ध कहते हैं, आर्यमार्ग। श्रेष्ठजन का मार्ग। यहां आर्य से आर्यजाति का कोई संबंध नहीं है, यहां आर्य से श्रेष्ठ शब्द का प्रयोजन है।
छाया है आर्यमार्ग में, सरोवर भी वहीं है, वहीं शरण खोजो। वहीं मिटेगी प्यास, और कहीं नहीं। भिक्षु को आर्यमार्ग में ही लगना चाहिए, क्योंकि वहीं दुख-निरोध है, वहीं दुख-निरोध का मार्ग है।
बुद्ध की सारी उपदेशना कैसे दुख निरुद्ध हो जाए, इसकी है। इस संबंध में एक बात समझ लेनी जरूरी है, इसके पहले कि हम सूत्रों में प्रवेश करें। वेदांत आनंद की बात करता है, उपनिषद आनंद की बात करते हैं, वेद आनंद के गीत गाते हैं। लेकिन बुद्ध आनंद की बात नहीं करते। बुद्ध दुख-निरोध की बात करते हैं। यह बात बड़ी बहुमूल्य है। बुद्ध कहते हैं, आनंद की तो बात करने की जरूरत ही नहीं है। बस तुम दुख पैदा करने के आयोजन छोड़ दो, आनंद तो पैदा हुआ ही है। आनंद तो तुम्हारा स्वभाव है। आनंद तो तुम लेकर ही आए हो। आनंद तो है ही, आनंद को पाना थोड़े ही है, इसलिए उसकी क्या बात करनी! सिर्फ दुख न रह जाए तो आनंद घट जाता है, घटा ही हुआ है।
तो इसलिए बुद्ध का पूरा मार्ग निषेध का मार्ग है, नकार का मार्ग है। सिर्फ उतनी बातें तुम हटा दो जिनसे दुख पैदा होता है और अचानक तुम पाओगे कि आनंद मौजूद था, दुख पैदा होने के कारण दिखायी नहीं पड़ता था। दुख के जाते ही सब तरफ आनंद ही आनंद के दर्शन हो जाएंगे, सब तरफ आनंद की धार बहने लगेगी।
बुद्ध क्यों आनंद की सीधी बात नहीं करते? वह कहते हैं, आदमी बड़ा नासमझ है। तुम जब आनंद की बात करते हो कि ब्रह्म आनंद है, सच्चिदानंद है, तो आदमी सोचता है, चलो आनंद को पाने की कोशिश करें। वह दुख को मिटाने की कोशिश तो करता ही नहीं, आनंद को पाने की कोशिश में लग जाता है। और आनंद मिलता नहीं दुख को मिटाए बिना। तो दुख को तो वह भूल ही जाता है, दुख की तो बात ही नहीं करता है, दुख के रास्ते पर तो चलता ही रहता है और आनंद की वासना करने लगता है कि आनंद कैसे मिले? कारण बने रहते बीमारी के और वह स्वास्थ्य की कामना करने लगता है।
तुम चिकित्सक के पास जाते हो, चिकित्सक तुम्हारे स्वास्थ्य की बात ही कहां करता है! वह तो यही कहता है, कौन सी बीमारी? चिकित्सा करता है बीमारी की, स्वास्थ्य की तो कोई चिकित्सा होती ही नहीं। स्वास्थ्य जैसी कोई चीज डाक्टर की पकड़ में ही नहीं आती। जब बीमारी सब समाप्त हो जाती है तो तुम्हारे भीतर स्वास्थ्य का आविर्भाव होता है। स्वास्थ्य लाया नहीं जा सकता, सिर्फ बीमारी हटायी जा सकती है। इसलिए बीमारी का निदान है, इसलिए बीमारी का इलाज है।
तो बुद्ध तो कहते हैं, मैं चिकित्सक हूं। उनकी पकड़ बड़ी वैज्ञानिक है।
वह कहते हैं, ये-ये बीमारियां हैं, इन-इन बीमारियों को हटा देना है, यह रही औषधि। बीमारी हट जाएगी, घटेगा स्वास्थ्य, आनंद प्रगट होगा। ऐसा ही समझो कि एक झरना है पानी का और एक चट्टान उसके मार्ग पर अड़ी है। चट्टान हटा दो, झरना बह उठेगा। चट्टान मत हटाओ और बैठकर करो पूजा और प्रार्थना कि झरना बहे, झरना नहीं बहेगा।

अक्सर ऐसा हो जाता है कि उसी चट्टान पर बैठकर तुम पूजा कर रहे हो, प्रार्थना कर रहे हो कि हे प्रभु, झरना बहे। और उसी चट्टान पर बैठे हो। वह चट्टान हटे तो झरना अपने आप बहे। बिना किसी प्रार्थना के बहेगा।
इसलिए बुद्ध ने प्रार्थना को तो मार्ग ही नहीं कहा। बुद्ध ने तो कहा, सिर्फ ध्यान। चट्टान हट जाती है, विचार की चट्टान हट जाती है ध्यान से, विचार की बीमारी हट जाती है ध्यान की औषधि से; विचार कट गया ध्यान से, तुम निर्विचार हुए कि बस तत्क्षण झरना बह उठता है। रस बहेगा, उसकी बात ही नहीं करनी। बात करने में खतरा है। बात की कि आदमी में वासना उठती है। और खतरा यह है कि वासना के कारण ही तो आदमी आनंद को नहीं उपलब्ध कर पा रहा है। निर्वासना में आनंद है। फिर किसी के मन में आनंद की वासना उठ गयी तो उसी से बाधा पड़ जाएगी। मोक्ष की कोई कामना नहीं हो सकती। क्योंकि सभी कामनाएं सांसारिक हैं। मोक्ष की कामना भी सांसारिक है। कामना मात्र संसार है। इसलिए मोक्ष की बुद्ध बात नहीं करते हैं। उनकी बात बड़ी वैज्ञानिक है,
वे कहते हैं, दुख-निरोध। इससे ज्यादा मत पूछो। इतना कर लो, फिर आ जाना। इतना हो जाने दो, फिर पूछ लेना। इतना जिसका हो जाता है वह पूछता ही नहीं, वह आनंद में डूब जाता है, वह अपरिसीम आनंद में डूब जाता है। फिर पूछने-पाछने की बात ही नहीं रह जाती।
अब सूत्र--

मग्गानट्ठंगिको सेट्ठो सच्चानं चतुरो पदा।
विरागो सेट्ठो धम्मानं द्विपदानंच चक्खुमा।।
"मार्गों में अष्टांगिक मार्ग श्रेष्ठ है। सत्यों में चार पद (चार आर्य-सत्य) श्रेष्ठ हैं। धर्मों में वैराग्य श्रेष्ठ है। और द्विपदों में--मनुष्यों में--च्रुष्मान, आंख वाले (बुद्ध) श्रेष्ठ हैं।"
बड़ा प्यारा सूत्र है।

मग्गानट्ठंगिको सेट्ठो।

बहुत मार्ग हैं भीतर आने के, लेकिन बुद्ध कहते हैं, अष्टांगिक मार्ग उसमें श्रेष्ठ है। तुम बाहर के मार्गों की बातें कर रहे हो कि कौन सा रास्ता अच्छा है, अरे पागलो, अष्टांगिक मार्ग श्रेष्ठ है। भीतर आने के बहुत मार्गों में आठ अंगों वाला मार्ग श्रेष्ठ है। वे आठ अंग निम्न हैं-- सम्यक-दृष्टि, पहला अंग। सम्यक-दृष्टि का अर्थ होता है, दृष्टियों से मुक्ति। पक्षपात से मुक्ति। आंखें खाली हों। कोई भाव न हो, कोई विचार न हो; कोई सिद्धांत, कोई शास्त्र न हो; कोई मत न हो। खुली निष्पक्ष आंख हो, निर्दोष आंख हो--जैसे दर्पण खाली--तो सत्य दिखायी पड़ेगा। तो सत्य कैसे बचेगा? लेकिन दर्पण पर अगर कोई धूल पड़ी हो, कोई पक्ष पड़ा हो, रंग पड़ा हो, तो फिर सत्य जैसा है वैसा दिखायी न पड़ेगा। सम्यक-दृष्टि का अर्थ होता है, दृष्टियों का अभाव। जब सब दृष्टियां छूट जाती हैं--हिंदू की दृष्टि, मुसलमान की दृष्टि, ईसाई की दृष्टि--जब सब दृष्टियां छूट जाती हैं और कोई दृष्टिशून्य खड़ा होता है, निर्वस्त्र, नग्न, सारी दृष्टियों से मुक्त, तब सत्य को जाना जाता है। यह पहला अंग।
दूसरा अंग, सम्यक-संकल्प। हठ नहीं, औद्धत्य नहीं, जिद्द नहीं। अधिक लोग संन्यासी हो जाते जिद्द से, हठ से, औद्धत्य से, अहंकार से। तुम्हें अक्सर जिद्दी लोग संन्यासियों में मिलेंगे। दुर्वासा की कहानी तो तुम जानते ही न! जिद्दी आदमी कुछ भी कर सकता है। कुछ न कर पाए, संन्यासी हो जाता है।
बुद्ध कहते हैं, यह संकल्प नहीं हुआ। यह तो अहंकार का ही सूक्ष्म रूप है। सम्यक-संकल्प। ठीक-ठीक संकल्प का अर्थ यह है, किसी जिद्द के कारण संन्यास नहीं, बोध के कारण संन्यास, समझ के कारण संन्यास, होश से, जीवन की प्रौढ़ता से। जीवन को सब तरफ से परख कर, परिपक्वता से। संकल्प तो हो, लेकिन जिद्दी संकल्प नहीं चाहिए। आग्रहपूर्वक नहीं चाहिए। निराग्रही संकल्प।

फर्क समझना। मेरे पास एक युवक आया और उसने कहा कि मैं तो संन्यास लेकर रहूंगा। मैंने पूछा, बात क्या है? संन्यास किसलिए लेना है? उसने कहा कि मेरे पिता इसके खिलाफ हैं। मतलब समझे आप? पिता खिलाफ हैं, इसलिए वह लेना चाहता है। वह कहता है, मैं लेकर रहूंगा। मैंने उसको समझाया कि अगर तेरे पिता खिलाफ न हों, फिर तू लेगा? उसने कहा, फिर मैं सोचूंगा।
जिद्द के कारण संन्यास ले रहा है। अहंकार को एक चोट लग गयी है, बाप कहता है, नहीं लेना। बाप भी जिद्दी है। ठीक बाप का ही बेटा है, उन्हीं का बेटा है, उन्हीं जैसा है, उन्हीं का फल है। बाप जिद्दी है कि संन्यास नहीं लेना, बेटा जिद्दी है कि लेकर रहूंगा, कि बाप को मजा चखाकर रहूंगा।
अब यह अगर संन्यास ले लेगा तो यह असम्यक संकल्प हुआ। यह ठीक संकल्प नहीं है। मैंने उससे कहा कि तू रुक, मैं तुझे संन्यास नहीं दूंगा। तू यह बात छोड़ दे, यह तो बाप ने तुझे संन्यास लिवा दिया!
एक और घटना आप से कहूं। मेरे एक मित्र थे, एक युवती से उनका प्रेम था। दोनों का बड़ा प्रेम था--ऐसा कम से कम दिखलाते तो थे। दोनों के परिवार विपरीत थे और दोनों जिद्द में थे विवाह करने की। मैंने उनसे कहा, तुम थोड़ा सोच लो। कहीं ऐसा तो नहीं है कि यह जितना प्रेम तुम्हें दिखायी पड़ता है इतना प्रेम नहीं है, सिर्फ एक जिद्द है, अपने परिवारों से टक्कर लेने की। उन्होंने कहा कि नहीं-नहीं, हमारा प्रेम बहुत गहरा है। मैंने उन्हें कई बार समझाने की कोशिश की, वे मुझसे नाराज भी हो गए कि आप बार-बार यह बात क्यों उठाते हैं? मैंने कहा कि मुझे ऐसा लगता है कि जितना तुम प्रेम समझ रहे हो, इतना नहीं है। यह परिवारों का झगड़ा है। और विवाह के बाद तुम झंझट में पड़ सकते हो, क्योंकि जब विवाह हो जाएगा तो बात खतम हो गयी, परिवार से जो झगड़ा था वह तो समाप्त हो गया। नहीं-नहीं, उन्होंने तो जिद्द से कहा कि हमारा प्रेम है।
विवाह भी कर लिया। एक साल के बाद ही उन्होंने मुझे कहा कि हम भूल में थे। न मुझे लड़की से कुछ लेना-देना है, न लड़की को मुझसे कुछ लेना-देना है। बेटा ब्राह्मण घर का था, लड़की पारसी थी। न लड़की के घर वाले चाहते थे कि ब्राह्मण से शादी हो, ब्राह्मण के घर वाले तो चाह ही कैसे सकते हैं कि पारसी से शादी हो! वह बड़ा झगड़ा था। जिद्द अटक गयी थी। परिवार और बेटा- बेटियों के अहंकार में बड़ी कलह थी।
सालभर में सारा प्रेम बह गया। जब प्रेम बह गया तो अड़चनें शुरू हो गयीं। जो झगड़ा परिवार से चल रहा था वह आपस में चलने लगा। झगड़ैल प्रवृत्ति के तो थे ही। पहले मां-बाप से लड़ रहे थे, अब तो कोई बात ही न रही, मां-बाप अलग ही पड़ गए। उन्होंने कहा, ठीक है, भूल ही गए, कि जब तुमने शादी कर ली तो अलग हो जाओ। अब जो झगड़ा मां-बाप से लगा था, वह झगड़ा एक-दूसरे के प्रति लगने लगा। उस युवक ने आत्महत्या की, छह साल के भीतर। शराबी हो गया और आत्महत्या तक बात पहुंच गयी।
ख्याल रखना, बुद्ध हमेशा अपने भिक्षुओं को कहते थे, सम्यक-संकल्प। किसी हठ के कारण नहीं, अपने बोध से, समझ से। आंतरिक उत्साह से लेना।
तीसरा अंग है, सम्यक-वाणी। बुद्ध कहते थे, जो जाने, वही बोले। और जैसा जाने, वैसा ही बोले, जरा भी अन्यथा न करे। और जो बोलने योग्य हो वही बोले, असार न बोले। क्योंकि बोलने से बड़ी उलझनें पैदा होती हैं। जीवन व्यर्थ के जालों में फंस जाता है। तुम जरा ख्याल करना, कितनी झंझटें तुम्हारे बोलने की वजह से पैदा हो जाती हैं। किसी से कुछ कह बैठे, झगड़ा हो गया, अब झंझट बनी।
काश, तुम अपने बोलने को थोड़ा न्यून कर लो तो तुम्हारे जीवन की नब्बे प्रतिशत झंझटें तो कम हो जाएं। इस दुनिया में जितने मुकदमे चल रहे हैं, झगड़े चल रहे हैं, सिर फोड़े जा रहे हैं, वह असम्यक-वाणी के कारण हैं।
बुद्ध कहते थे, जिसे स्वयं को जानना है, उसे जितनी कम झंझटें जीवन में पैदा हों, उतना अच्छा है।
चौथा, सम्यक-कर्मांत। व्यर्थ के कामों में न उलझो। वही करो जिसके करने से जीवन का सार मिले। क्योंकि शक्ति सीमित है और समय सीमित है। हममें से अधिक लोग तो कुछ न कुछ करने में लगे रहते हैं। हम खाली बैठना जानते ही

नहीं। कुछ करने को न हो तो हमें बड़ी बेचैनी होती है। तो हम अपनी बेचैनी को करने में उलझाए रखते हैं।
न मालूम क्या-क्या आदमी करता रहता है! तुम अगर खाली बैठे हो कमरे में
तो तुम कुछ न कुछ करोगे, उठकर खिड़की खोल दोगे, अखबार पढ़ने लगोगे, रेडियो चलाओगे, कुछ न कुछ करोगे। कुछ न मिलेगा, सिगरेट पीने लगोगे। कुछ न कुछ करोगे। व्यस्त रहने में हम अपने पागलपन को छिपाए रहते हैं।
बुद्ध ने कहा, इस तरह की व्यस्तता महंगी है। धीरे-धीरे अव्यस्त बनो। वही करो, जो करना जरूरी है; जो नहीं करना जरूरी है, वह मत करो। अगर बेचैनी होती हो तो बेचैनी को जागरूक होकर देखो, धीरे-धीरे बेचैनी शांत हो जाएगी। और जो शक्ति बचेगी व्यर्थ के कामों से, उसे तुम सार्थक दिशा में मोड़ सकोगे।
पांचवां, सम्यक-आजीव। बुद्ध कहते थे, अपने जीने के लिए किसी का जीवन नष्ट करना अनुचित है। अब कोई कसाई का काम करता है, तो बुद्ध कहते, यह व्यर्थ है। इतना उपद्रव बिना किए आदमी अपना भोजन जुटा ले सकता है। वही करो जिससे किसी के जीवन को अहित न होता हो। क्योंकि जब तुम दूसरों का अहित करते हो तो तुम अपने अहित के लिए बीज बो रहे हो। फिर फसल भी काटनी पड़ेगी। सम्यक-आजीव।
छठवां, सम्यक-व्यायाम। बुद्ध कहते थे, न तो बहुत सुस्त होओ और न बहुत कर्मी। मध्य में होओ। न तो आलसी बन जाए और न बहुत कर्मठ। क्योंकि आलसी कुछ भी नहीं करता और कर्मठ व्यर्थ के काम करने लगता है। मध्य में चाहिए।
सम्यक-व्यायाम। जीवन की ऊर्जा सदा संतुलित हो।
और सातवां बुद्ध का अंग है, सम्यक-स्मृति। सम्यक-ध्यान। होश रखकर जीए। स्मरणपूर्वक जीए। मैं क्या कर रहा हूं, इसे देखते, जानते हुए करे। क्रोध उठे तो क्रोध के प्रति भी अपने होश को सावधानी से देखता रहे कि यह क्रोध उठा, यह क्रोध मुझे पकड़ रहा है, अब यह क्रोध मुझसे कह रहा है, मार दो इस आदमी के सिर में डंडा; इस सबको देखता रहे। और तुम चकित होओगे कि अगर तुम देखने में थोड़े सावधान हो जाओ तो जो व्यर्थ है, वह अपने आप होना बंद हो जाएगा, और जो सार्थक है, वही होगा। धीरे-धीरे यह स्मृति तुम्हारे चौबीस घंटे पर फैल जाएगी। उठते-बैठते तुम जागे-जागे चलोगे। और एक ऐसी घड़ी आती है कि रात सोए भी रहोगे तब भी तुम्हारे भीतर जागरण की धारा बहती रहेगी। एक सूत्र शुभ्र ज्योति की भांति तुम्हारे भीतर जागा रहेगा।
वही तो कृष्ण ने कहा है कि जब सब सो जाते हैं तब भी योगी जागता है--या निशा सर्वभूतानाम तस्याम जागर्ति संयमी। जागा रहता, इसका मतलब यह नहीं कि संयमी सोता ही नहीं, चलता कमरे में, बैठा रहता, अनिद्रा का बीमार रहता, ऐसा मतलब नहीं है। इसका मतलब इतना है कि नींद शरीर पर होती, भीतर चैतन्य का दीया जलता रहता है।
सम्यक-स्मृति का अर्थ है, जब चौबीस घंटे पर तुम्हारा ध्यान फैल जाए, बोध फैल जाए, तब तुम्हारी परिधि में जागरूकता आ गयी।
और फिर अंतिम घड़ी है, आठवां अंग, सम्यक-समाधि। बुद्ध समाधि में भी कहते हैं--सम्यक, ठीक समाधि। गैर ठीक समाधि उसे कहते हैं जिसे आदमी बेहोशी में पाता है।
तुमने देखा होगा कि कोई योगी जमीन में छिप जाता है, छह महीने के लिए समाधि ले लेता है। वह समाधि नहीं, उसको बुद्ध कहते हैं, असम्यक-समाधि। वह तो बेहोशी में पड़ा रहा। जैसे मेंढक छिप जाता है जमीन में और पड़ा रहता है गर्मी के दिनों में--आधा मुर्दा, बस नाममात्र को जीवित। फिर वर्षा आएगी, फिर मेंढक में प्राण आ जाएंगे। ऐसा ही योगी अपनी श्वास को रोककर मूर्च्छा में पड़ जाता है। उसे पता ही नहीं कि वह कर क्या रहा है। छह महीने पड़ा रहेगा, लोगों को चमत्कार भी मालूम पड़ेगा। छह महीने बाद जब वह उठेगा तो लोग बड़े चमत्कार से भर जाएंगे, बड़ी श्रद्धा और पूजा करेंगे।
लेकिन यह कोई समाधि नहीं है। यह तो अपने शरीर और अपने मन के साथ एक तरकीब, अपने को मूर्च्छित करने की योजना। इससे कोई सत्य को कभी नहीं जान पाया है। ऐसा होता तो मेंढक कभी के सब सत्य को उपलब्ध हो गए होते।

ऐसे साइबेरिया में सफेद रीछ होते हैं, वे भी यही करते हैं। छह महीने
के लिए मुर्दे की तरह पड़ जाते हैं। श्वास बिल्कुल ठहर जाती है। तो श्वास की तरकीब है यह। इस तरकीब से कुछ समाधि का संबंध नहीं है।
सम्यक-समाधि का अर्थ है, होशपूर्वक स्वयं के केंद्र पर विराजमान हो।
ये दो अंतिम चरण सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। सम्यक-स्मृति परिधि पर। जीवन के कर्म की जो परिधि है--करते, उठते, बैठते, चलते, बात करते, मिलते, होश रखे। फिर धीरे-धीरे यही होश केंद्र पर आने लगेगा। फिर धीरे-धीरे आंख बंद करके भीतर होश का दीया जलता रहे, उसी दीए के साथ तुम एक हो जाओगे, होशपूर्वक स्वयं में प्रविष्ट कर जाना सम्यक-समाधि।
इसको आर्य-अष्टांगिक मार्ग बुद्ध ने कहा।
बुद्ध ने कहा, भिक्षुओ!

मग्गानट्ठंगिको सेट्ठो।

अगर श्रेष्ठ मार्ग की ही बात करनी है, अरे तो पागलो, आर्य-अष्टांगिक मार्ग की बात करो, इतना तो तुम्हें समझाया है! यह तुम किन मार्गों की बात करते हो?

सच्चानं चतुरो पदा।

अगर सच्चे, श्रेष्ठ लोगों की बात करनी है, तो चार आर्य-सत्यों की बात करो, जो मैंने तुम्हें बार-बार समझाए हैंः कि दुख है, कि दुख के कारण हैं, कि दुख के कारणों से मुक्त होने के उपाय हैं, कि दुख से मुक्त होने की अवस्था है, दुख-निरोध की अवस्था है, निर्वाण है, इनकी चर्चा करो।

विरागो सेट्ठो धम्मानं।

अगर श्रेष्ठ धर्म की बात करनी है तो विराग की बात करो, यह क्या राग की बात कर रहे हो!

विरागो सेट्ठो धम्मानं।

वैराग्य श्रेष्ठ धर्म है। विराग के गीत गाओ, एक-दूसरे को विराग समझाओ, एक-दूसरे के जीवन में विराग लाओ, एक-दूसरे की धीरे-धीरे समझ इतनी गहरी करो कि जहां-जहां राग के बंधन हैं, टूट जाएं, विराग की स्वतंत्रता उपलब्ध हो।

द्विपदानंच चक्खुमा।

और यह आखिरी बात तो बड़ी अदभुत है। बुद्ध कहते हैं, सुंदर स्त्री- पुरुषों की बात कर रहे हो? सौंदर्य तो केवल एक घटना में घटता हैः द्विपदानंच चक्खुमा।

उसमें सौंदर्य घटता है, इन दो पैरों वाले जानवर में, आदमियों में वही सुंदर है जिसके पास आंखें हैं। जो आंखों को उपलब्ध हो गया। जो च्रुष्मान हो गया। और तो सब अंधे हैं, जो बुद्ध हो गया, जिसके भीतर ध्यान की आंख खुल गयी, वही सुंदर है। और तो सब असुंदर ही हैं। और तो सब लाशें हैं। और तो सब मांस-मज्जा हैं। और तो सब आज नहीं कल मिट्टी में गिरेंगे और खो जाएंगे।

द्विपदानंच चक्खुमा।

आंख वालों की चर्चा करो। बुद्ध यह कह रहे हैं कि मैं यहां बैठा तुम्हारे सामने आंख वाला, तुम अंधों के सौंदर्य की बात कर रहे हो!

एसोव मग्गो नत्थांं दस्सनस्स विसुद्धिया।
एतं हि तुम्हे पटिवज्जथ मारस्सेतं पमोहनं।।

"दर्शन की विशुद्धि के लिए यही मार्ग है; दूसरा मार्ग नहीं। इसी पर तुम आरूढ़ होओ; यही मार को मूर्च्छित करने वाला है।"
इसी से तुम्हारा शैतान मन हारेगा, अन्यथा नहीं हारेगा। तुम अपने शैतान मन को तो बड़े उपाय दे रहे हो, बाहर की बातें कर रहे हो, इससे तो शैतान मन और मजबूत होगा।
मार बुद्ध-परंपरा में शैतान के लिए दिया गया नाम है। शैतान तुम्हें मार रहा है, प्रतिपल मार रहा है, शैतान तुम्हें मारे डाल रहा है। और यह शैतान कोई बाहर नहीं, तुम्हारा मन है। यह मन तुम्हें बाहर ले जाता है, भटकाता है, इस मन से सावधान होओ।

एसोव मग्गो नत्थांं दस्सनस्स विसुद्धिया।

ऐसे जागोगे तो धीरे-धीरे तुम्हारे भीतर दर्शन की विशुद्धि पैदा होगी, तुम्हारे पास विशुद्ध आंखें आएंगी। उन विशुद्ध आंखों से सत्य जाना जाता है, जीआ जाता है, फिर जीवन-रसधार बहती है।

एतं हि तुम्हे पटिपन्ना दुक्खस्संतं करिस्सथ।
अक्खातो वे मया मग्गो अांंय सल्लसंथनं।।
"इस मार्ग पर आरूढ़ होकर तुम दुखों का अंत कर दोगे। शल्य-समान दुख का निवारण करने वाला जानकर मैंने इस मार्ग का तुम्हें उपदेश किया है।" बुद्ध कहते हैं, मैं कोई दर्शनशास्त्री नहीं हूं, मैं कोई दार्शनिक नहीं हूं, मैं तो एक वैद्य हूं। मैंने यह मार्ग तुम्हें कहा है सिर्फ इसलिए कि इसके द्वारा तुम दुखों के निरोध को उपलब्ध हो जाओगे, तुम्हारी बीमारियां छूट जाएंगी, तुम स्वस्थ हो जाओगे।

अक्खातो वे मया मग्गो।

मैंने तो इसीलिए सिर्फ यह उपदेश दिया है अष्ट अंगों वाले मार्ग का, चार आर्य-सत्यों का, आंख वाले बुद्धत्व को पाने का, कि तुम दुख के पार हो जाओ।

तुम्हेहिकिच्चं आतप्पं अक्खातारो तथागता।
पटिपन्ना पमोक्खंति झायिनो मारबंधना।।

"और उद्योग तो तुम्हें ही करना है; तथागत का काम तो उपदेश करना है। इस मार्ग पर आरूढ़ होकर ध्यानपरायण पुरुष मार के बंधनों से मुक्त हो जाते हैं।"
यह बुद्ध की बड़ी प्रसिद्ध सूक्तियों में से एक है--

तुम्हेहिकिच्चं आतप्पं।

चलना तो तुम्हें ही होगा, मैं तो सिर्फ इशारा कर सकता हूं। जाना तो तुम्हें ही होगा, मैं तो सिर्फ मार्ग की तरफ इंगित कर सकता हूं। बुद्धपुरुष तो केवल इशारा करते हैं। और तो क्या कर सकते हैं! बुद्धपुरुष तुम्हें निर्वाण नहीं दे सकते, सिर्फ निर्वाण की तरफ इंगित कर सकते हैं, फिर चलना तुम्हें ही होगा। निर्वाण कोई किसी को दे नहीं सकता। यह तो स्वयं ही खोजना पड़ता है, यह तो आत्मखोज है।

तुम्हेहिकिच्चं आतप्पं।

तुम्हें चलना होगा। और तुम बाहर के मार्गों की बात कर रहे हो और तुम्हें चलना है भीतर के मार्ग पर। और तुम बाहर के सौंदर्य की चर्चा कर रहे हो और तुम्हें दर्शन करने हैं भीतर के सौंदर्य के। तुम मुझ पर भरोसा करके मत बैठो। मैं तुम्हें न ले जा सकूंगा।

अक्खातारो तथागता।
मैं तो सिर्फ जो मैंने जाना है, जैसे मैंने जाना है, उतना तुमसे कह दूंगा, फिर यात्रा तो तुम्हें ही करनी होगी। चलना तो तुम्हें ही होगा, तुम्हारे ही पैरों से चलना होगा। तुम्हारी ही आंखों से तुम्हें देखना होगा। मेरे खाए तुम्हारा पेट न भरेगा और न मेरे देखे तुम्हारा दर्शन खुलेगा। मेरे चले तुम कैसे चलोगे! इस सत्य की यात्रा पर प्रत्येक को अपने ही पैरों से जाना होता है। यह यात्रा बड़ी अकेली है। एक-एक की है। हां, बुद्धपुरुष इशारा कर सकते हैं, नक्शा दे सकते हैं, समझा सकते हैं, क्योंकि जहां से वे चले हैं उन मार्गों की तुम्हें खबर दे सकते हैं।

पटिपन्ना पमोक्खंति झायिनो मारबंधना।

इस मार्ग पर अगर तुम आरूढ़ हो जाओ, इस भीतर के मार्ग पर तुम ध्यानपरायण
हो सको, तो मार के बंधनों से मुक्त हो जाओगे। तो यह मन तुम्हारा जो शैतान की तरह तुम्हें बाहर भटका रहा है, इससे तुम्हारा छुटकारा हो सकता है। लेकिन चलना होगा; श्रम करना होगा। और यह ऊर्ध्वगमन है, जैसे पहाड़ पर कोई ऊपर चढ़ता है, यह कष्टसाध्य है। पहाड़ से कोई नीचे उतरता है, इतना कष्टसाध्य नहीं है। इसीलिए तो वासना आसान है, समाधि कठिन है।
वही ऊर्जा वासना में जाती है, वही ऊर्जा समाधि में, लेकिन समाधि कठिन है। क्योंकि समाधि में ऊपर की तरफ यात्रा करनी होती है, और वासना में नीचे की तरफ। जैसे पत्थर को धक्का दे दो पहाड़ पर, अपने आप फिसलता हुआ, गिरता हुआ, लुढ़कता हुआ खाई-खंदकों में पहुंच जाएगा। लेकिन इतना सा धक्का देने से पहाड़ की चोटी पर नहीं पहुंच जाएगा। चोटी पर तो ले जाने में श्रम करना होगा, पसीना बहेगा। इस श्रम करने के कारण ही बुद्ध ने अपने मार्ग को श्रमण कहा है।
भारत में दो संस्कृतियां हैं। एक संस्कृति का नाम ब्राह्मण-संस्कृति, एक संस्कृति का नाम श्रमण-संस्कृति। दोनों का मौलिक भेद इतना ही है, ब्राह्मण-संस्कृति की मान्यता है कि प्रभु के प्रसाद से मिलता है सब। तुम प्रार्थना करो, प्रभु की अनुकंपा होगी तो मिलेगा। श्रमण-संस्कृति का कहना है, कोई प्रभु नहीं है देने वाला, तुम श्रम करो तो मिलेगा। इसलिए ब्राह्मण-संस्कृति में प्रार्थना केंद्रीय है और श्रमण-संस्कृति में ध्यान केंद्रीय है।
सुनते हो, बुद्ध कहते हैं--

पटिपन्ना पमोक्खंति झायिनो मारबंधना।

"इस मार्ग पर आरूढ़ होकर ध्यानपरायण पुरुष... ।"
हिंदू-संस्कृति या ब्राह्मण-संस्कृति कहती है, ईश्वरपरायण बनो; बुद्ध कहते हैं, ध्यानपरायण बनो, ईश्वर कहां है? किसी दूसरे के सहारे मत बैठे रहो, कोई तुम्हें मुक्त करने न आएगा। उठो, तुम्हारे ही पैरों पर भरोसा करो, अपने आत्मबल को जगाओ, अपने आत्मविश्वास को जगाओ--अप्प दीपो भव, अपने दीए बनो।
बुद्ध कहते हैं, मैंने तो सार-सूत्र कह दिए, इशारे बता दिए, अब तुम यह
मत सोचो कि इन इशारों को सुन लिया तुमने तो पहुंच गए। समय मत गंवाओ, समय थोड़ा है। व्यर्थ की बातों में मत पड़ो और बाहर के मार्गों की चर्चा में मत उलझो। क्योंकि जिस चर्चा में तुम उलझोगे, आज नहीं कल उस मार्ग पर चल पड़ोगे। भीतर के मार्ग की चर्चा करो, भीतर के मार्ग के संबंध में विमर्श करो, भीतर के मार्ग के संबंध में एक-दूसरे से समझो--कोई तुमसे दो कदम आगे

गया है, कोई दो कदम पीछे है--इस भीतर के मार्ग की, इस भीतर के मार्ग पर खड़े हुए वृक्षों की, इस भीतर के मार्ग पर बने हुए सरोवरों की, इनकी बातें करो।
बुद्ध ने एक छोटी सी घटना को एक बड़े महत्वपूर्ण उपदेश का आधार बना लिया। बुद्ध ने ऐसी ही छोटी-छोटी घटनाओं को बड़े अदभुत प्रसंगों में बदल दिया है। बुद्ध जैसे पुरुष मिट्टी को छूते हैं तो सोना हो जाता है।
आज इतना ही।

एस धम्मो सनंतनो, भाग 9
सतासीवां प्रवचन

जुहो! जुहो! जुहो!

पहला प्रश्नः मेरे पास सब है, लेकिन शांति नहीं। पूंजी है, पद है, प्रतिष्ठा है, लेकिन सुख नहीं। मैं क्या करूं?

नहीं जी, आपके पास कुछ भी नहीं है। सबकी तो बात ही छोड़ो, कुछ भी नहीं है। क्योंकि सब होता तो शांति होती। सब होता तो सुख होता। वृक्ष तो फल से पहचाना जाता है। फल ही न लगे, उस वृक्ष को वृक्ष कहोगे? सुख का फल न लगे तो वृक्ष झूठा होगा। मान लिया होगा। शांति का जन्म न हो तो संपदा कैसी? फिर तुम विपदा को संपदा कह रहे हो। संपत्ति का अर्थ ही यही होता है कि जिससे सुख पैदा हो, जिसमें सुख के फूल लगें। फल से ही कसौटी है। सुनार सोने को कसता है कसौटी पर, कसौटी पर सोने का चिह्न न बने और वह कहे--सोना तो मेरे पास है लेकिन कसौटी पर चिह्न नहीं बनता, तो तुम क्या कहोगे? पागल है। शांति तो चिह्न है। सुख चिह्न है कसौटी पर। तुम्हारे पास संपत्ति होती तो जरूर ये चिह्न बनते। तुम न भी बनाना चाहते तो भी बनते। अनायास बनते, अपने आप बनते। तो कहीं भूल हो रही है। तुम कुछ व्यर्थ को सार्थक समझ बैठे हो। तुमने कूड़ा-करकट इकट्ठा कर लिया है और उसे तुम संपत्ति मान रहे हो। मानने से तो संपत्ति संपत्ति नहीं होती। होती हो तो ही होती है। तुम लाख मानो, तुम लाख चेष्टा करो कि रेत से हम निचोड़ लें तेल, नहीं निचोड़ पाओगे। रेत में तेल हो तो निचुड़ आता, रेत में तेल है नहीं।
तुम कहते हो, "मेरे पास सब है, लेकिन शांति नहीं।"
तो कुछ भी नहीं है। इस भ्रांति को छोड़ो। यह सब होने की भ्रांति तुम्हें अटका रखेगी। यह भ्रांति टूट जाए तो शांति की यात्रा शुरू हो सकती है। शांति की यात्रा में पहला कदम यही है कि अब तक जो भी कदम मैंने उठाये गलत दिशा में उठाये, अब इस दिशा में और कदम नहीं उठाने हैं।
तुम कहते, "पूंजी है।"
पूंजी की परिभाषा तुम्हें मालूम? पूंजी का अर्थ होता है, जो खोयी न जा सके। जो मिली सो मिली। जो सदा तुम्हारी हो। जो छिन जाए, उसे पूंजी कहते हो? जिसे चोर चुरा ले जाएं, उसे पूंजी कहते हो? जिसका आज मूल्य हो, कल निर्मूल्य हो जाए, उसे पूंजी कहते हो? पूंजी तो वही है जो शाश्वत मूल्य रखती है। पूंजी तो भीतर की होती है, बाहर की नहीं होती। पूंजी तो कुछ बात ऐसी है कि मौत भी उसे नहीं छीन पाती। अग्नि उसे जलाती नहीं, शस्त्र उसे छेदते नहीं। लपटों में तुम्हारा शरीर जल जाएगा, तुम्हारी पूंजी अछूती बची रहेगी। धन पूंजी नहीं है, ध्यान पूंजी है।
तुम कहते हो, "पद है।"
जानने वालों ने तो परमात्मा को ही पद कहा है, परमपद कहा है। और सब पद
तो धोखे हैं। जरा बड़ी कुर्सी पर बैठ गये, कहने लगे, पद है। छोटे बच्चों जैसी बातें हैं। छोटे बच्चे अक्सर खड़े हो जाते हैं बाप के पास, स्टूल पर खड़े हो जाते हैं, कुर्सी पर खड़े हो जाते हैं और कहते हैं, मैं आपसे बड़ा, मैं तुमसे बड़ा। कुर्सियों पर बैठकर कोई बड़ा होता है! कुर्सियां छिन जाने से कोई छोटा होता है! जो बड़प्पन, जो छोटापन कुर्सियों पर निर्भर हो, वह बड़प्पन नहीं, आत्मवंचना है। तुम सपने देख रहे हो। पूंजी तो एक है--आत्मा की। और पद एक है--परमात्मा का। और प्रतिष्ठा? उसी पूंजी में, उसी पद में ठहर जाओ तो प्रतिष्ठा है। प्रतिष्ठा शब्द बड़ा महत्वपूर्ण है। उसी में जड़ें जमा लो, कोई हिला न सके वहां से, कोई उपाय न हिला सके, कोई परिस्थिति न हिला सके, तो प्रतिष्ठा।
मैंने एक छोटी सी कहानी सुनी है।
दो हजार वर्ष पहले की बात। शत्रुओं ने यूनान के एक नगर पर विजय पायी
और निवासियों को नगर छोड़ने की आज्ञा दी। यद्यपि उनकी वीरता से वे प्रभावित थे, बहुत प्रभावित थे। और इसी कारण उन्होंने इतनी सुविधा दी कि वे अपने साथ जो भी और जितना भी ले जा सकें, ले जाएं। पूरा नगर अपना-अपना

सामान अपनी पीठ पर लादकर--और उसके लिए रोता हुआ जो नहीं लादा जा सका--दूसरे नगर की ओर चलने लगा। बोझ से सभी की कमर झुकी जा रही थी, पांव लड़खड़ा रहे थे, प्यास से सूखे कंठ थे, लेकिन प्रत्येक ने अपनी सामर्थ्य से अधिक बोझ लादा हुआ था।
स्वभावतः, तुम्हारे गांव पर शत्रुओं का हमला हो जाए और फिर शत्रु कहें कि जितना तुम अपनी पीठ पर लादकर ले जा सकते हो, बस उतना ले जाओ, तो क्या तुम ऐसा आदमी पा सकोगे जो अपने योग्य लादे? प्रत्येक अपने से ज्यादा लाद लेगा।
जिन्होंने कभी सामान नहीं ढोया था, वे भी भारी गट्ठर लादे हुए चल रहे थे। सोना था, चांदी थी, रुपये थे, आभूषण थे, हीरे-जवाहरात थे और हजार तरह की बहुमूल्य चीजें थीं। और रो भी रहे थे, क्योंकि बहुत कुछ छोड़ आना पड़ा था। अपना पूरा घर तो लाद नहीं सकते। बहुत कुछ छोड़ आना पड़ा था। जो छोड़ आए, उसके लिए रो रहे थे; और जो ले आए, उससे दबे जा रहे थे। दोनों में मौत थी। छोड़ आए उसके लिए दुख था, ले आए उससे दुखी हो रहे थे।
उस पूरे यात्री-दल में केवल एक ही पुरुष ऐसा था जिसके पास ले जाने को कोई सामान न था। वह खाली हाथ, सिर ऊपर उठाए, छाती सीधी ताने बड़ी शांति से चल रहा था। इतना ही नहीं, उस रोती भीड़ में वह अकेला आदमी था जो गीत गुनगुना रहा था। यह था दार्शनिक बायस।
एक स्त्री ने बड़े करुणापूर्ण स्वर में कहा, ओह! बेचारा कितना गरीब है। इसके पास ले जाने को भी कुछ नहीं?
क्योंकि भिखारी भी लादे हुए थे अपना-अपना गट्ठर। भिखारी भी इतना भिखारी थोड़े ही है कि कुछ भी लादने को न हो। कम होगा लादने को, बहुत कम होगा, लेकिन होगा तो। भिखारियों ने भी अपनी गड़ी संपत्ति खोद ली थी। वे भी उसे लादकर चल रहे थे। यह बायस अकेला आदमी था जिसके पास कुछ भी नहीं था, जो खाली हाथ था, जो मुक्तमना। जो पीछे लौटकर भी नहीं देख रहा था। पीछे कुछ था ही नहीं तो लौटकर क्या देखना। और जिस पर कोई बोझ भी न था।
एक स्त्री दया से बोली, आह, बेचारा कितना गरीब है! इसके पास ले जाने को कुछ भी नहीं? रहस्यवादी बायस बोला, अपने साथ अपनी सारी पूंजी ले चल रहा हूं। मुझ पर दया मत करो, दया योग्य तुम हो।
स्त्री चौंकी, उसने कहा, मुझे कोई पूंजी दिखायी नहीं पड़ती। कैसी पूंजी? किस पूंजी की बात कर रहे हो? होश में हो? कि निर्धन हो और पागल भी हो? बायस खिलखिलाकर हंसने लगा, उसने कहा, मेरा ध्यान मेरी पूंजी है, मेरा आचरण मेरी पूंजी है, मेरी आत्मा की पवित्रता मेरी पूंजी है। उसे शत्रु छीन नहीं सकते हैं। उसे कोई मुझसे अलग नहीं कर सकता। मैंने वही कमाया है जो मुझसे अलग न किया जा सके। तुमने वह कमाया है जो तुमसे कभी भी अलग किया जा सकता है। और जो अलग किया जा सकता है वह मौत के क्षण में यहीं पड़ रह जाएगा। जो अलग किया जा सकता है, उससे शांति नहीं मिलती, सुख नहीं मिलता। जो अलग नहीं किया जा सकता, वही अदृश्य शांति लाता है, सुख लाता है। यह अदृश्य पूंजी ही ऐसी पूंजी है जिसका कोई बोझ नहीं होता। शरीर की पूंजी बोझ देती है, आत्मा की पूंजी कोई बोझ नहीं देती।
तो तुम कहते हो, "मेरे पास सब है, लेकिन शांति नहीं।"
जिसको तुम सब कह रहे हो, इसके कारण ही अशांति है। शांति तो दूर, इसके कारण ही अशांति है। और जिसको तुम पूंजी कहते, पद कहते, प्रतिष्ठा कहते, इसी के कारण तुम दुखी हो। सुख तो बहुत दूर, सुख की तो बात ही छोड़ो, इससे तो दुख ही दुख पैदा हुआ है। कांटे ही कांटे पैदा हुए हैं। संताप और चिंताएं।
एक सम्राट ने एक रात अपने नगर का परिभ्रमण करते हुए एक भिखारी को-- पूरे चांद की रात थी--एक वृक्ष के नीचे आनंद से अपने भिक्षापात्र को बजाकर और गीत गाते देखा। वह बहुत चकित हुआ। इसके पास कुछ भी न था। किस बात का गीत! और सम्राट के पास सब था और गीत उसके ओंठों पर आते ही नहीं। कब के भूल गए हैं। नाच उसके पैरों में उठता ही नहीं, कब का विस्मरण हो गया है। हृदय सूख गया, रसधार बहती नहीं। इसके पास क्या है जिसके कारण यह गीत गुनगुना रहा है?

सम्राट ने घोड़ा रोक दिया; उसके गीत में कुछ जादू था। उस स्वरलहरी में कुछ मिठास थी जो इस पृथ्वी की नहीं। जो कहीं दूर से आती मालूम होती थी। उसमें एक मस्ती थी, उसके आसपास एक तरंग थी। वह रुक गया। थोड़ी देर को भूल ही गया अपना राजा होना, अपनी चिंताएं, अपनी परेशानियां।
जब गीत रुका तो चौंका। उसने उस भिखारी से पूछा, तेरे पास क्या है जिसके कारण तू गीत गुनगुना रहा है? क्या है तेरे पास जिसके कारण तू चिंतित नहीं है? क्या है तेरे पास जिसके कारण तू मस्त है इस चांद की रात में? क्या है तेरे पास जिसके कारण मैं तेरे प्रति ईर्ष्या से भर गया हूं? तूने मुझे जलन से भर दिया है। बड़े सम्राटों को देखकर भी मेरे भीतर कोई जलन नहीं पैदा होती, क्योंकि सब जो उनके पास है मेरे पास भी है, थोड़ा-बहुत कम-ज्यादा होगा, कुछ फर्क पड़ता नहीं। मगर तेरे पास क्या है कि मैं ठिठक गया हूं? मैं आगे न बढ़ सका।
वह भिखारी हंसने लगा। उसने कहा, दिखा सकूं, ऐसा मेरे पास कुछ भी नहीं है। लेकिन गा सकूं, ऐसा मेरे पास बहुत कुछ है। दिखा सकूं, ऐसा मेरे पास कुछ भी नहीं है। लेकिन गुनगुना सकूं, ऐसा मेरे पास बहुत कुछ है। मुझे देखो, पूछो मत। प्रश्न का उत्तर मैं न दे सकूंगा, मेरी आंखों में देखो। सम्राट उससे इतना प्रभावित था कि उसे महल में ले आया। उसे सुला दिया और कहा कि सुबह बात करेंगे।
सुबह जब उठे तो सम्राट ने शिष्टाचारवश उससे पूछा कि रात कैसी बीती? उसने कहा, कुछ आप जैसी, कुछ आपसे बेहतर। सम्राट थोड़ा हैरान हुआ, उसने कहा, मतलब मैं समझा नहीं। कुछ आप जैसी, कुछ आपसे बेहतर--क्या मतलब तुम्हारा? उसने कहा, जब सो गए, जब गहरी नींद में खो गए तो आप जैसी; कोई भेद न रहा। जब तक जागते रहे, हम प्रभु-स्मरण करते रहे, तुम चिंताओं में डूबे रहे होओगे। कुछ आप जैसी, कुछ आपसे बेहतर। नींद में जब पड़ गए गहरी, तो आप जैसी; और जब तक जागते रहे, तब हम प्रभु-स्मरण में डूबे रहे, तुम चिंताओं में डूबे रहे होओगे, व्यर्थ के ठीकरे गिनते रहे होओगे। इसलिए कहता हूं कि कुछ आप जैसी, कुछ आपसे बेहतर।
अगर तुम्हें पूंजी, पद और प्रतिष्ठा की सच में तलाश हो, तो ध्यान खोजो, प्रेम खोजो। प्रेम के सिक्के ही तुम्हारे जीवन को धन से भरेंगे, ध्यान के सिक्के ही तुम्हारे जीवन में सुरभि लाएंगे। और तब शांति अपने आप आती है। जैसे दीए के जलने पर प्रकाश हो जाता है, अंधेरा चला जाता है, ऐसे ध्यान के जलने पर अशांति का अंधेरा अपने से चला जाता है।
तुमने अब तक जो किया है, गलत ही किया है। अभी भी देर नहीं हो गयी है। कुछ किया जा सकता है। एक क्षण में भी क्रांति हो सकती है। मगर पहली बात, इन चीजों को अब तुम पूंजी कहना बंद करो। अगर तुम इनको पूंजी कहे चले गए तो इसी कहने के कारण इन्हीं में ग्रसित रहोगे। इसलिए मैं जोर देकर कह रहा हूं कि इसे अब पद मत कहो, प्रतिष्ठा मत कहो, पूंजी मत कहो; जिससे कुछ भी नहीं मिला, इसे अब तो पूंजी जैसे सुंदर शब्द देने बंद करो।
हम जो कहते हैं, उसका परिणाम होता है। हम जो शब्द देते हैं, उसके कारण हमारे जीवन में धाराएं पैदा होती हैं। अगर तुम इसे पूंजी कहोगे तो पकड़ोगे। तुम अगर कहने लगे, यह सब असार है, कूड़ा-करकट है, तो मुट्ठी खुलने लगेगी। शब्दों का बड़ा बल है। छोटे-छोटे शब्दों के भेद बड़े भेद ले आते हैं। तो मैं तुमसे प्रार्थना करता हूं, अब इसे तुम पूंजी मत कहो, पद मत कहो, प्रतिष्ठा मत कहो। तुम्हारे जीवनभर के अनुभव ने प्रमाणित कर दिया है कि यह पूंजी नहीं है, पद नहीं है, प्रतिष्ठा नहीं है। जिससे दुख ही मिला, चिंता ही मिली, अशांति ही मिली, जिससे विक्षिप्तता मिली, उसे ऐसे सुंदर नाम मत दो। परमात्मा को पूंजी कहो, परमात्मा को पद कहो, परमात्मा में प्रतिष्ठा खोजो।
मगर यह तभी संभव है जब तुम यहां खोज बंद कर दो। क्योंकि तुम खोजने वाले अकेले हो। अगर तुम संसार में ही खोजते चले गए, तो संसार का कोई अंत नहीं है। एक वासना से दूसरी वासना पैदा हो जाती है। एक वासना से दूसरी वासना का सिलसिला पैदा होता चला जाता है। यह अंतहीनशृंखला है। इसमें तुम जाकर कहीं भी कुछ न पाओगे। जितने भागोगे, उतने ही गहरे मरुस्थल में पहुंच

जाओगे। और जितने इसमें गए उतना ही लौटना पड़ेगा, याद रखना। और लौटना कष्टपूर्ण होगा। जाते तो उत्साह से हो, लौटने में बड़ा विषाद होगा। इसलिए जहां हो वहीं ठहर जाओ। और मैं तुमसे यह भी नहीं कहता कि संसार से भाग जाओ। इतना ही कहता हूं, जाग जाओ।
इस पूंजी में पूंजी नहीं है। तो घड़ी दो घड़ी असली पूंजी की तलाश में लगाओ। तेईस घंटा दे दो व्यर्थ को, एक घंटा तो सार्थक को दो। एक घंटा तो मरूद्यान में जीओ। तेईस घंटे भटकते रहो मरुस्थल में, मगर एक घंटा तो मरूद्यान में जीओ, एक घंटा तो डुबकी लगाओ भीतर।
इतना भी अगर हो जाए तो जल्दी ही तुम पाओगे वह एक घंटा जीत गया और तेईस घंटे हार गए। वह एक घंटा इतना बलशाली है, उसमें ऐसे स्वर फूटेंगे, ऐसी प्रकाश की किरणें उपलब्ध होंगी कि तुम अचानक पाओगे--छोटी-छोटी किरणों ने तुम्हारे जीवन को बदलना शुरू कर दिया, तुम सूरज की यात्रा पर निकल पड़े, तुम्हारे पंख लग गए, तुम उड़ने लगे किसी और यात्रा पर।
तुम पूछते हो, "मैं क्या करूं?"
मैं कहता हूं, ध्यान करो, प्रेम करो। दो शब्द याद रखो--भीतर ध्यान, बाहर प्रेम, बस सब हो जाएगा। जब अकेले रहो तो ध्यान में डूब जाओ, तब ऐसे अकेले हो जाओ कि भूल ही जाओ कि संसार है, आंख बंद हो जाएं, विचारों को छोड़ दो; चलते भी हों तो चलते रहें, लेकिन तुम उनसे पृथक हो जाओ, अलग हो जाओ, तुम अपना तादात्म्य छोड़ दो। चलते हों चलते रहें, जैसे रास्ते पर भीड़ चलती है। शोरगुल चलता है, चलने दो, लेकिन तुम अब उनके साथ अपने को जोड़ो मत। तुम धीरे- धीरे विलग होकर दूर खड़े हो जाओ। तुम अपने साक्षीभाव में जीओ। और जब कोई पास हो, तब प्रेम बहाओ। जब अकेले, तब ध्यान में डुबकी लगाओ; और जब कोई पास हो तो प्रेम बहाओ।
अगर तुमने ये दो बातें सम्हाल लीं तो मिलेगी पूंजी, निश्चित मिलेगी।
पद भी मिलेगा, प्रतिष्ठा भी मिलेगी, क्योंकि परमात्मा मिलेगा।

दूसरा प्रश्नः क्या बुद्ध के चार आर्य-सत्य वैज्ञानिक हैं?

निश्चित ही। इसमें रत्तीभर संदेह नहीं। बुद्ध की पकड़ बड़ी वैज्ञानिक है। वैज्ञानिकता को समझना हो तो इस तरह समझो--
मार्क्स को तो तुम वैज्ञानिक कहते हो न! मार्क्स को तो कम्युनिस्ट कहते हैं, दुनिया का सबसे बड़ा वैज्ञानिक। समाजशास्त्र के संबंध में सबसे प्रगाढ़ विश्लेषक, सबसे गहरी इसकी पैठ है। और फ्रायड को तो तुम वैज्ञानिक कहते हो न! सारी दुनिया कहती है कि मन के संबंध में ऐसी पहुंच, ऐसी पकड़ और किसी की कभी नहीं थी। लेकिन तुम जानकर यह हैरान होओगे कि दोनों ने बुद्ध के चार आर्य-सत्यों का प्रयोग किया है। बुद्ध के चार आर्य-सत्य दोहरा दूं, फिर इन दोनों से संबंध जुड़ना आसान हो जाएगा।
बुद्ध ने कहा, पहली बात तो यह जानना जरूरी है कि दुख है। क्योंकि बहुत लोग ऐसे हैं जिन्हें यही पता नहीं कि दुख है। मानकर बैठे हैं कि यही जीवन है। जब यही जीवन है, तो फिर दुख क्या मानना।
ऐसा समझो कि एक आदमी पैदा हुआ और पैदा होने के साथ ही उसके सिर में दर्द रहा है--तीस साल हो गए पैदा हुए उसे, सिर में दर्द पहले दिन से ही रहा है, चौबीस घंटे रहा है--उसे पता ही नहीं चलेगा कि सिर में दर्द है। और जब उसे पता ही न चलेगा कि सिर में दर्द है, तो वह चिकित्सा क्यों खोजेगा! चिकित्सक क्यों खोजेगा! औषधि क्यों खोजेगा!
तो पहली तो बात यह है कि किसी भी दुख से छुटकारे के लिए कि दुख है, इसकी बहुत प्रगाढ़ भावना होनी चाहिए। इसका बहुत स्पष्ट बोध होना चाहिए। मार्क्स ने कहा कि दुनियाभर में इतना दुख है, इतनी पीड़ा है, इतनी दरिद्रता है, इतना शोषण है, लेकिन लोगों को पता ही नहीं। गरीब मानकर चलता है कि गरीब होना ही मेरा भाग्य है। उसे इस बात का बोध नहीं है कि मैं दुखी हूं और यह मेरा भाग्य नहीं है, इसका इलाज हो सकता है।
तो मार्क्स ने बुद्ध के चार आर्य-सत्यों में पहला आर्य-सत्य--दुख है-- इसका प्रयोग सामाजिक तल पर किया। और उसने कहा कि दरिद्र को, दीन को,

सर्वहारा को बोध होना चाहिए कि मैं दुखी हूं। जिस दिन गरीब को यह पीड़ा साफ हो जाएगी कि मैं दुखी हूं और दुखी होना भाग्य नहीं हो सकता; स्वास्थ्य स्वभाव है, दुखी होना विकृति है, दुर्घटना है; तो जरूर कहीं कुछ गड़बड़ हो रही है, जो कि ठीक की जा सकती है। तो पहली बात कि दुख है, इसका स्पष्ट बोध हो।
ठीक यही बात फ्रायड ने कही मनोविज्ञान के संबंध में। बहुत लोग विक्षिप्त अवस्था में हैं, लेकिन मनोवैज्ञानिक के पास नहीं जाते, क्योंकि उन्हें स्मरण ही नहीं है कि वे दुखी हैं। बहुत लोग दुखी हैं, लेकिन कभी तलाश नहीं करते; उन्होंने मान ही लिया कि यही जीवन है, ऐसा ही जीवन है, और कैसा जीवन होता है! यही रोज की आपाधापी, यही उठना-बैठना, सो जाना, यही कलह, यही प्रेम, यही जीवन है। इससे अन्यथा जीवन हो सकता है, इसका सपना भी उनके भीतर नहीं उठा, तुलना भी पैदा नहीं हुई।
तो फ्रायड भी कहता है कि किसी व्यक्ति की मनोचिकित्सा तभी हो सकती है
जब उसे यह स्पष्ट हो जाए कि मेरे चित्त की जो दशा है, जैसी होनी चाहिए वैसी नहीं है; कुछ विकृत है, कुछ गड़बड़ हो गया है। तो ही तो चिकित्सा खोजी जाती है।
दोनों ने बुद्ध के पहले आर्य-सत्य का उपयोग किया है, चाहे उन्हें पता हो, चाहे उन्हें पता न हो।
दूसरा आर्य-सत्य है कि दुख का कारण है। दुख है, इतने से क्या होगा? अगर दुख अकारण हो तो फिर कुछ भी नहीं किया जा सकता, फिर हम अपंग हो गए, असहाय हो गए। कोई चीज अकारण होती हो तो फिर कुछ भी नहीं किया जा सकता; फिर क्या करोगे? लेकिन अगर कारण हो तो कारण बदला जा सकता है।
समझो कि तुम्हारे सिर में दर्द है, क्योंकि तुम कुछ भोजन लेते रहे हो
जो कि सिरदर्द पैदा करता है, तो उस भोजन को लेना बंद किया जा सकता है। तुम्हारे सिर में दर्द है, क्योंकि रात तुम बिना तकिए के सोते रहे हो, अगर इसका पता चल जाए तो तकिए के साथ सो सकते हो, सिर का दर्द मिट सकता है। तुम्हारे सिर में दर्द है, तो कारण खोजना होगा। कारण अगर न हो, तो फिर सिरदर्द नहीं मिटाया जा सकता, फिर कोई उपाय नहीं है। यह बड़ी वैज्ञानिक खोज है बुद्ध की कि दुख है, इतने से क्या होगा? दुख का कारण है।
और यही तो मार्क्स कहता है। मार्क्स कहता है, आदमी गरीब हैं, क्योंकि गरीबी का कारण है, शोषण चल रहा है। यही फ्रायड कहता है, कि लोग दुखी हैं, विक्षिप्त हैं, पागल हो रहे हैं, रुग्ण हैं, चित्त से स्वस्थ नहीं हैं, कारण है। कारण है चित्त की स्वाभाविकताओं का दमन, रिप्रेशन। कारण पकड़ में आ जाए तो बस, हम ठीक रास्ते पर चल पड़े। यह बुद्ध का दूसरा आर्य-सत्य है। इसकी वैज्ञानिकता बड़ी साफ है।
तुम जब चिकित्सक के पास जाते हो तो वह यही तो पूछता है, क्या तकलीफ है? पहले पूछता है, क्या दुख है? फिर जब दुख का पता चल जाता है तो वह फिर तुम्हारी जांच-परख करता है, निदान करता है। निदान यानी कारण, कि क्या कारण? अगर कारण ठीक-ठीक पकड़ में आ गया तो इलाज करीब-करीब हो ही गया, पचास प्रतिशत तो हो ही गया। इसलिए ठीक निदान पा लेना, इलाज आधे के करीब पूरा कर लेना है।
इसीलिए तो तुम जब किसी डाक्टर के पास जाते हो जो न दवा देगा, न इलाज करेगा खुद, लेकिन सिर्फ डायग्नोसिस करेगा, सिर्फ निदान करेगा, उसकी फीस सबसे ज्यादा होती है। दवा देने वाले की तो कोई फीस ही नहीं होती--कंपाउंडर दे देता है, कि केमिस्ट दे देता है, उसकी कोई फीस थोड़े ही होती है। एक दफा निदान हो गया कि यह रही बीमारी और ये रहे कारण, फिर तो बात सरल है। फिर तो अड़चन नहीं है। सबसे महत्वपूर्ण बात है निदान।
तो बुद्ध जब कहते हैं कि दुख है, दुख का कारण है, तो वह निदान कह रहे हैं। वे कह रहे हैं। पहले निदान कर लो। मार्क्स ने निदान किया कि समाज में इतनी दरिद्रता, दीनता, पीड़ा सदियों से रही है, क्योंकि शोषण है। अगर यह निदान गलत हो तो इलाज न हो सकेगा। दूसरों ने भी निदान किए थे, लेकिन गलत थे।

धार्मिक लोग कहते रहे हैं आदमी से कि आदमी गरीब है, क्योंकि पिछले जन्मों में पाप किया है। यह झूठा निदान है। यह निदान सच्चा नहीं है। इस निदान के कारण गरीब आदमी गरीब ही रहा। और इस निदान को मानने वाले गरीब ही रहेंगे, क्योंकि यह निदान ही झूठा है। इससे कुछ संबंध ही नहीं है जीवन के यथार्थ का।
आदमी गरीब है, क्योंकि उसे गरीब रखने का एक पूरा शड्यंत्र है। आदमी गरीब है, क्योंकि वह कमाए, इसके पहले उसके पास से खींच लिया जाता है। आदमी कुछ पैदा करे, इसके पहले ही उसकी जेब कट जाती है। और जेब कटने के इतने सूक्ष्म आयोजन हैं कि उसे पता भी नहीं चलता। और इतने सदियों से चल रहा है कि उसे होश भी नहीं आता कि यह चल रहा है। और जिनके हाथ में संपत्ति है, जिनके हाथ में बल है, स्वभावतः वे तो समझाएंगे कि हम क्या कर सकते हैं; पिछले जन्मों के पापों के कारण तुम दुख भोग रहे हो।
अब मजा समझना। पिछले जन्मों का अगर पाप कारण है, तो अब तो कुछ किया नहीं जा सकता, भोगना ही पड़ेगा। क्योंकि पिछले जन्म तो हो चुके, हो चुके सो हो चुके, अब उनको बदला नहीं जा सकता। अब तो इतना ही हो सकता है--आगे की सम्हाल लो। अगले जन्म को सम्हाल लो। तो अब कुछ ऐसी भूल-चूक मत करना कि अगले जन्म में गरीब हो जाओ।
न पीछे जन्म का कुछ पता है, न अगले जन्म का कुछ पता है। और जिनके पास धन है, स्वभावतः वे कहते हैं, हम पिछले जन्मों के पुण्यों का फल भोग रहे हैं। हालत उलटी है। जिनके पास धन है, वे इसी जन्म के पापों का फल भोग रहे हैं। और जिनके पास धन नहीं है, वे शायद इसी जन्म के पुण्यों का फल भोग रहे हैं। भले आदमी चूसे जा रहे हैं, बुरे आदमी छाती पर सवार हो जाते हैं। छाती पर बैठने के लिए बुरा आदमी होना जरूरी है, नहीं तो छाती पर बैठ ही न सकोगे।
तो राजा हैं, महाराजा हैं, धनपति हैं, शोषण का बड़ा जाल फैलाया है। और
उस जाल में जो सबसे बड़ा उपयोगी आदमी था, वह था पुरोहित, पंडित, पुजारी। क्योंकि उसने लोगों को जहर दिया। उसने लोगों को कहा कि क्या करोगे, तुम गरीब इसलिए हो कि तुमने पिछले जन्म में पाप किए, अब मत करना। अब तो शांत रहो, भले रहो, शुद्ध आचरण करो; और जो हो रहा है उसको झेलो। भाग्य है, अब कुछ किया नहीं जा सकता। इसको दंड मानकर स्वीकार करो।
यह अब तक का निदान था, यह झूठा निदान है। यह निदान वैसा ही झूठा है जैसे किसी आदमी का तो दिमाग खराब हो गया और तुम कहते हो, भूत लगा है; चलो किसी झाड़ की पूजा करो, किसी ओझा के चरण दबाओ। इसका दिमाग खराब हुआ है, तुम कहते हो, भूत लगा है, यह जैसा झूठा निदान है, ऐसा ही झूठा निदान यह कर्म का सिद्धांत था। इसने शोषण को खूब सहारा दिया।
मार्क्स ने ठीक-ठीक निदान पकड़ा। उसने पकड़ा--कारण यह नहीं है। कारण यह
है कि शोषण का एक जाल है। मगर इस पूरी प्रक्रिया में बुद्ध के चार आर्य-सत्यों का दूसरा हिस्सा काम में लाया जा रहा है।
फ्रायड ने भी कहा कि दुख का कारण है। दुख का कारण यह है कि तुम्हारे जीवन की जो नैसर्गिक इच्छाएं हैं, उनको दबाया गया है, उनको प्रगट नहीं होने दिया गया है, इसलिए आदमी विक्षिप्त है।
सौ पागलों में निन्यानबे इसलिए पागल होते हैं कि कामवासना दबायी गयी है, जबरदस्ती दबायी गयी है। जब कामवासना को जबरदस्ती दबा दिया जाता है, तो ऐसा ही समझो कि केतली का ढक्कन दबाए बैठे हो और नीचे आग जल रही है, और केतली के भीतर पानी उबल रहा है और उबल रहा है और भाप बन रही है और तुम ढक्कन दबाए बैठे हो, अगर विस्फोट न हो तो क्या हो! विस्फोट होगा।
कामवासना अग्नि है, उसे दबाना नहीं है, उसे समझना है। उसका उपयोग करना है। दबायी जाए तो विस्फोट होगा, विक्षिप्तता आएगी। न दबायी जाए, उपयोग कर लिया जाए, ठीक-ठीक दिशा में संलग्न कर दी जाए, सृजनात्मक उपयोग कर लिया जाए, तो संभोग की क्षमता ही समाधि बन जाती है।
तो या तो कामवासना तुम्हें विकृत कर देती है और पागल बना देती है, या कामवासना के ही घोड़े पर सवार हो जाओ अगर ठीक से, तो तुम परमात्मा के द्वार तक पहुंच जाते हो। कामवासना ठीक-ठीक समझ ली जाए तो ब्रह्मचर्य बन जाती है;

और समझी न जाए, जबरदस्ती दबायी जाए, तो व्यभिचार बन जाती है, मानसिक व्यभिचार बन जाती है। विकृति बन जाती है।
तो मार्क्स ने कहा, समाज में दुख है, क्योंकि शोषण है। फ्रायड ने कहा, मनुष्य विक्षिप्त होता है, पागल होता है, क्योंकि उसकी नैसर्गिकता को दबाया गया है, अवरुद्ध किया गया है। उसकी नैसर्गिकता को बहने का ठीक-ठीक सहज मौका नहीं दिया गया है। ये दोनों ही बुद्ध के आर्य-सत्य हैं।
फिर तीसरा बुद्ध का आर्य-सत्य है कि कारण से मुक्त होने का उपाय है, औषधि है। तो मार्क्स कहता है, उपाय है क्रांति। मार्क्स कहता है, उपाय है सर्वहारा का राज्य; सर्वहारा के हाथ में शक्ति। उपाय है, शोषण के यंत्र को तोड़ देना और एक वर्ग-विहीन समाज की स्थापना। और फ्रायड कहता है, उपाय है, मनोविश्लेषण; अपने दबाए हुए मनोवेगों में अंतर्दृष्टि, इनसाइट।
इसलिए मनोविश्लेषक और कुछ नहीं करता, सिर्फ तुम्हारी दबी हुई वासनाओं
को प्रगट करवाता है, तुम्हीं से बुलवाता है। धीरे-धीरे, धीरे-धीरे उनको अचेतन से खींचकर चेतन में लाता है, उनको अंधेरे में से पकड़कर प्रकाश में लाता है, उन्हें तुम्हारे सामने खड़ा कर देता है।
जिस दिन तुम्हें अंतर्दृष्टि मिल जाती है कि मैं किस कारण पागल हुआ
जा रहा हूं, जिस दिन तुम देख लेते अपने भीतर के सारे उपद्रव को जिसमें तुम्हें जबर्दस्ती संलग्न करवाया गया है, उसी दिन तुम पाते हो, औषधि मिल गयी। अब और नहीं दबाना है, यही औषधि है। दबाए हुए को सहज स्थिति में लाना है और आगे दमन नहीं करना है। यह तीसरा आर्य-सत्य है। औषधि, उपाय।
और चौथा आर्य-सत्य है कि जब निदान हो गया, उपाय हो गया, कारण मिटा दिए गए, तो अवस्था है चौथी--सुख की अवस्था। समाज की दृष्टि से मार्क्स कहता हैः साम्यवाद, जब समता हो जाएगी। और फ्रायड कहता हैः मनो-स्वास्थ्य, जब मन संतुलित होगा, स्वस्थ होगा, ऊर्जावान होगा।
ये बुद्ध के ही चार आर्य-सत्यों का उपयोग है। बुद्ध ने बड़ा विराट उपयोग किया, मार्क्स और फ्रायड का उपयोग बहुत संकीर्ण है। बुद्ध ने अस्तित्व के लिए प्रयोग किया। मार्क्स ने समाज के लिए, अर्थ-व्यवस्था के लिए। और फ्रायड ने मन के लिए, मनो-व्यवस्था के लिए।
बुद्ध ने तो जो निवेदन किया है वह सारे अस्तित्व के लिए--दुख है, आदमी दुखी है, इससे बड़ा सत्य क्या होगा? सुखी आदमी मिलता कहां है? जो मुस्कुराते मिलते हैं, वे भी सुखी कहां हैं? अक्सर तो ऐसा होता है कि दुखी आदमी मुस्कुराहटें थोपे रहते हैं अपने चेहरों पर, यह दुख से अपने को छिपाए रखने का उपाय है।
सब मुस्कुराहटें झूठी हैं। हर मुस्कुराहट के पीछे आंसू छिपे हैं। खोखले हैं आदमी के सुख, भीतर दुख का अंबार लगा है। थोथे हैं आदमी के सुख, मुखौटे हैं, ऊपर से ओढ़ लिए चेहरे हैं, भीतर का असली चेहरा कुछ और ही है। लेकिन हम सब एक-दूसरे को धोखा देने में सफल हो जाते हैं। दूसरे तुम्हारा चेहरा देखते हैं, तुम्हें तो देख नहीं पाते, इसलिए हर आदमी के भीतर एक अड़चन पैदा हो जाती है। वह अड़चन यह होती है कि सब सुखी मालूम होते हैं, मैं ही दुखी हूं। वह देखता है कि फलां मुस्कुरा रहे हैं, ढिकां मुस्कुरा रहे हैं, देखो फलां पति-पत्नी कैसे मजे से चले जा रहे हैं!
कभी इनके दर्शन इनके घर में किए हैं? अभी ये सज-संवरकर बाहर निकल आए हैं और बड़े प्रसन्न चले जा रहे हैं। सजने-संवरने के पहले घर में इनकी हालत देखी है? तुम्हें अपने ही घर की हालत पता है। मगर तुमने यह देखा कि तुम भी जब बाहर जाते हो तब तुम भी सज-संवर जाते हो। और तब तुम भी ऐसे दिखलाते हो कि सब सुख ही सुख है। तब तुम भी ऐसे ही दिखलाते हो; जैसा कि होता नहीं, सिर्फ कहानियों में पाया जाता है, कि सब सुख ही सुख है, बड़े आनंद में हैं। ऐसा ही ये भी दिखला रहे हैं।
एक सूफी कहानी है कि एक आदमी बहुत-बहुत दुखी था और वह परमात्मा से रोज प्रार्थना करता है कि हे प्रभु, आखिर मैंने तेरा क्या बिगाड़ा है? इतना दुख तूने मुझे दिया! सारी दुनिया सुखी मालूम होती है एक मुझ ही को छोड़कर। अगर कभी कोई दुखी भी मिलता है तो इतना दुखी नहीं जितना मैं दुखी हूं। आखिर मैंने तेरे साथ क्या कसूर किया?

एक रात उसने सपना देखा। सपने में देखा कि आकाश से परमात्मा बोला कि उठ, आज तेरी बदलाहट किए देते हैं। तू कहता है, सब तेरे से ज्यादा सुखी हैं, तू ही सबसे ज्यादा दुखी है? उसने कहा, हां प्रभु, यही तो कह रहा हूं, जिंदगीभर से यही कह रहा हूं; अब सुनवायी हुई! परमात्मा ने कहा, चल, उठ जा! एक बड़े भवन की तरफ सारा नगर जा रहा है, सब लोग अपने-अपने कंधे पर गठरियां लिए हुए हैं। क्योंकि सबको कहा गया है कि अपने-अपने दुख, अपने-अपने सुख अपनी-अपनी गठरी में बांधकर ले आओ। यह भी अपने सुख-दुख जल्दी से बांधकर पहुंच गया कि आज बदलने का मौका है।
मंदिर में पहुंचकर सारे लोगों की भीड़ लगी है अपनी-अपनी गठरी लिए हुए। आज्ञा हुई कि सब खूंटियों पर अपनी गठरियां टांग दो। गठरियां टांग दी गयीं। फिर आज्ञा हुई कि अब जिसको भी जिसकी गठरी चुननी हो, वह चुन ले।
बड़ी भाग-दौड़ मच गयी, यह आदमी भी भागा; लेकिन चकित होंगे यह जानकर आप कि सभी ने अपनी-अपनी गठरियां वापस चुन लीं--इस आदमी ने भी--और बड़ी खिलखिलाहट हुई आकाश में और परमात्मा ने कहा, क्यों? तो उसने कहा कि जब गठरियां देखीं तो दूसरों की इतनी बड़ी हैं, अपनी ही छोटी मालूम पड़ी! फिर, अपने दुख कम से कम परिचित तो हैं, अब दूसरे के अपरिचित दुख इस बुढ़ापे में और कौन ले! अपने दुख जाने-माने तो हैं। दूसरों के दुख कभी देखे नहीं थे, अब गठरियों में लदे देखे तो पता चला कि काफी हैं। जिनके चेहरे पर मुस्कानें थीं, वे भी बड़े-बड़े गट्ठर लिए आ रहे हैं। तो अपनी ही ठीक है। बुरा-भला जैसा भी है, कम से कम अपना तो है, जिंदगीभर से साथ रहने की आदत तो है, अनुभव तो है, निपट लेंगे। अब नए दुख और बुढ़ापे में कौन ले! पता नहीं कौन सी झंझटें आएं, जिनके साथ निपटना भी सुगम न हो, अभ्यास न हो तो कठिनाई हो जाए।
और वह देखकर यह हैरान हुआ कि उसने ही अपनी चुनी हो ऐसा नहीं, प्रत्येक
ने झपटकर अपनी-अपनी चुन ली। किसी ने भी दूसरे की गठरी नहीं चुनी है।
हम देखते हैं दूसरों की मुस्कुराहटें और देखते हैं अपने दुख, इससे बड़ी एक भ्रांत स्थिति पैदा होती है; लगता है, सारा जगत मजे में है, एक हमको छोड़कर।
बुद्ध ने कहा, दुख है, सारा जगत दुखी है। तुम्हीं नहीं, सारा अस्तित्व दुख से ग्रस्त है। संसार में होना ही दुख है। जो दुखी नहीं है, वह संसार में होते ही नहीं। जैसे ही दुख समाप्त हो जाता है, बस उनकी संसार से यात्रा समाप्त हो गयी। यह उनका आखिरी पड़ाव है, फिर वह दुबारा न लौटेंगे। सुखी लौटते नहीं। एक दफा जो परमसुख को उपलब्ध हो गया, गया सो गया।
बुद्ध ने तो कहा, ऐसा चला जाता है जैसे दीए को फूंक देते हैं न और उसकी
लौ विलुप्त हो जाती है, बस ऐसा विलुप्त हो जाता है। जिसको सुख मिल गया, वह गया सो गया, फिर वह लौटता नहीं। निर्वाण उसका हो जाता है। निर्वाण का अर्थ है, दीया जैसे बुझ जाता, ऐसे वह विलुप्त हो जाता है, फिर कहीं खोजे से न मिलेगा! उसका अहंकार, उसकी अस्मिता, उसके पैदा होने के जो मौलिक कारण हैं, वे सब समाप्त हो जाते हैं। फिर वह दुबारा नहीं लौटता। तो यहां तो जो भी लौटे हैं, दुखी ही हैं। दुखी हैं, इसीलिए लौटे हैं। लौटे हैं, इसलिए पक्का है कि दुखी हैं, चेहरे कुछ भी कहें, मत फिकर करना। यहां दुखी ही लौटता है। तो बुद्ध ने कहा, दुख है। अस्तित्व दुख से ग्रस्त है। समाज और मन तो छोटी-छोटी बातें हैं, ये तो संकीर्ण उपयोग हैं, बुद्ध ने पूरे अस्तित्व को कहा कि दुख है। फिर इस दुख के कारण हैं। इस दुख का कारण बुद्ध ने कहाः तृष्णा, वासना, और की दौड़--और मिल जाए, और मिल जाए, और ज्यादा पा लूं। इस कारण लोग दुखी हैं। जितनी और की दौड़, उतने ही ज्यादा दुखी। यह कारण है, तृष्णा कारण है।
और उपाय--तृष्णा से मुक्ति। तृष्णा का छोड़ देना। तृष्णा को समझ लेना
और तृष्णा को विसर्जित कर देना। देख लेना वासना को और फिर वासना से छूट जाना, अर्थात ध्यान। वृत्ति उठे, वासना उठे, विचार उठे और तुम अडिग अपने भीतर बने रहो, जरा भी डांवाडोल न हो। तुम कहो कि उठते रहो अंधड़, उठते रहो तूफान, मेरे केंद्र से तुम मुझे च्युत न कर सकोगे। धीरे-धीरे यह अंधड़ और तूफान फिर नहीं उठते। फिर तुम्हें कोई नहीं पुकारता, फिर तुम अपने भीतर

ठहर जाते, प्रतिष्ठा हो जाती--स्व-प्रतिष्ठा हो जाती, स्व-स्थित हो जाते, स्वास्थ्य को उपलब्ध हो जाते।
और चौथी स्थिति--निर्वाण। जहां महासुख है। तुम तो नहीं बचोगे, सुख ही सुख बचेगा। तुम तो जब तक बचोगे तब तक थोड़ा दुख बचेगा। अहंकार का भाव ही दुख की गांठ है। कैंसर की गांठ समझो। तुम तो न बचोगे, सुख का सागर बचेगा। उस सुख के सागर को चौथी दशा कहा।
पूछते हो तुम, "क्या बुद्ध के चार आर्य-सत्य वैज्ञानिक हैं?"
मैंने इससे बड़ी कोई और वैज्ञानिक बात देखी नहीं। बुद्ध ने ठीक मनुष्य
के अंतस्तल के संबंध में वही किया जो चिकित्सक मनुष्य की बीमारी के संबंध में करता है। जो मार्क्स ने समाज के लिए किया, फ्रायड ने मन के लिए किया, बुद्ध ने समस्त जीवन के लिए, समस्त अस्तित्व के लिए किया है।
एक किसान ने एक बार भगवान बुद्ध से शिकायत की कि मैं खेत में श्रम करता, हल चलाता, बीज बोता हूं और तब मुझे खाने को मिल पाता है। क्या यह बेहतर न होता कि आप भी बीज बोते, हल चलाते और तब खाते? बड़ी अनूठी बात किसान ने पूछी बुद्ध से। बुद्ध ने कहा, ओ ब्राह्मण, मैं भी हल चलाता हूं, बीज बोता हूं, फसल काटता हूं, तभी खाता हूं! किसान ने हैरान होकर कहा, अगर तुम किसान हो तो तुम्हारे खेती के उपकरण कहां हैं? कहां हैं तुम्हारे बैल? बीज कहां हैं? कहां हैं हल? बुद्ध ने कहा, विश्वास मेरा बीज है जिसे मैं बोता हूं। भक्ति है वर्षा जो उसे अंकुरित करती है। विनय है मेरा बक्खर। मन है बैलों को बांधने की रस्सी, और स्मृति है मेरा हल और हंकनी। सत्य है बांधने का साधन; कोमलता खोलने का साधन। शक्ति हैं बैल मेरे। इस तरह मैं हल चलाकर भ्रम की कांस उखाड़ देता हूं। और जो फसल काटता हूं, वह है निर्वाण की। इस तरह दुख विनष्ट होता है, निर्वाण प्रगट होता है; हे ब्राह्मण, तू भी ऐसा ही कर।
मनुष्य को बुद्ध ने बड़ा वैज्ञानिक विचार दिया है। उसे तुम समझो तो दुख से मुक्त हो सकते हो।

तीसरा प्रश्नः क्या शास्त्रों से वस्तुतः ही कोई लाभ नहीं है?

सुना तो नहीं कभी कि लाभ हुआ हो। लेकिन इस पर निर्भर करेगा कि लाभ से तुम्हारा अर्थ क्या है। कौन सा लाभ?
अगर तुम सत्य को पाना चाहते हो तो शास्त्र से नहीं मिलता, स्वयं से मिलता है। अगर तुम सिद्धांत जुटाना चाहते हो, निश्चित शास्त्र से मिल जाते हैं, स्वयं से कभी नहीं मिलते। अगर तुम पंडित होना चाहते हो तो शास्त्र के द्वारा ही हो सकते हो। अगर वही लाभ है, तो जरूर लाभ होता है शास्त्र से।
लेकिन पंडित होना कोई लाभ है? उधार, बासे विचारों को इकट्ठा कर लेना कोई लाभ है? दूसरों ने जाना और तुमने सिर्फ सुनकर इकट्ठा कर लिया, वह भी कोई लाभ है? यह तो धोखा है।
बुद्ध कहते थे, एक आदमी अपने घर के सामने बैठा रोज सुबह गांव से बाहर जाती गौओं, भैसों की गिनती करता था। और रोज शाम फिर जब वे लौटतीं, तब फिर गिनती करता था। और धीरे-धीरे गिनती करते-करते उसे ऐसा लगने लगा कि वह उसकी ही गाएं हैं। पांच सौ गाएं जातीं, पांच सौ आतीं।
उसकी पत्नी ने उसे कहा कि तुम पागल हो गए हो? दूसरों की गाएं गिनते हो बैठे-बैठे कि इतनी गयीं, इतनी आयीं, बड़ा हिसाब लगाते हो--वह बैठा कागज पर हिसाब लगाता रहता, कि अभी एक गाय नहीं लौटी, कि अभी दस गाएं नहीं लौटीं, कि आज क्या बात हो गयी--उसकी पत्नी ने कहा कि एक अपनी गाय हो वह भी काफी है, पांच सौ दूसरों की अपने किस काम की! जाएं कि आएं, तुम बैठे-बैठे समय क्यों खराब करते हो?
बुद्ध कहते थे, ऐसा ही आदमी वह है जो दूसरों के वचनों का हिसाब लगाता रहता है। वेद में क्या लिखा, कुरान में क्या लिखा, उसका हिसाब लगाता रहता है। इसकी फिकर ही नहीं करता कि एकाध गाय अपनी हो कि जिसका दूध पीएं, कि एकाध गाय अपनी हो कि पुष्टि दे।

बुद्ध ने बहुत अच्छे वचन कहे, लेकिन क्या काम पड़ेंगे? एकाध किरण बुद्धत्व की अपने में हो--एकाध गाय अपनी हो। मोहम्मद ने अदभुत वचन कहे, लेकिन क्या करोगे? याद कर लोगे, कंठस्थ कर लोगे, तोतों की तरह दोहराने लगोगे। अब तो तोते भी बिगड़ गए हैं।
कल मैं एक कहानी पढ़ रहा था।
एक आदमी ने एक पिंजड़ा टांग रखा था और उसमें तीन तोते थे। एक ऊंचे पद पर बैठा था, दो उसके आसपास बैठे थे। किसी पड़ोसी ने पूछा कि भई, बात क्या है? तीन तोते! तो उन्होंने कहा, दो सेक्रेटरी हैं। ये बताते हैं कि क्या बोलना। यह जो ऊपर बैठा है, यह समझो प्रधानमंत्री या राष्ट्रपति। ये दो तोते याद करते हैं और जब बोलना होता है तो इसको बता देते हैं, तब यह बोल देता है।
एक तो तोतापन ही उधार, फिर उसमें भी सेक्रेटरी! एक तो बुद्ध के वचन उधार और फिर उसमें भी यह बीच में पंडितों की बड़ी कतार! वे तुम्हें बताते हैं कि वेद का क्या अर्थ है। जिन्हें स्वयं पता नहीं कि वेद का क्या अर्थ, वे तुम्हें बताते हैं वेद का क्या अर्थ। फिर उनकी भी कोई एक-दो नहीं, बड़ीशृंखला है, जंगल का जंगल है, उसमें तुम भटक जाओगे। यह उधार ज्ञान काम नहीं आता, अपना हो तो ही काम आता है।
अब तुम पूछते हो कि क्या लाभ?
मेरे देखे तो इतना ही लाभ हो सकता है--अगर तुम्हें अंधा होना हो तो शास्त्र, अगर तुम्हें बहरा होना हो तो शास्त्र, लूला-लंगड़ा होना हो तो शास्त्र, अपाहिज-अपंग होना हो तो शास्त्र। इस तरह के लाभ हैं।
खलील जिब्रान की एक छोटी सी कहानी--
मैंने सुन रखा था कि कहीं एक ऐसी नगरी भी है जिसके वासी ईश्वरीय पुस्तकों के आधार पर अपना जीवन व्यतीत करते हैं। मैं उस नगर में पहुंचा। मुझे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि उस नगर के समस्त वासियों के केवल एक-एक हाथ और एक-एक आंख है और एक-एक पैर है। बड़ी दुर्दशा थी। यह दुर्दशा किसने की?
मैंने आश्चर्य से भरकर उनसे पूछा, आपकी यह दशा क्यों कर हुई? आप सबके कोई भी पूरे अंग नहीं हैं। आपकी आंखों का क्या हुआ? एक-एक आंख कहां गयी? आपके हाथों का क्या हुआ? आपके पैर किसने काट डाले?
वे सब मुझे दो आंखों वाला देखकर आश्चर्य-चकित थे, जैसा मैं उन्हें देखकर आश्चर्य-चकित था। फिर भी उन्होंने मुझे अपने साथ आने का संकेत दिया। उनमें से अनेक की तो जबानें भी कटी थीं, वे बोल भी नहीं सकते थे। उनके साथ मैं एक मंदिर में गया। उस मंदिर के आंगन में हाथों, पांवों, आंखों और जीभों का एक विशाल ढेर लगा था। मैं दुखी हुआ और मैंने पूछा, किस निर्दय ने, किस हत्यारे ने आपके साथ यह दुर्व्यवहार किया है? इस पर वे आपस में कुछ बड़बड़ाए और एक वृद्ध ने आगे बढ़कर कहा, यह हमारा अपना कार्य है; यह हमारी साधना है, यह हमारे शास्त्र का आदेश है। हमने अपने अवगुणों पर विजय पायी है। यह कहकर वह मुझे एक चबूतरे पर ले गया।
वहां एक शिलालेख था जिसमें लिखा था--यदि तुम्हारी दाहिनी आंख तुम्हें ठोकर खिलाए तो उसे बाहर निकालकर फेंक दो। क्योंकि सारे शरीर को नर्क में पड़ने की अपेक्षा एक अंग का नष्ट हो जाना बेहतर है। और यदि तुम्हारा दाहिना हाथ तुम्हें बुराई पर उकसाए तो उसे काटकर फेंक दो, ताकि तुम्हारा केवल एक अंग नष्ट हो और पूरा शरीर नर्क में न पड़े। और यदि तुम्हारी वाणी अशुभ बोले तो जीभ को काट दो, ताकि जीभ ही दुख पाए और तुम दुख न पाओ।
यह लेख पढ़कर सब वृत्तांत मुझ पर खुल गया। मैंने पूछा, क्या तुममें कोई
भी ऐसा नहीं है जिसके दो हाथ और दो आंखें हों? जिसकी जबान साबित हो? जिसके पैर कटे न हों?
उन सबने उत्तर दिया--नहीं, कोई नहीं, सिवाय उन छोटे बच्चों के अतिरिक्त जो अल्पायु होने के कारण शिलालेख को पढ़ने में अभी असमर्थ हैं। जब हम मंदिर के बाहर आए तो मैं तुरंत उस पवित्र नगरी से निकल भागा, क्योंकि मैं अल्पायु न था और इस शिलालेख को भलीभांति पढ़ सकता था।

खलील जिब्रान की यह कहानी अर्थपूर्ण है। तुम्हारे शास्त्रों ने तुम्हें सिर्फ अपंग किया है। तुम्हारी जबानें काट डाली हैं। चाहे भौतिक जबानें न भी काटी हों, लेकिन तुम्हें बोलने में नपुंसक कर दिया है। तुम सत्य कहने में असमर्थ हो गए हो। तुम्हें पता भी चलता है कि यह सत्य है तो भी तुम नहीं कह पाते, क्योंकि शास्त्र विपरीत पड़ते हैं। तुम्हारी आंखों को धुंधला कर दिया है, चश्मे चढ़ा दिए हैं, धूल चढ़ा दी है। तुम वही नहीं देखते, जो है। तुम वही देखते हो जो तुम्हारे शास्त्र कहते हैं। तुमने अपनी चेतना खो दी है। तुम अंधों की भांति शास्त्र की लकड़ी को पकड़कर चल रहे हो। और शास्त्र खुद मुर्दा हैं, इसलिए तुम्हें चला तो नहीं सकते। शास्त्र दूसरे मुर्दों के हाथ में हैं, जिनको तुम पंडित कहते हो। ऐसे मुर्दे मुर्दों को ढकेल रहे हैं और अंधे अंधों को चला रहे हैं
लाभ की तुम पूछते हो। तुम पर निर्भर है। लाभ से तुम्हारा क्या मतलब? अंधा होना है? तो शास्त्र बड़े उपयोगी हैं, उनसे बड़ा लाभ होता है। अपंग होना है? तो जरूर उपयोगी हैं। लेकिन अगर स्वस्थ होना हो, तो शास्त्र से सहायता नहीं मिलती।
क्या मैं यह कह रहा हूं कि शास्त्र का कोई भी उपयोग नहीं है? नहीं, शास्त्र का एक उपयोग है; लेकिन वह तो स्वयं सत्य को जान लेने के बाद है। तुमसे मैं एक अजीब सी बात कहना चाहता हूं--शास्त्र पढ़ना जरूर, जब तुम थोड़े ध्यान को उपलब्ध हो जाओ, तब पढ़ना। फिर शास्त्र तुम्हें नुकसान न पहुंचाएंगे। फिर शास्त्र तुम्हें साथ देंगे, शास्त्र तुम्हारे साक्षी बन जाएंगे।
अभी तो तुम गीता पढ़ोगे, तो गीता पढ़ोगे कैसे? तुम गीता में से अपने अर्थ निकालोगे। वे अर्थ सब गलत होंगे। तुम एक बार अपने भीतर के गीत को सुनो, तुम्हारे भीतर प्रभु का गीत पहले जन्म ले, तुम्हारे भीतर कृष्ण पहले बोलें, फिर तुम गीता पढ़ना। तब तुम जानोगे कि सच कहा है, ठीक कहा है, वही कहा है जो तुमने भीतर सुना है। लेकिन तुम पहले सुनना, फिर गीता तुम्हारी साक्षी हो जाएगी।
और फिर एक अपूर्व घटना घटती है--गीता ही साक्षी नहीं होगी, कुरान भी तुम्हारा साक्षी होगा और बाइबिल भी तुम्हारी साक्षी होगी। जिसने ध्यान से जीवन के सत्य को समझा है, उसके लिए सभी शास्त्र गवाही हो जाते हैं, एक साथ गवाही हो जाते हैं, उनमें फिर कोई विरोध नहीं होता। फिर हिंदू का कि मुसलमान का, ईसाई का कुछ अंतर नहीं होता।
लेकिन अगर तुमने भीतर का सत्य नहीं सुना, नहीं देखा, अपनी भीतर की किताब नहीं पढ़ी, असली किताब नहीं पढ़ी, उसके पन्ने बिना उलटे पड़े हैं और तुम पढ़ लिए गीता, तो हिंदू बन जाओगे, धार्मिक नहीं; पढ़ लिए कुरान तो मुसलमान बन जाओगे, धार्मिक नहीं। और धार्मिक होना बड़ी और बात है, मुसलमान होना बड़ी और बात है। मुसलमानों से छुटकारा चाहिए, हिंदुओं से छुटकारा चाहिए, जैनों और बौद्धों से छुटकारा चाहिए। दुनिया में ईसाई और पारसी न हों तो दुनिया बेहतर होगी। दुनिया में धार्मिक आदमी चाहिए।
धार्मिक आदमी बड़ी और ही बात है। धार्मिक आदमी का मन संकीर्ण नहीं होता, सांप्रदायिक नहीं होता। जिसने सत्य को जाना वह सांप्रदायिक होना भी चाहे तो कैसे होगा? सत्य इतना विराट है कि सत्य में सब समाहित है। सत्य इतना बड़ा है कि विरोधाभास भी वहां लीन हो जाते हैं और संगम बन जाता है। वहां कुरान और गीता में फिर कोई विरोध नहीं रह जाता, सिर्फ भाषा का भेद रह जाता है, अभिव्यक्ति के अंतर रह जाते हैं।
कृष्ण का अपना कहने का ढंग है, अपनी शैली है; मोहम्मद का अपना ढंग है, अपनी शैली है--और दोनों शैलियां प्यारी हैं और अनूठी। बस शैली का भेद है, भाषा का भेद है। कृष्ण संस्कृत में बोले हैं, मोहम्मद अरबी में बोले हैं, बस इतना ही भेद है। तो स्वभावतः कृष्ण ईश्वर की बात करते हैं और मोहम्मद अल्लाह की, मगर जिसकी वे बात करते हैं वह एक ही।
अब आम को आम कहो कि मैंगो, क्या फर्क पड़ता है? आम आम है। लेकिन जिसने
आम का स्वाद न लिया हो, उसे फर्क पड़ सकता है। जिसने आम न देखा हो, उसे फर्क पड़ सकता है। वह कहेगा, एक आदमी आम चाहता है, दूसरा आदमी मैंगो चाहता है। ये

दोनों में बड़ा विरोध है। झगड़ा भी हो सकता है। लेकिन जिसने आम का स्वाद लिया है, वह कहेगा, ये दोनों एक ही बात चाहते हैं, एक ही चीज चाहते हैं; ये एक ही तरफ इशारा कर रहे हैं, इनके शब्द अलग-अलग हैं।
जब मैं चांद की तरफ अंगुली उठाता हूं तो मेरी अंगुली अलग होती है। जब तुम चांद की तरफ अंगुली उठाते हो, तुम्हारी अंगुली अलग होती है। हो सकता है मेरी अंगुली काली है, तुम्हारी गोरी है; हो सकता है मेरी अंगुली कुरूप है, तुम्हारी अंगुली सुंदर है; हो सकता है मेरी अंगुली नंगी है, तुम्हारी अंगुली पर हीरे-जवाहरातों का आभूषण है; लेकिन जिस चांद की तरफ हम इशारा करते हैं, वह चांद तो एक ही है। मगर जिसने चांद न देखा हो, वह अंगुलियों के हिसाब में पड़ जाएगा।
शास्त्र पढ़ने में यही खतरा है। तुम अंगुलियों का हिसाब करने लगोगे। पहले चांद देख लो। फिर सभी शास्त्र उसी का गीत गा रहे हैं, उसी की गुनगुनाहट कर रहे हैं। मगर अपना गीत पहले सुनो। भीतर की किताब पहले खोलो। भीतर की किताब की परिपूरक न बन जाए बाहर की किताब।
इसलिए मैं बार-बार दोहराता हूं कि शास्त्रों में सार नहीं है। ऐसा न
हो कि तुम बाहर की किताब ही खोले बैठे रहो और समझो कि भीतर की किताब खोल ली। यह खतरा है। इतना भर स्मरण रहे और भीतर की किताब पर दृष्टि रहे, फिर कोई खतरा नहीं है। भीतर के पन्ने पढ़ते जाओ, जितने पन्ने भीतर के पढ़ लो, उतने पन्ने तुम गीता, कुरान, बाइबिल के पढ़ लेना। पढ़ना हो तो पढ़ लेना, न पढ़ना हो तो न पढ़ना, कोई अर्थ भी नहीं है, न पढ़ा तो भी चलेगा। जब भीतर का ही पढ़ लिया तो अब प्रयोजन भी क्या है?
लेकिन अगर पढ़ना हो तो पढ़ लेना; तो भी चलेगा। तो आनंदित होओगे कि तुमने
जो जाना, वही तो कृष्ण ने जाना, वही क्राइस्ट ने जाना, वही जरथुस्त्र ने जाना। ये सब तुम्हारे गवाह हो जाएंगे।

चौथा प्रश्नः मैं सदा से चाहता हूं कि कोई प्रश्न पूछूं, लेकिन कोई प्रश्न बनता ही नहीं है। और जो बनते हैं, वे पूछने जैसे नहीं मालूम होते हैं। अब मैं क्या करूं?

तो पूछने की खुजलाहट छोड़ो। यह खुजली है। पूछना ही क्या! अब बात साफ ही
है कि जो तुम पूछना चाहते हो, वह बन नहीं पाता। नहीं बनेगा। कभी नहीं बना है। तुम अपवाद नहीं हो सकते। पूछने योग्य प्रश्न पूछा ही नहीं गया है। पूछने योग्य प्रश्न पूछा ही नहीं जा सकता, क्योंकि वह प्रश्न इतना बड़ा है। वह प्रश्न इतना बड़ा है कि तुम उसे शब्दों में न समा पाओगे। उसे तो तुम्हें मौन आंखों से ही निवेदन करना होगा। उसे तो तुम्हें अपने शून्य से ही अभिव्यक्ति देनी होगी।
हां, शायद कभी आंसुओं में प्रगट हो जाए, या तुम्हारे नाच में, या तुम्हारी चुप्पी में, लेकिन बोलकर तो तुम उसे न कह पाओगे।
जो तुम पूछ सकते हो, सदा पाओगे पूछकर कि अरे, यह कुछ और पूछ लिया। जो पूछना था वह तो छूट ही गया। वह समाता ही नहीं है। व्यर्थ ही शब्दों में समाता है, सार्थक समाता नहीं।
लेकिन तुम अड़चन में मत पड़ो, यही अड़चन मेरी भी है। जो तुम पूछना चाहते हो, पूछा नहीं जा सकता; और जो मैं कहना चाहता हूं, कहा नहीं जा सकता--जो मुझे उत्तर देना है, वह भी नहीं कहा जा सकता। न तो असली प्रश्न पूछा जा सकता है, न असली उत्तर दिया जा सकता है। इसलिए तुम यह मत सोचो कि तुम्हीं अड़चन में हो। वैसी ही अड़चन मेरी है। वैसी ही अड़चन सदा से रही है। कि जो नहीं पूछा जा सकता, स्वभावतः उसका उत्तर भी नहीं दिया जा सकता। शून्य में ही तुम्हें उसे समझना होगा। शून्य में ही निवेदन करना होगा। और शून्य में ही पीना होगा उत्तर। चुप्पी में ही घटना घटेगी। चुपके-चुपके घटना घटेगी। शब्द बाधा बन जाते हैं।
तुम कहते हो, "मैं सदा से चाहता हूं कि कोई प्रश्न पूछूं, लेकिन कोई प्रश्न बनता ही नहीं।"

नहीं बनेगा। जितने होशपूर्वक सोचोगे, उतना ही मुश्किल होता जाएगा बनना। और जो बनेंगे, वह तुम पाओगे, ये तो पूछने नहीं थे। यह तो न पूछा तो चल जाएगा। व्यर्थ प्रश्न जल्दी से बंध जाते हैं, जल्दी से बन जाते हैं।
"और जो बनते हैं, वे पूछने जैसे मालूम नहीं होते।"
ठीक हो रहा है, एकदम ठीक हो रहा है। यह शुभ घड़ी है। यह खुजलाहट ही छोड़ो। यह बात ही जाने दो। इससे एक बात साफ है कि तुम्हें स्पष्ट हो रहा है भीतर, मौन में, क्या पूछने योग्य है। तुम उसे शब्द में बांधना चाह रहे हो, हारते जा रहे हो। नहीं बंधेगा। तुम कोरा कागज ही भेज दो। मत लिखो, कुछ मत लिखो।
मैंने सुना है, झेन सदगुरु हुआ, हुई ची। उससे फेंग लिन ने पूछा, मैं आपसे कुछ पूछना चाहता हूं; कुछ प्रश्न हैं, क्या मैं पूछूं? सदगुरु ने बड़ी अजीब बात कही। उसने कहा, क्यों अपने को घाव पहुंचाना चाहते हो? व्हाय डू यू वांट टु वूंड योरसेल्फ? यह भी कोई उत्तर हुआ--क्यों अपने को घाव पहुंचाना चाहते हो? मगर बड़ा महत्वपूर्ण उत्तर हुआ। हर प्रश्न खुजली जैसा है। ज्यादा खुजलाओगे, घाव बन जाता है। खुजली मीठी लगती है, फिर बहुत पीड़ा लाती है।
प्रश्न घाव ही हैं। पूछो, तो फिर उत्तर चाहिए। और उत्तर से कुछ हल नहीं होता। उत्तर से दस नए प्रश्न खड़े होते हैं, फिर दस घाव बनते हैं। फिर पूछो, दस उत्तर मिलेंगे और सौ घाव पैदा हो जाएंगे। हर उत्तर दस नए प्रश्न खड़ा करता है और क्या होता है? घाव और गहरा होता जाता है। कोई उत्तर किसी प्रश्न के घाव को मिटाता नहीं। जिंदगी के घाव इतने सस्ते हैं भी नहीं कि पूछने से, कि बताने से भर जाएं।
उत्तर चाहिए, तो निष्प्रश्न दशा चाहिए। प्रश्न का उत्तर नहीं है, लेकिन अगर तुम निष्प्रश्न हो जाओ तो उत्तर है। प्रश्न का उत्तर चाहिए, तो धीरे-धीरे प्रश्न छोड़ते जाओ, गिराते जाओ, हटाते जाओ। और फिर कौन दूसरा तुम्हें उत्तर दे सकेगा! दूसरे का उत्तर दूसरे का ही होगा। जहां से तुम्हारा प्रश्न उठ रहा है, वहीं, उसी गहराई में तुम्हें उत्तर खोजना होगा।
इसलिए बजाय प्रश्न बांधने के तुम अपने प्रश्न की गहराई में उतरो। उसी में डुबकी लगा जाओ। जाओ अपने अंतस्तल में, जहां से प्रश्न उठ रहा है। और अंततः तुम पाओगे कि प्रश्न के भीतर ही उत्तर छिपा है। अगर हम ठीक से प्रश्न में उतर जाएं तो हम उत्तर तक पहुंच जाएंगे। प्रश्न खोल है, उसी खोल में उत्तर भीतर छिपा है। जैसे बीज की खोल में वृक्ष छिपा होता है, ऐसे प्रश्न की खोल में उत्तर छिपा होता है।
सौभाग्यशाली हो कि ऐसा प्रश्न तुम्हारे भीतर उठता है जो बंध नहीं रहा है। इसका मतलब साफ है कि भीतर जाने की घड़ी आ गयी। पूछ लिए बाहर बहुत प्रश्न और पा लिए बाहर बहुत उत्तर, अब और घाव मत बनाओ। जिज्ञासा अच्छी है, कुतूहल के मुकाबले, ध्यान रखना, लेकिन मुमुक्षा के मुकाबले कुछ भी नहीं है।
इन तीन शब्दों को ठीक से समझ लेना। कुतूहल कुछ भी पूछता रहता है। छोटे बच्चों जैसा होता है। जैसे छोटा बच्चा चल रहा है तो वह पूछता है, यह झाड़ बड़ा क्यों? यह कुत्ते की पूंछ क्यों? कि आकाश में सूरज क्यों? वह कुछ भी पूछता रहता है। तो तुम उत्तर न भी दो तो भी कोई फिकर नहीं उसे, वह पूछता ही चला जाता है। उसे कोई मतलब भी नहीं है कि तुमने उत्तर दिया है कि नहीं। तुम उत्तर दो भी तो वह कोई बहुत फिकर नहीं करता तुम्हारे उत्तर की। जब तक तुम उत्तर दे रहे, तब तक वह दूसरा प्रश्न तैयार कर लेता है। तुम्हारा उत्तर सुनता भी नहीं। तुम उत्तर देकर पाते हो कि जैसे उसे कोई रस ही नहीं है उत्तर में, उसे तो पूछने में मजा है। वह पूछने में ही रस ले रहा है। पूछने के लिए पूछ रहा है।
ऐसा कुतूहल बच्चों में ही होता तो भी ठीक था, बूढ़ों में भी होता है। पूछने के लिए पूछते रहते हैं। जीवन को दांव पर लगाने की कोई जरूरत भी नहीं मानते। पूछ लिया, शायद उत्तर मिल जाए, न मिले तो भी चलेगा। कोई संकट नहीं है उनके जीवन में।

जिज्ञासा कुतूहल से बेहतर है। जिज्ञासा का मतलब होता है, कुछ दांव पर लगा है। कुछ! बिना पूछे बेचैनी रहेगी। न पूछेंगे तो प्रश्न मन पर घुमड़ता रहेगा, रात ठीक से सो न सकेंगे, कोई चीज चुभती रहेगी कांटे की तरह, तो जिज्ञासा। जिज्ञासा कुतूहल से बेहतर है। लेकिन मुमुक्षा के मुकाबले कुछ भी नहीं है।
फिर तीसरी बात है--मुमुक्षा। मुमुक्षा का मतलब है, सब दांव पर लग गया है; ऐसा प्रश्न उठा है कि अगर इसका उत्तर न मिला तो जीवन व्यर्थ है। इसका उत्तर चाहिए ही चाहिए। प्रश्न ऐसा है कि इसी पर सारी दारोमदार है। लेकिन ऐसे प्रश्न का उत्तर बाहर से नहीं मिलता। ऐसे प्रश्न का उत्तर तो भीतर से ही आता है।
मुमुक्षा का उत्तर तो मोक्ष में है। मुमुक्षा के भीतर मोक्ष छिपा है। इसीलिए तो उसको मुमुक्षा कहते हैं, जिसमें मोक्ष छिपा हो। मुमुक्षा खोल की तरह है, मोक्ष उसके भीतर छिपा है। मुमुक्षा टूट जाए तो मोक्ष प्रगट हो। तुम सौभाग्यशाली हो कि तुम्हारे भीतर एक ऐसा प्रश्न उठ रहा है, जो तुम पूछना चाहते हो, पूछना चाहते हो, पूछना चाहते हो, लेकिन बंधता नहीं। और जो बंधता है, बंधते ही तुम पाते हो, यह तो कुछ और हो गया, यह तो बात वही न रही जो हम पूछना चाहते थे।
तो जरूर तुम्हें कुछ धुंधला-धुंधला स्मरण आ रहा है मुमुक्षा का। तुम्हारे भीतर मुमुक्षत्व पैदा हो रहा है। तुम धन्यभागी हो। इस प्रश्न को पूछने की जरूरत ही नहीं है। तुम निष्प्रश्न हो जाओ, तुम शांत हो जाओ, उत्तर मिलेगा। उत्तर तुम्हारे भीतर से ही उमगेगा। तुम्हारे ही अंतस्तल से आएगा। तुम्हारी परिधि जरा शांत हो जाए, कोलाहल जरा बंद हो जाए, तो तुम्हारे भीतर बैठा गुरु तुम्हें उत्तर दे दे।
कुतूहल वाले के उत्तर देने में कोई सार नहीं है। जिज्ञासा जिसकी होती
है उसको उत्तर देने चाहिए, ताकि धीरे-धीरे जिज्ञासा उसे मुमुक्षा तक ले जाए। लेकिन मुमुक्षा वाले का उत्तर नहीं दिया जा सकता।
तुम समझना। तुम पूछ सकते हो, फिर मैं इतने उत्तर क्यों देता हूं? सौ प्रश्न आते हैं, दस के उत्तर देता हूं, नब्बे के नहीं देता; वे कुतूहल वाले प्रश्न होते हैं, उनके मैं उत्तर नहीं देता। जिन दस के उत्तर देता हूं, वे जिज्ञासा के हैं। कभी-कभी उन दस में एक तुम्हारे जैसा प्रश्न आ जाता है, उसका भी उत्तर नहीं दिया जा सकता है, क्योंकि वह मुमुक्षा का है।
कुतूहल वाले का उत्तर देना समय खराब करना है, उसे मतलब ही नहीं है, उसने पूछा ही नहीं है; ऐसे ही चलते-चलते! इस तरह के लोग हैं। कभी-कभी बड़ी उम्र के लोग मिल जाते हैं।
मैं वर्षों तक सफर करता था मुल्क में--मैं स्टेशन पर ट्रेन पकड़ने भागा
जा रहा हूं, गाड़ी छूटी जा रही है, कोई मेरा हाथ ही पकड़ ले कि जरा रुकिए तो, ईश्वर है? जरा एक क्षण में बता दीजिए। इसको कुछ होश ही नहीं है कि यह क्या पूछ रहा है! कोई संदर्भ होता, कोई समय होता, कोई अनुकूल परिस्थिति होती! और ईश्वर कोई ऐसी बात थोड़े ही है कि मैं कह दूं हां और न, और हो गयी! कि मेरे हां और न कहने से इसका प्रश्न हल हो जाएगा। बूढ़े हैं, लेकिन बचपन नहीं गया। बायजीद अपने गुरु के पास गया तो कहते हैं, बारह साल तक चुप बैठा रहा। बारह साल लंबा वक्त होता है। तब गुरु ने बायजीद की तरफ देखा और कहा कि अब भाई पूछ ही ले। बायजीद चरणों में झुका, उसने कहा कि अब पूछने की जरूरत न रही। जब पूछने की जरूरत थी, मैंने इसलिए नहीं पूछा कि अभी समय नहीं आया। अब समय आ गया है तो मेरे भीतर साथ ही उत्तर भी आ गया है। अब पूछने की जरूरत न रही, मैं आपका धन्यवाद करता हूं। आपके निकट बैठे-बैठे हो गया।
बायजीद के गुरु ने कहा, लेकिन याद रखना, मैंने नहीं किया है। मैं तो सिर्फ बहाना था कि मेरे पास तू बारह साल शांत होकर बैठ सका। शायद अकेला तू नहीं बैठ सकता, अकेले मुश्किल होता बारह साल शांत बैठना! इस आशा में बैठा रहा कि गुरु के पास बैठे हैं, गुरु के सत्संग में बैठे हैं, कुछ होगा, कुछ होगा, कुछ होगा... हो गया।

तो बायजीद के गुरु ने कहा, मैंने नहीं दिया है, याद रखना। हुआ तुझे ही है, मैं तो सिर्फ एक बहाना था। जिसको रसायनविद कहते हैं, केटेलिटिक एजेंट।
उसकी मौजूदगी भर से। कुछ किया नहीं है गुरु ने।
यह छोटी सी कहानी सुनो, चीन की घटना है।
एक बहुत बड़ा झेन गुरु हुआ, लियांग चियाई। वह अपने गुरु युन येन के निर्वाण-दिवस पर बांटने के लिए आश्रम में भोजन तैयार कर रहा था। एक भिक्षु ने लियांग चियाई से पूछा, स्व गुरु युन येन से आपको क्या शिक्षा मिली थी? लियांग चियाई ने कहा, कोई भी नहीं। मैं उनके निकट रहा, पर उन्होंने कभी मुझे कोई शिक्षा नहीं दी। भिक्षु हैरान हुआ। उसने पूछा, तब फिर आप युन येन की स्मृति में यह भोज क्यों दे रहे हैं? क्योंकि ऐसा भोज तो गुरु की स्मृति में ही दिया जाता है। जब उन्होंने कोई शिक्षा ही नहीं दी, तो वे आपके गुरु कैसे हुए? और लियांग चियाई ने कहा, इसीलिए! इसीलिए! खूब हंसने लगा वह।
उसने कहा, मैं युन येन को उनके सदगुणों, उनकी शिक्षाओं और व्यक्तित्व
के कारण आदर नहीं करता हूं, मेरा सारा आदर उनके द्वारा सत्य उदघाटित करने के मेरे अनुरोध को अस्वीकार कर देने के कारण है। उन्होंने मुझे सत्य बताने से सदा इंकार किया। जब भी मैंने पूछा, तभी उन्होंने चुप्पी के लिए इशारा किया। और जब भी मैंने कुछ कहा, उन्होंने जल्दी से ओंठ पर अपनी अंगुली रख दी और कहा, चुप रह! ऐसे वर्षों बीते, मुझे कभी कोई शिक्षा न दी-- और फिर एक दिन हो गया।
अब मैं उनकी याद करता हूं। इसीलिए याद करता हूं कि उन्होंने मुझे कोई शिक्षा न दी, अगर वह मुझे शिक्षा देते तो शायद जो मेरे भीतर हुआ, वह न हो पाता। उन्होंने बाहर से कुछ भी न दिया। उन्होंने भीतर को मुक्त रखा। वह मुझे बस चुप्पी करवाते रहे--चुप! जब भी मैं पूछूं, तब... तब तो मुझे बहुत अखरता था, तब तो बहुत बुरा भी लगता था। दूसरों के प्रश्नों के उत्तर देते थे। ऐरे-गैरों के उत्तर देते थे, कोई राह चलता आ जाता, उसका उत्तर देते थे। और मैं वर्षों से बैठा चरणों में सेवा कर रहा, और जब भी मैं पूछूं, कहें--बस, चुप! मेरी तरफ ध्यान भी न देते थे। बहुत पीड़ा भी होती थी, अहंकार को चोट भी लगती थी, लेकिन आज मैं जानता हूं--उनकी कृपा अपरंपार थी। इसीलिए यह भोज दे रहा हूं कि वह मेरे गुरु थे। सच्चे गुरु थे। उन्होंने मुझे उत्तर नहीं दिया और सदा मुझे मेरे ऊपर वापस फेंक दिया। सदा धक्का दे दिया मेरे भीतर कि जा वहां। धक्का खाते-खाते एक दिन मैं पहुंच गया। एक दिन भीतर से लपट की तरह उठी बात, सब रोशन हो गया। वह उनकी ही कृपा से हुआ है। उन्होंने मुझे कोई शिक्षा नहीं दी, लेकिन गुरु तो वे मेरे हैं।
अब ध्यान रखना, शिक्षा देने से ही कोई गुरु नहीं होता। सत्य के निकट पहुंचाने से कोई गुरु होता है। और सत्य के निकट कैसे पहुंचोगे? अगर गुरु तुम्हें अपने में उलझा ले तो नहीं पहुंच पाओगे।
इसलिए सदगुरु की सदा चेष्टा होती है कि तुम उसमें न उलझ जाओ। वह तुम्हें धक्के देता रहता है, वह तुम्हें तुम पर फेंकता रहता है।
अच्छा हुआ है कि तुम प्रश्न पूछना चाहते हो और प्रश्न बनता नहीं। शुभ हुआ है।
"और जो बनते हैं, वे पूछने जैसे मालूम नहीं पड़ते। अब मैं क्या करूं?"
अब तुम इस खुजली को छोड़ो। अब तुम चुप रहो। अब जब भी तुम्हें प्रश्न पूछने की याद आए, याद करना कि मैंने कहा--चुप रहो; पूछो ही मत। होगा, एक दिन हो जाएगा। जिस दिन होगा, उस दिन तुम निश्चित मेरा धन्यवाद मानोगे। उस दिन तुम याद करोगे कि मैंने तुम्हें उत्तर नहीं दिया था तो अच्छा किया था। उस दिन तुम समझोगे कि तुमने नहीं पूछा, वह भी अच्छा किया था। क्योंकि पूछो तो मुमुक्षा जिज्ञासा हो जाती है, नीचे गिर जाती है।
कुछ बातें हैं, जो कहने से नीचे गिर जाती हैं। उनकी ऊंचाई ऐसी है कि वे बिना कहे ही उस ऊंचाई पर होती हैं--बोले कि चूके!

पांचवां प्रश्नः आपसे क्या छिपा है! भीतर कुछ हो रहा है, अहोभाग्य! समझ नहीं पड़ता है, आश्वस्त करें। अगर ठीक, तो फिर यह आंखमिचौनी कब तक? प्रणाम!

पूछा है रामपाल ने।
रामपाल से मेरा संबंध पुराना है, लंबे दिनों का है। और रामपाल ने शायद
यह पहला ही प्रश्न पूछा है वर्षों में। जरूर हो रहा है, रामपाल तुम्हें ही पता नहीं है, मुझे भी पता है। तुम्हें पता चला, उससे पहले मुझे पता है। हो रहा है, आश्वस्त रहो। और जल्दी भी मत करो। क्योंकि कुछ बातें हैं जो धीरे- धीरे होती हैं। ये कोई मौसमी फूल नहीं हैं कि अभी डाले और अभी फूल लग गए। ये बड़े वृक्ष हैं, जो आकाश में उठते हैं, चांद-तारों को छूते हैं, इनकी बड़ी गहरी जड़ें होती हैं। और जब कोई वृक्ष आकाश को छूने की आकांक्षा करता है तो उसकी जड़ों को पाताल छूना पड़ता है। धीरे-धीरे होते हैं। यह परमात्मा का अनुभव बड़े धीरे-धीरे होता है। और धीरे-धीरे हो, यही अच्छा। कभी-कभी तेजी से हो जाए, जल्दी हो जाए, तो आदमी विक्षिप्त हो सकता है।
मुझे पता है। तुम पूछते हो, "आपसे क्या छिपा है!"
कुछ भी नहीं छिपा है। बहुत कुछ तुमसे छिपा है, जो मुझसे नहीं छिपा है। तुम्हें तो धीरे-धीरे ऊपर-ऊपर का पता चल रहा है, मुझे तुम्हारे भीतर अंतस्तल के गहरे में क्या हो रहा है, उसका भी पता है। देख रहा हूं, चुपचाप देख रहा हूं और बहुत खुश हूं। न तुम पूछो, न मैं कुछ कहूं। आह्लादित रहो। अहोभाग्य ही है।
"समझ में नहीं पड़ता है।"
समझ में पड़ने की जरूरत भी नहीं है। यह इतनी बात नहीं है जो समझ में आ जाए। यह ऐसी बात नहीं जो समझ में आ जाए। इतनी छोटी बात नहीं जो समझ में आ जाए। यह बड़ी बात है, यह समझ से बड़ी बात है। समझ बड़ी छोटी सी चीज है। संसार समझ में आता है, परमात्मा कब समझ में आता है! दुकान समझ में आती है, मंदिर कब समझ में आता है! साधारण बातचीतें समझ में आती हैं, सत्य की उदघोषणाएं कब समझ में आती हैं! समझ बड़ी छोटी है। समझ के पिंजड़े में सत्य का पक्षी कभी बंद होता ही नहीं, उसे तो खुला आकाश चाहिए।
तो समझ में आएगा नहीं। और समझने की कोशिश मत करना। क्योंकि समझने की कोशिश में तुम सिकुड़ जाओगे। और समझने की कोशिश में तुम विकृति खड़ी कर दोगे। समझने की कोशिश से बाधा पड़ जाएगी। तुम समझने की कोशिश ही मत करना। इसीलिए तो समस्त सदगुरुओं ने कहा है, उस परम घड़ी में श्रद्धा के अतिरिक्त और कोई सहारा नहीं है। अब तो श्रद्धा रखो, बुद्धिमानी से काम न चलेगा। अब तो बुद्धिमानी बुद्धिहीनता होगी। अब तो अनुभव आ रहा है, अनुभव के साथ बहो, हिम्मत से बहो, जहां ले जाए जाओ, जो हो होने दो। अब तुम्हारी समझ काम नहीं पड़ेगी, समझ को छोड़ो।
बड़ी महत्वपूर्ण घटना घट रही है, अब उसे समझ से विकृत मत करना। समझ का अर्थ ही यह होता है कि मेरी बुद्धि के पकड़ में आ जाए। समझ का अर्थ होता है, चम्मच में सागर आ जाए। समझ का अर्थ होता है, एक दीए को लेकर सूरज को रोशनी दिखा दूं।
नहीं, यह नहीं हो सकेगा। तुम दीए को फूंको, समझ को बुझा दो। अब समझ की कोई जरूरत ही न रही। समझ तो ऐसे है जैसे अंधे के हाथ में लकड़ी। अंधा लकड़ी से टटोलता है। फिर उसकी आंखें ठीक हो गयीं, अब थोड़े ही लकड़ी से टटोलता है, अब तो लकड़ी फेंक देता है। हालांकि पुरानी आदत के कारण हो सकता है एकदम न फेंके।
ऐसा हुआ। जीसस ने एक अंधे की आंखें छू दीं और वह ठीक हो गया। उसने बहुत धन्यवाद दिया और अपनी टेकने की लकड़ी को लेकर चलने लगा। जीसस ने कहा, भाई, लकड़ी तो दे जा। यह लकड़ी कहां ले जा रहा है! वह अंधा बोला कि नहीं, इसके बिना मैं कैसे चलूंगा? यही तो मेरा सहारा है।
आंखें ठीक हो गयीं! मगर पुरानी आदत! हो सकता है चालीस साल से, पचास साल
से लकड़ी से टेक-टेककर चलता रहा हो, आज आंखें भी ठीक हो गयीं तो भी एकदम से पचास साल की आदत तो न छूट जाएगी।

सो रामपाल, समझ की लकड़ी छोड़ो, अब आंखें ठीक होने का वक्त आ गया। अब समझ
से कुछ जरूरत नहीं। समझ संसार में चाहिए, परमात्मा में नहीं। परमात्मा में प्रेम चाहिए। और प्रेम तो नासमझी का नाम है। प्रेम तो पागलपन है। अब यह पागलपन की शुभ घड़ी आ रही है, इसे उतरने दो।
और आश्वस्त करता हूं, घबड़ाओ मत। यह घबड़ाहट आती है, पैर डगमगाते हैं।
उस द्वार पर खड़े होकर बहुत भय भी लगता है। क्योंकि मिटने जैसा है, मौत जैसा है। ध्यान की परम घड़ी में मौत घटती है, मौत यानी अहंकार की मौत। तुम तो मिटे, यह बूंद तो गयी, अब सागर होगा।
लेकिन बूंद को कैसे भरोसा आए, बूंद कैसे जाने कि मैं मिटूंगी और बिल्कुल ही न मिट जाऊंगी? बूंद कैसे भरोसा लाए कि मैं सागर में डूबकर बचूंगी और सागर हो जाऊंगी? बीज को कैसे भरोसा आए कि मैं टूटकर जब जमीन में खो जाऊंगा तो वृक्ष पैदा होगा? होगा, इसका कैसे भरोसा आए? क्योंकि बीज जब तक है तब तक वृक्ष नहीं है, और जब वृक्ष होगा तब बीज नहीं--दोनों का कभी मिलना नहीं होता। इसीलिए श्रद्धा। इसीलिए सदगुरु के हाथ में हाथ हो, उपयोगी है। क्योंकि वह कहेगा, फिकर मत कर, मैं रहा वृक्ष, मेरी तरफ देख; ऐसे ही मैं बीज था और मिट गया बीज और वृक्ष हुआ, ऐसे ही तू अभी बीज है, मेरी तरफ देख; ध्यान रख, इस बीज को मिटने दे।
आश्वस्त करता हूं। ठीक हो रहा है। तुम मस्ती में गीत गाते इसमें उतरते चलो।
और फिर पूछते हो, "अगर ठीक... ।"
ऐसी चिंता पैदा होती है कि यह जो हो रहा है, ठीक हो रहा है कि नहीं ठीक
हो रहा है? हमारे सब मापदंड छोटे पड़ जाते हैं। हमारे तराजू काम नहीं आते हैं। पुराने हिसाब-किताब, पुरानी कोटियां, कुछ काम नहीं पड़ती हैं, कोई पुराना वर्गीकरण काम नहीं पड़ता। पता नहीं ठीक हो रहा है कि गलत हो रहा है, मैं कहां जा रहा हूं, किसी अनजान रास्ते पर भटक न जाऊं, किसी अंधेरी गली में खो न जाऊं, पता नहीं क्या हो रहा है!
तो तुम पूछते हो, "अगर ठीक... ।"
अगर नहीं, ठीक ही हो रहा है, बिल्कुल ठीक हो रहा है। लेकिन तुम्हारी अड़चन मैं समझता हूं। आज तो तुम्हें कैसे पता चलेगा! ऐसे ही समझो कि जैसे छोटा बच्चा मां के पेट से पैदा होता है। नौ महीने मां के गर्भ में रहा, सब सुख था। सुख ही सुख था, चिंता तो कोई भी न थी, दायित्व कोई न था--नौकरी नहीं, दफ्तर नहीं, कारखाना नहीं, कुछ नहीं--भोजन मिलता था चुपचाप, श्वास भी मां लेती, भोजन भी मां करती, सब मां करती थी, उसे कुछ पता भी नहीं था। इससे ज्यादा निश्चिंत फिर तो कोई घड़ी होगी नहीं।
मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि मनुष्य ने जो सुख जाना है नौ महीने मां के गर्भ में, उसी के कारण जीवन में उसे दुख अनुभव होता है। क्योंकि वह तुलना भीतर बैठी है--वह परम सुख का क्षण! मनोवैज्ञानिक तो यह भी कहते हैं कि मोक्ष की तलाश वस्तुतः उसी गर्भ की पुनः तलाश है।
और इसमें सच्चाई है। इसमें सत्य है। यह जो बच्चा नौ महीने मां के पेट में रहा, आज प्रसव की पीड़ा उठी, और यह बच्चे को मां का पेट धक्के मारने लगा कि बाहर निकल! स्वभावतः, बच्चा घबड़ाएगा कि यह क्या हो रहा है? बसी-बसायी बस्ती उजड़ी जाती है। सब ठीक-ठाक चल रहा था, यह कौन सी झंझट आ रही है! और यह जो मां के पेट से निकलने का मार्ग है, यह बड़ा संकरा है, इसमें बड़ी बेचैनी होती है। इस संकरी गली से निकलना पड़ रहा है! सब तरह से अवरुद्ध हो जाता है, घुटा जाता है, मरा जाता है।
लेकिन उसे क्या पता कि आगे क्या होने को है। आगे का तो उसे कुछ पता भी नहीं हो सकता। उसे तो यह पीड़ा दिखायी पड़ती है, पीछे का सुख दिखायी पड़ता है। वर्तमान की पीड़ा दिखायी पड़ती है, अतीत का सुख दिखायी पड़ता है। भविष्य तो उसे पता नहीं है कि जीवन मिलेगा, कि सूरज, चांद-तारे, कि वृक्ष और फूल और पक्षी और रोशनी और हवाएं और विराट का दर्शन होगा--यह तो उसे कुछ पता नहीं-- कि इंद्रधनुष होते हैं, कि सागर में लहरें उठती हैं, इसे तो कुछ पता नहीं कि बाहर क्या है! यह तो इसी बंद कोठरी को सुख मान रहा था। सुखी था भी।

तो जैसे यह बच्चा घबड़ाता है और पकड़ लेना चाहता है गर्भ को कि निकल न जाए बाहर, ऐसी ही घबड़ाहट साधक को आती है जब समाधि के करीब कदम पड़ते हैं। तो तुम पूछते हो, "अगर ठीक, तो फिर यह आंखमिचौनी कब तक?"
यह ठीक है, बिल्कुल ठीक है। और आंखमिचौनी भी तब तक होती रहेगी, जब तक तुम्हारे भीतर जरा भी झिझक है। थोड़ी झिझक है, इसलिए आंखमिचौनी। तुम्हारी झिझक के कारण है। तुम थोड़े अटके-अटके हो। और तुम्हारी झिझक एकदम अस्वाभाविक है, ऐसा भी मैं नहीं कहता। स्वाभाविक ही है, सभी झिझकते हैं, मैं भी झिझका था। सभी झिझकते हैं। ऐसा लगता है सब हाथ से जा रहा है, रोक लें अपने को, सम्हाल लें अपने को, पता नहीं फिर लौट सकेंगे कि नहीं लौट सकेंगे! और जो हो रहा है, यह पागलपन तो नहीं है? क्योंकि हमने जीवन में दुख जाना, जब सुख की पहली किरण आती है, हमें भरोसा नहीं आता कि ऐसा हो सकता है। जब पहली दफे आनंद का झोंका आता है तो हमें लगता है, कल्पना तो नहीं कर ली? कहीं सम्मोहन में तो नहीं पड़ गए?
एक मित्र ने कल ही मुझे लिखा कि जब भी आपको सुनने आता हूं, एक डर लगता
है कि कहीं किसी सम्मोहन में तो नहीं पड़ा जा रहा हूं? अच्छा लगता है, और घबड़ाहट भी होती है, भय भी होता है। फिर दो-चार महीने नहीं आता। फिर याद आने लगती है कि चलो एक दिन तो चला जाए, फिर आ जाता हूं। और फिर यही चिंता होती है। और मेरी पत्नी भी मुझसे यही कहती है कि तुम सम्मोहित मत हो जाना। वहां जाकर कई लोग सम्मोहित हो जाते हैं। फिर महीने दो महीने रुक जाता हूं। रुक भी नहीं सकता, आ भी नहीं सकता!
बेचैनी स्वाभाविक है। तुम्हें घबड़ाहट पकड़ेगी कि यह क्या हो रहा है? मेरा नियंत्रण टूटा जा रहा है, मेरी सीमा टूटी जा रही है, मेरी एक व्यवस्था थी, बिगड़ी जा रही है।
और तुम्हें इसके लिए कहीं भी सहारा न मिलेगा। तुम्हारी पत्नी कहेगी, पागल हुए जा रहे! तुम्हारे बेटे कहेंगे कि डैडी, आपको क्या हो गया है? तुम्हारे पिता कहेंगे कि ऐसा मत करो, सम्हल जाओ, अभी कुछ बिगड़ा नहीं है। तुम्हारे मित्र, प्रियजन, दफ्तर के लोग कहेंगे कि अब और आगे मत बढ़ो, इस मार्ग पर कई लोग पागल हो गए हैं; अभी लौट आओ, अपना संसार भला है। और तुम्हारा मन भी यही कहेगा कि रुक जाओ, ठहर जाओ, अभी कुछ नहीं बिगड़ा, अभी रुक सकते हो; कहीं ऐसा न हो एक कदम और, और फिर तुम फिसलो और फिर तुम्हारा पता न चले!
इसीलिए आंखमिचौनी हो रही है, देर लग रही है, क्योंकि तुम झिझक रहे हो। झिझक छोड़ो, आश्वस्त होकर आगे बढ़ो!

और आखिरी प्रश्नः एक प्यास है मेरे भीतर, बस इतना ही जानता हूं। किस बात की है, यह भी साफ-साफ नहीं। आप कुछ कहें।

मैं एक छोटी सी कहानी कहूंगा।
हिमालय की घाटियों में एक चिड़िया निरंतर रट लगाती है--जुहो! जुहो! जुहो! अगर तुम हिमालय गए हो तो तुमने इस चिड़िया को सुना होगा। इस दर्द भरी पुकार से हिमालय के सारे यात्री परिचित हैं। घने जंगलों में, पहाड़ी झरनों के पास, गहरी घाटियों में निरंतर सुनायी पड़ता है--जुहो! जुहो! जुहो! और एक रिसता दर्द पीछे छूट जाता है। इस पक्षी के संबंध में एक मार्मिक लोक-कथा है।
किसी जमाने में एक अत्यंत रूपवती पहाड़ी कन्या थी, जो वर्ड्सवर्थ की लूसी की भांति झरनों के संगीत, वृक्षों की मर्मर और घाटियों की प्रतिध्वनियों पर पली थी। लेकिन उसका पिता गरीब था और लाचारी में उसने अपनी कन्या को मैदानों में ब्याह दिया। वे मैदान, जहां सूरज आग की तरह तपता है। और झरनों और जंगलों का जहां नाम-निशान भी नहीं। प्रीतम के स्नेह की छाया में वर्षा और सर्दी के दिन तो किसी तरह बीत गए, कट गए, पर फिर आए सूरज के तपते हुए दिन--वह युवती अकुला उठी पहाड़ों के लिए। उसने नैहर जाने की प्रार्थना की। आग बरसती थी--न सो सकती थी, न उठ सकती थी, न बैठ सकती थी। ऐसी आग उसने कभी जानी न थी। पहाड़ों के झरनों के पास पली थी, पहाड़ों की

शीतलता में पली थी, हिमालय उसके रोएं-रोएं में बसा था। पर सास ने इनकार कर दिया।
वह धूप में तपे गुलाब की तरह कुम्हलाने लगी।शृंगार छूटा, वेश-विन्यास छूटा, खाना-पीना भी छूट गया। अंत में सास ने कहा--अच्छा, तुम्हें कल भेज देंगे। सुबह हुई, उसने आकुलता से पूछा--जुहो? जाऊं? जुहो पहाड़ी भाषा में अर्थ रखता है--जाऊं? सुबह हुई, उसने पूछा--जुहो? जाऊं? सास ने कहा--भोल जाला। कल सुबह जाना। वह और भी मुरझा गयी, एक दिन और किसी तरह कट गया, दूसरे दिन उसने पूछा--जुहो? सास ने कहा--भोल जाला। रोज वह अपना सामान संवारती, रोज प्रीतम से विदा लेती, रोज सुबह उठती, रोज पूछती--जुहो? और रोज सुनने को मिलता--भोल जाला।
एक दिन जेठ का तप-तपा लग गया। धरती धूप में चटक गयी। वृक्षों पर चिड़ियाएं लू खाकर गिरने लगीं। उसने अंतिम बार सूखे कंठ से पूछा--जुहो? सास ने कहा--भोल जाला। फिर वह कुछ भी न बोली। शाम एक वृक्ष के नीचे वह प्राणहीन मृत पायी गयी। गरमी से काली पड़ गयी थी। वृक्ष की डाली पर एक चिड़िया बैठी थी, जो गर्दन हिलाकर बोली--जुहो? और उत्तर की प्रतीक्षा के बिना अपने नन्हे पंख फैलाकर हिमाच्छादित हिमशिखरों की तरफ उड़ गयी।
तब से आज तक यह चिड़िया पूछती है--जुहो? जुहो? और एक कर्कश-स्वर पक्षी उत्तर देता है--भोल जाला। और वह चिड़िया चुप हो जाती है।
ऐसी पुकार हम सबके मन में है। न-मालूम किन शांत, हरियाली घाटियों से
हम आए हैं! न-मालूम किस और दूसरी दुनिया के हम वासी हैं! यह जगत हमारा घर नहीं। यहां हम अजनबी हैं। यहां हम परदेशी हैं। और निरंतर एक प्यास भीतर है अपने घर लौट जाने की, हिमाच्छादित शिखरों को छूने की। जब तक परमात्मा में हम वापस न लौट जाएं तब तक यह प्यास जारी रहती है, प्राण पूछते ही रहते हैं-- जुहो? जुहो?
तुमने पूछा है, "मेरे भीतर एक प्यास है, बस इतना ही जानता हूं। किस बात की, यह साफ नहीं है। आप कुछ कहें।"
मैंने यह कहानी कही; इस पर ध्यान करना। सभी के भीतर है--पता हो, न पता हो। होश से समझो, तो साफ हो जाएगी; होश से न समझोगे, तो धुंधली-धुंधली बनी रहेगी और भीतर-भीतर सरकती रहेगी। लेकिन यह पृथ्वी हमारा घर नहीं है। यहां हम अजनबी हैं। हमारा घर कहीं और है--समय के पार, स्थान के पार। बाहर हमारा घर नहीं है, भीतर हमारा घर है। और भीतर है शांति, और भीतर है सुख, और भीतर है समाधि। उसकी ही प्यास है।
आज इतना ही।

एस धम्मो सनंतनो, भाग 9
अठासीवां प्रवचन

एकांत ध्यान की भूमिका है

सब्बे संखारा अनिच्चाति यदा पांंय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे एस मग्गो विसुद्धिया।। 229।।

सब्बे संखारा दुक्खाति यदा पांंय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे एस मग्गो विसुद्धिया।। 230।।

सब्बे धम्मा अनत्ताति यदा पांंय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे एस मग्गो विसुद्धिया।। 231।।

उट्ठानकालम्हि अनुट्ठहानो युवा बली आलसियं उपेतो।
संसन्नसंकप्पमनो कुसीतो पांंय मग्गं अलसो न विंदति।। 232।।

योगा वे जायती भूरि अयोगा भूरि संखयो।
द्वेधापथंांत्वाभवाय विभवाय च।
तथत्तानं निवेसेय्य यथा भूरि पवड्ढति।। 233।।

वनं छिंदथ मा रुक्खं वनतो जायती भयं।
छेत्वा वनंच वनथंच निब्बना होथ भिक्खवो।। 234।।

सूत्र-संदर्भ; पूर्वार्द्ध--

भगवान जेतवन में विहरते थे। उनकी देशना में निरंतर ही ध्यान के लिए आमंत्रण था। सुबह, दोपहर, सांझ, बस एक ही बात वे समझाते थे--ध्यान, ध्यान, ध्यान। सागर जैसे कहीं से भी चखो खारा है, वैसे ही बुद्धों का भी एक ही स्वाद है--ध्यान। ध्यान का अर्थ है--निर्विचार चैतन्य। पांच सौ भिक्षु भगवान का आवाहन सुन ध्यान को तत्पर हुए। भगवान ने उन्हें अरण्यवास में भेजा। एकांत ध्यान की भूमिका है। अव्यस्तता ध्यान का द्वार है। प्रकृति- सान्निध्य अपूर्वरूप से ध्यान में सहयोगी है।
उन पांच सौ भिक्षुओं ने बहुत सिर मारा, पर कुछ परिणाम न हुआ। वे पुनः भगवान के पास आए ताकि ध्यान-सूत्र फिर से समझ लें। भगवान ने उनसे कहा--बीज को सम्यक भूमि चाहिए, अनुकूल ऋतु चाहिए, सूर्य की रोशनी चाहिए, ताजी हवाएं चाहिए, जलवृष्टि चाहिए, तभी बीज अंकुरित होता है। और ऐसा ही है ध्यान।
सम्यक संदर्भ के बिना ध्यान का जन्म नहीं होता।
इसके पहले कि हम सूत्रों में प्रवेश करें, इस छोटे से संदर्भ को जितनी गहराई से समझ लें उतना उपयोगी होगा।
भगवान जेतवन में विहरते थे।
विहार बौद्धों का पारिभाषिक शब्द है। बिहार प्रांत का नाम भी बिहार इसीलिए पड़ गया कि वहां बुद्ध विहरे। विहार का अर्थ होता है, रहते हुए न रहना। जैसे झील में कमल विहरता है--होता है झील में, फिर भी झील का पानी उसे छूता नहीं। होकर भी नहीं होना, उसका नाम है विहार। बुद्ध ने विहार की धारणा को बड़ा मूल्य दिया है। वह समाधि की परम दशा है।
एक तो है संसारी, वह संसार में रहता है। जल में कमलवत नहीं, कीचड़ में फंसा। कीचड़ में ही जीता है। कीड़े की भांति कीचड़ में उलझा है। फिर एक दिन संसारी घबड़ा जाता है--घबड़ा ही जाएगा। इस कीचड़ में कभी किसी ने कुछ सार तो पाया नहीं। कीचड़ में कीचड़ ही हाथ लगी है, दुर्गंध बढ़ती ही गयी है। इस कीचड़ से कभी किसी ने सुख तो जाना नहीं। हां, इस कीचड़ ने सुख के आश्वासन बहुत दिये हैं, लेकिन कभी कोई आश्वासन पूरा नहीं किया।
तो जितना बुद्धिमान आदमी होगा, उतनी जल्दी सजग हो जाएगा। बुद्धू होगा, दोहराता रहेगा। लेकिन बुद्धू भी कभी न कभी सजग होगा--इस जन्म में,

किसी और जन्म में; वर्षों बाद, जन्मों बाद। समय का ही फर्क होगा बुद्धिमान में और बुद्धिहीन में। लेकिन एक न एक दिन यह बात तो समझ में आ ही जाएगी कि इस कीचड़ में कुछ सार नहीं है। सार खोजना हो, कहीं और खोजो।
तब एक दूसरा खतरा पैदा होता है। वह खतरा है संसार से भाग जाने का। छोड़
दो संसार, भगोड़े बन जाओ। दोनों स्थिति में तुम कमल नहीं बनते। या तो कीचड़ में उलझे होते हो तो कमल नहीं बनते, या फिर झील छोड़कर ही भाग जाते हो--फिर भी कमल नहीं बनते।
विहरने का अर्थ होता है, झील को छोड़ना नहीं और फिर भी छोड़ देना; भीतर
से छोड़ देना। बाहर से जहां हो हर्ज नहीं, लेकिन भीतर से मुक्त हो जाना। संसार में रहते हुए भी संसार तुम्हारे भीतर न हो, तो विहार। इस शब्द को तुमने बहुत सुना होगा, लेकिन इस पर कभी ध्यान न दिया होगा। बुद्ध की कथाओं में तो बार-बार आएगा--बुद्ध यहां विहरते थे, बुद्ध वहां विहरते थे। बुद्ध की तो सारी कथाएं ही इसी से शुरू होंगी कि भगवान कहां विहरते थे।
इस शब्द को खूब ध्यान करना। कभी-कभी तुम्हें भी इसका अनुभव हो सकता है। किसी शांत दशा में तुम अपने घर में बैठे हो और अचानक तुम पा सकते हो कि घर तुम्हारे भीतर नहीं है। तो तुम्हें विहार का स्वाद मिलेगा। तुम अपनी पत्नी के पास बैठे हो और चौंककर तुमने देखा कि कौन पत्नी, कौन पति! कौन मेरा, कौन तेरा! क्षणभर को एक अजनबी राह पर मिलन हो गया है, फिर बिछुड़ जाएंगे। न पहले इसका कुछ पता था, न बाद में इसका कुछ पता रह जाएगा। यह थोड़ी सी देर के लिए संग-साथ हो लिया है--नदी-नाव-संयोग--यह जल्दी ही टूट जाएगा। इसमें कोई अनिवार्यता नहीं है, इसमें कोई आवश्यकता नहीं है, सांयोगिक है; संयोगमात्र है। ऐसा अगर तुम्हें स्मरण आ जाए पत्नी के पास बैठे-बैठे, तो तुम पाओगे कि पास भी बैठे हो--शायद हाथ हाथ में भी ले लिया है--लेकिन इतनी दूरी हो गयी, तुम कहीं और, वह कहीं और, दोनों के बीच अनंत आकाश जितना फासला हो गया, तो विहार का अनुभव होगा, तो विहार का स्वाद लगेगा।
ये शब्द ऐसे नहीं हैं कि इनका अर्थ तुम शब्दकोश में खोज लो। ये शब्द ऐसे हैं कि जीवन के कोश में इनका अर्थ खोजना पड़ता है। ये शब्द बड़े जीवंत हैं। ये शब्द ही नहीं हैं, ये चित्त की दशाएं हैं। भोजन करने बैठे हो, भोजन कर रहे हो और कभी होश सध जाए, क्षणभर को भी, तो तुम्हें दिखायी पड़ेगा--भोजन तो शरीर में जा रहा है, तुममें तो जा ही नहीं सकता! तुममें तो जाएगा कैसे! तुम तो चैतन्य हो, चैतन्य में भोजन कैसे जाएगा! भोजन तो देह में जा रहा है। और भोजन देह की ही जरूरत है, तुम्हारी जरूरत भी नहीं। देह में जाएगा, देह बनाएगा, तुम तो दूर खड़े देख रहे। अगर भोजन करते समय ऐसी प्रतीति तुम्हें हो जाए, तो विहार। तो विहर गये। तो उसी क्षण में तुम बुद्धत्व के पास पहुंच गये। संसार में रहे और संसार में न रहे, कमलवत हो गये। ऐसा यह अदभुत और अनूठा शब्द है। इसका अर्थ है, जल से गुजरो, लेकिन जल तुम्हें छुए नहीं।
एक झेन गुरु अपने शिष्यों को कहता था बार-बार, जल से गुजरो और जल तुम्हें छुए नहीं। शिष्य--जैसे शिष्य होते हैं--सोचते थे, यह बात हो नहीं सकती। प्रतीक्षा में थे कि कभी मौका लग जाए और गुरु को नदी में से गुजरते देख लें। ऐसा मौका भी आ गया। तीर्थयात्रा पर गये थे और एक नदी पार करनी पड़ी। तो सारे शिष्य बड़े ध्यान से देख रहे थे कि गुरु के पैर को पानी छूता या नहीं?
पानी तो छुएगा ही। पैर तो पैर हैं, पानी पानी है, कोई पानी किसी के लिए नियम थोड़े ही छोड़ देगा। पानी छुआ तो शिष्यों ने गुरु को घेर लिया, उन्होंने कहा, आप बार-बार कहते हैं जल से निकलना और पानी छुए नहीं। हमने बहुत निकलकर देखा, छूता था, तो हमने सोचा, हमसे नहीं सधता है, आप तो साध लिये होंगे। आप भी निकल रहे हैं और जल छू रहा है! वह गुरु हंसा, उसने कहा, कहां? मुझे जल नहीं छू रहा है। और जिसे छू रहा है, वह मैं नहीं हूं।
पता नहीं समझे शिष्य या नहीं समझे!
भोजन जब तुम कर रहे हो, तो जो भोजन कर रहा है, वह तुम नहीं हो। वस्त्र
जब तुम पहन रहे हो, तो जो वस्त्र पहन रहा है, जिस पर वस्त्र पहनाए जा रहे हैं, वह तुम नहीं हो। जब तुम धनी हो गये, तब तुम धनी नहीं हुए हो; और जब तुम गरीब हो गये, तब तुम गरीब नहीं हुए हो; जब तुम्हें पद पर बिठा दिया है, तो

तुम पद पर नहीं बैठे। तुम तो सदा साक्षी हो। तुम तो द्रष्टा मात्र हो। तुम कभी कर्ता बनते ही नहीं। तुम कभी भोक्ता भी नहीं बनते। तुम तो दूर खड़े देखते ही रहते हो। तुमने अपने उस द्रष्टा के तल को कभी छोड़ा नहीं। एक क्षण को तुम वहां से डिगे नहीं हो। वही तुम्हारी भगवत्ता है। जिसको विहार आ गया, वही भगवान हो गया।
भगवान जेतवन में विहरते थे। उनकी देशना में निरंतर ही ध्यान के लिए आमंत्रण था।
देशना का अर्थ होता है, कहना, समझाना, फुसलाना, लेकिन आदेश न देना। देशना का अर्थ होता है, राजी करना, लेकिन नियंत्रित न करना। देशना का अर्थ होता है, तुम्हारी बात के प्रभाव में, तुम्हारी बात की गंध में कोई चल पड़े, तो ठीक, लेकिन किसी तरह का लोभ न देना, किसी तरह के दंड की बात न करना। क्योंकि जो लोग लोभ के कारण चल पड़ते हैं, वे चलेंगे ही नहीं। जो दंड के कारण चल पड़ते हैं, वे भी नहीं चलेंगे।
तुमने अगर चोरी इसलिए नहीं की कि तुम्हें नर्क का भय है, तो तुम यह मत सोचना कि तुम अचोर हो, तुम हो तो चोर ही। चोरी भला न की हो, फिर भी तुम चोर हो। अगर नर्क का भय न होता तो तुम जरूर करते। अगर आज तुम्हें पता चल जाए कि नर्क इत्यादि नहीं होते, तो तुम आज ही करोगे। अगर तुमने कुछ पुण्य किया स्वर्ग के लोभ में, तो तुमने किया ही नहीं। तुमने कुछ दान दिया स्वर्ग के लोभ में, तो तुमने दिया ही नहीं। दान का लोभ से कैसे संबंध होगा! दान तो लोभ के विपरीत है। तुमने दिया भी इसीलिए कि पा सको।
पंडित-पुरोहित लोगों को समझाते हैं, यहां एक दो, वहां एक लाख गुना मिलेगा। यह दान हुआ! यह तो बड़ा मजेदार सौदा हुआ। बड़ा अदभुत सौदा हुआ, ऐसा सौदा यहां तो होता ही नहीं कि तुम एक दो और एक लाख गुना मिलेगा। यह तो लाटरी हुई! और यह तो बिल्कुल पक्का है कि मिलने ही वाला है, और इसीलिए तुमने एक दे भी दिया--एक पैसा दे दिया, एक लाख पैसे मिलेंगे; एक रुपया दे दिया, एक लाख रुपये मिलेंगे। यह तो लोभ से दान निकला। और लोभ से दान कैसे निकल सकता है!
दान तो निकलता है जब चित्त अलोभ में होता है। और भय से नीति नहीं निकलती। नीति तो तभी निकलती है जब चित्त अभय में प्रतिष्ठित होता है।
तो बुद्ध न तो भय देते हैं, न लोभ। देशना का अर्थ होता है, सिर्फ निवेदन कर देना, ऐसा है। बस, ऐसा है, वैज्ञानिक ढंग से कह देना।
इसको ठीक से समझो। जैसे वैज्ञानिक अगर तुमसे कहेगा कि आग जलाती है, तो
वह यह नहीं कह रहा है कि आग को छुओ मत। वह कहता है, तुम्हारी मौज। छूना हो छुओ। आग जलाती है। वह यह भी नहीं कह रहा है कि आग तुम न छुओगे तो बड़ा पुण्य होगा। वह इतना ही कह रहा है, न छुओगे तो जलने से बच जाओगे। छुओगे तो जल जाओगे। जलना हो तो छू लो, न जलना हो तो मत छुओ। लेकिन जब वैज्ञानिक कहता है, आग जलाती है, तो वह केवल तथ्य की सूचना दे रहा है। वह इतना ही कह रहा है कि यह आग का गुणधर्म है कि वह जलाती है। तुम्हें करना हो, करो; न करना हो, न करो; तुम्हारे लिए कोई आदेश नहीं है।
देशना का अर्थ होता है, आदेश-रहित उपदेश। सिर्फ तथ्य का निवेदन।
तो बुद्ध निरंतर ही ध्यान के लिए देशना देते थे। सुबह, दोपहर, सांझ, बस
एक ही बात समझाते थे--ध्यान, ध्यान, ध्यान।
एक और झेन फकीर के संबंध में मैंने सुना है। एक विश्वविद्यालय का अध्यापक उसे मिलने गया। उस अध्यापक ने कहा, मुझे ज्यादा समझाने की जरूरत नहीं है, मैं पढ़ा-लिखा आदमी हूं, शास्त्र से परिचित हूं, बौद्ध शास्त्रों का ही अध्ययन किया है, उसी में मैं पारंगत हूं, इसलिए आप मुझे संक्षिप्त भी कहेंगे तो मैं समझ जाऊंगा। इसलिए लंबे प्रवचन की जरूरत नहीं है, आप मुझे सार की बात कह दें। आपने जो पाया है, उसको संक्षिप्त में कह दें। मैं कोई मूढ़ नहीं हूं कि मुझे आप समझाएं। आप बस इशारा कर दें, मैं समझ जाऊंगा। बुद्धिमान को इशारा काफी होता है। ऐसा उसने कहा।
वह फकीर चुप ही बैठा रहा, कुछ भी न बोला। एक शब्द न बोला। थोड़ी देर चुप्पी रही, फिर उस अध्यापक ने पूछा, आप कुछ कहते नहीं? उस फकीर ने कहा, मैंने कहा। मौन ही सार है। तुम समझे नहीं, चूक गये। तुम्हें भ्रांति है कि

तुम बुद्धिमान हो। मैं चुप रहा, मेरी चुप्पी से ज्यादा और क्या कहूं? यही सार है सारे अनुभव का। मैं शांत रहा, तुम्हारे पास आंखें होतीं तो तुम देख लेते यह प्रज्वलित शांति, यह जलता हुआ भीतर का दीया। मैं चुप रहा, तुमने ही कहा था कि ज्यादा मत कहना। शब्द में तो ज्यादा हो जाएगा। मैंने उतना ही कहा जितना कहना जरूरी था; मैं सिर्फ मौजूद था, लेकिन तुम चूक गये। अध्यापक ने कहा, ठीक है, आप ठीक कहते हैं, इतनी गहरी मेरी समझ नहीं है। एकाध-दो शब्दों का उपयोग करेंगे तो चलेगा, फिर से कहें। तो उसने कुछ बोला नहीं, रेत पर बैठा था, अंगुली से रेत पर लिख दिया--ध्यान। अध्यापक ने कहा, इतने से भी काम नहीं चलेगा, कुछ थोड़ा और कहें। फिर बोलते क्यों नहीं हैं? रेत पर लिखने की क्या जरूरत है? उस फकीर ने कहा, बोलने से यहां की शांति भंग होगी। ध्यान शब्द तो बोल दूंगा, लेकिन ध्यान की यहां जो अवस्था बनी है वह भंग होगी। लिखने से भंग नहीं होती, इसलिए रेत पर लिख दिया है। उस अध्यापक ने कहा, थोड़ा और कहें, इतने से काम न चलेगा। तो उसने दुबारा ध्यान लिख दिया। अध्यापक ने और जोर मारा तो उसने तीसरी बार ध्यान लिख दिया। अध्यापक तो पगला गया, उसने कहा, आप होश में हैं? आप वही-वही शब्द दोहराए जा रहे हैं।
झेन फकीर हंसने लगा, उसने कहा, सारे बुद्धों ने बस एक ही शब्द दोहराया है, सारे जीवन एक ही शब्द दोहराया है--कितने ही शब्दों का उपयोग किया हो, लेकिन दोहराया एक ही शब्द है--ध्यान, ध्यान, ध्यान। भाषा बदली हो, शैली बदली हो, कथा बदली हो, प्रसंग बदला हो, लेकिन एक ही बात कही है--ध्यान, ध्यान, ध्यान।
सुबह, दोपहर, सांझ, बस एक ही बात समझाते थे--ध्यान। सागर जैसे कहीं से
भी चखो खारा है, वैसे ही बुद्धों का भी एक ही स्वाद है--ध्यान।
बुद्धों को भी कहीं से भी चखो, ध्यान का ही स्वाद आएगा। फिर बुद्ध चाहे महावीर हों, चाहे मोहम्मद हों, चाहे कृष्ण हों, चाहे क्राइस्ट हों, इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता। जहां बुद्धत्व हुआ है, वहां से बस एक ही खबर आती है, एक ही निमंत्रण आता है, एक ही बुलावा आता है--ध्यान।
बुद्ध बार-बार ऐसा कहते थे कि जैसा सागर को कहीं से भी चखो, खारा ही है। इस घाट चखो, उस घाट चखो; दिन में चखो, रात में चखो; चुल्लू से चखो कि प्यालियों में भरकर चखो, सागर खारा ही है। ऐसे ही बुद्धों से दिन में सुनो कि रात, कि इस कोने से आओ कि उस कोने से, कि यह प्रश्न पूछो कि वह, इस बुद्ध से पूछो कि उस बुद्ध से, जो भी जाग गये हैं उनका स्वाद एक ही है--ध्यान। स्वभावतः, जागे हुए का एक ही स्वाद होगा--जागरण। और सोए हुए का एक ही स्वाद होता है--निद्रा। सोए हुए आदमी कितने ही भिन्न हों, उनकी नींद एक जैसी है, उनकी तंद्रा एक जैसी है।
तुम सब यहां सो जाओ आज रात, तो जब तक जागे हो तब तक थोड़ा-बहुत शायद भेद
भी हो, सोते ही तो सब भेद मिट जाएंगे। एक सी निद्रा सब पर छा जाएगी। फिर कोई आकर अलग-अलग चेहरों का निरीक्षण करने लगे, तो एक ही तो स्वाद पाएगा, निद्रा का। कितना ही खोजबीन करे--स्त्रियां सोयी होंगी, पुरुष सोए होंगे; बच्चे सोए होंगे, बूढ़े सोए होंगे; स्वस्थ सोया होगा, अस्वस्थ सोया होगा; कुरूप और सुंदर सोए होंगे, गरीब और धनी सोए होंगे, संसारी और संन्यासी सोए होंगे-- लेकिन नींद एक सी होगी। नींद का स्वाद एक सा है। बेहोशी नींद का स्वाद है। ऐसी ही घटना परम जागरण में भी घटती है। जो भी जागे, उनका स्वाद एक है। निश्चित ही उनके शब्द अलग हैं--कृष्ण संस्कृत में बोले, बुद्ध पाली में बोले, महावीर प्राकृत में बोले, जीसस अरेमैक में बोले, मोहम्मद अरबी में बोले, भाषाओं के भेद हैं; अलग-अलग घाट, अलग-अलग रंग-ढंग की प्यालियां, अलग-अलग देश, अलग-अलग काल में बने हुए पात्र हैं, लेकिन स्वाद एक है। और जो इस स्वाद को पहचान लेता है, वही धार्मिक है। फिर वह हिंदू नहीं रह जाता, मुसलमान नहीं रह जाता, ईसाई नहीं रह जाता, सिर्फ धार्मिक रह जाता है। और धार्मिक होना परम स्वतंत्रता है। तब फिर कहीं से भी खबर आती है, वह पहचान लेता है कि वह संदेश भगवान का ही है।
ध्यान का अर्थ है--निर्विचार चैतन्य।

थाटलेस कांशसनेस। निर्विचार चैतन्य को ख्याल में लो। दो बातें हैं;
एक तो निर्विचार, कंटेंटलेस, कोई विषय-वस्तु न रह जाए चेतना में। कोई चीज बचे न जिसके संबंध में तुम सोच रहे हो, कोई सोच-विचार न बचे। जैसे कि दीया जले, लेकिन दीये के आसपास कोई भी चीज न हो जिस पर प्रकाश पड़े। ऐसी चैतन्य की दशा हो कि आसपास कुछ भी न हो जिस पर चेतना पड़े, जिसके प्रति तुम चेतन होओ; कुछ भी चेतन होने को न बचे, सिर्फ चेतना बचे, शुद्ध चेतना बचे।
तो पहली तो बात है, विचार शांत हो जाएं, शून्य हो जाएं, विदा हो जाएं। आकाश से बदलियां चली जाएं, कोरा आकाश बचे।
और दूसरी बात है, यह आकाश जागा हुआ हो, चैतन्यपूर्ण हो। अक्सर ऐसा नींद में हो जाता है, गहरी निद्रा में विचार तो चले जाते हैं, स्वप्न भी चले जाते हैं; लेकिन साथ ही साथ तुम भी चले जाते हो। इसलिए पतंजलि ने सुषुप्ति को ध्यान के बहुत करीब कहा है, जरा सा भेद बताया है। वह जरा सा भेद बड़ा है, छोटा नहीं। पतंजलि ने कहा है, सुषुप्ति और समाधि एक जैसे हैं, जरा सा भेद है। सुषुप्ति में निद्रा होती है, समाधि में जागरण होता है, इतना सा भेद है; अन्यथा दोनों एक जैसे हैं, क्योंकि दोनों में विचार नहीं होते। सुषुप्ति भी निर्विचार होती है और समाधि भी निर्विचार होती है। मगर समाधि में भीतर का आदमी जागा होता है।
ऐसा समझो कि एक आदमी को क्लोरोफार्म दे दिया और उसको स्ट्रेचर पर रखकर ले आए और इस बगीचे में घुमाया। जरूर उसके नासापुट फूलों की गंध से परिचित होंगे, लेकिन उसे होश नहीं। ठंडी हवाएं उसके मुख को छुएंगी, शीतलता उसके आसपास बहेगी, लेकिन उसे पता नहीं। पक्षी गीत गाएंगे, लेकिन उसे पता नहीं; सुंदर फूल खिलेंगे, लेकिन उसे पता नहीं। फिर तुम उसे बगीचे में घुमाकर ले गये, जब उसे होश आएगा तो वह कुछ भी न कह सकेगा कहां गया था। गया तो था बगीचे में, लेकिन वह खुद कुछ भी न कह सकेगा। वह होश में नहीं था, बगीचे में तो गया था, लेकिन होश में नहीं था।
फिर उसी आदमी को होश में लाओ--बगीचा वही है, पक्षी वही हैं, उनकी गुनगुनाहट वही है, गंध वही है, हवाएं वही हैं, लेकिन अब यह आदमी जागा हुआ है।
सुषुप्ति में हम रोज ही उस बगीचे में जाते हैं जिसका नाम परमात्मा है, लेकिन हम जाते हैं बेहोश--क्लोरोफार्म की दशा में। रोज-रोज हम उसके पास पहुंचते हैं। इसीलिए जिस दिन तुम ठीक से नहीं सो पाते, उस दिन बड़ी बेचैनी लगती है। उस दिन परमात्मा से संबंध न हो पाया। मूर्च्छित ही सही, लेकिन अपने घर लौट जाते हो गहरी नींद में--ऊर्जा मिलती, जीवन मिलता, ताजगी मिलती। जिस दिन गहरी नींद आ गयी, उस दिन सुबह तुम उठकर अपने को ताजा पाते हो, नया जीवन पाते हो। जिस दिन गहरी नींद न आयी, उस दिन तुम थके-मांदे होते हो सुबह, अपने मूलस्रोत से संबंध न जुड़ा।
सुषुप्ति में भी संबंध जुड़ता है, लेकिन संबंध मूर्च्छा का है। समाधि में संबंध जुड़ता है होशपूर्वक, जागे हुए तुम परमात्मा में प्रवेश करते हो, जागे हुए लौटते हो। और अगर जागकर गये और जागकर लौटे, तो फिर लौटते ही कहां! फिर तो वहीं स्थित हो जाते हो। फिर आना-जाना सब चलता रहता है और तुम बने वहीं रहते हो, वहीं, ठीक अपने अंतस्तल के केंद्र पर।
निर्विचार चैतन्य ध्यान का अर्थ है।
पांच सौ भिक्षु भगवान का आवाहन सुन ध्यान को तत्पर हुए। भगवान ने उन्हें अरण्यवास में भेजा। एकांत ध्यान की भूमिका है।
ध्यान के प्राथमिक चरण में एकांत गहरा साथ देता है। एकांत का इतना ही अर्थ नहीं है कि तुम अकेले होओ। एकांत का यही अर्थ है कि तुम्हारे भीतर भीड़ न हो। तो बाहर की भीड़ भी अगर छोड़ दो तो थोड़ा सहयोग मिलता है, लेकिन थोड़ा। उस पर ही निर्भर मत हो जाना। क्योंकि कोई जंगल में भी बैठकर औरों का विचार कर सकता है। पहाड़ की गुफा में बैठकर भी घर की सोच सकता है, दुकान की सोच सकता है--सोचने पर कोई नियंत्रण नहीं है। तो भीड़ तो फिर भीतर बनी रहेगी। न भीड़ बाहर हो, न भीड़ भीतर हो। दूसरे की मौजूदगी भीड़ है--वस्तुतः या विचारतः। दूसरे की अनुपस्थिति एकांत है।

अगर तुम बाजार में, भीड़ में बैठे हुए एकांत साध पाओ, तो इससे सुंदर कुछ
भी नहीं। अगर यह कठिन हो शुरू-शुरू में, तो कभी-कभी समय निकालकर पहाड़ पर चले जाओ, जंगल में चले जाओ--वर्ष में कुछ दिन अकेले में बिताओ, जहां बिल्कुल भूल जाओ कि कोई दूसरा है भी। जहां तुम एकमात्र बचो। जहां कोई बोलने को न हो, जहां कोई विचारने को न हो, जहां दूसरा तुम्हारी सीमा न बनाता हो, वहां तुम असीम हो जाओगे।
एकांत ध्यान की भूमिका है।
प्राथमिक भूमिका है। शुरू-शुरू में सभी को सहयोग मिलता है। लेकिन इस एकांत से जो ग्रसित हो जाते हैं, उन्होंने भूमिका का उपयोग न किया, भूमिका उनके लिए फांसी बन गयी। कुछ लोग जंगल जाते, फिर लौटने में डरने लगते हैं। एकांत में जाना जरूर, लेकिन एकांत लक्ष्य नहीं है। एकांत तो केवल प्राथमिक भूमिका है। आना तो लौटकर यहीं है। परीक्षा तो यहीं होगी। अगर एकांत में जाकर अच्छा लगा और तुम उस अच्छे लगने के कारण वहीं बस रहे और तुम डरने लगे कि अब भीड़ में जाएंगे तो ध्यान टूट जाएगा, तो ध्यान तुम्हारा लगा ही नहीं। जो भीड़ में जाने से टूट जाए, वह ध्यान नहीं है।
ध्यान का तो अर्थ ही यही है कि अब तुम इतने सबल हो गये कि अब अगर तुम भीड़ में भी आओगे, तो भी कोई अंतर न पड़ेगा। भीड़ हो या न हो, तुम्हारे भीतर अब भीड़ नहीं हो सकती, तुम इतने तो जाग गये।
हां, शुरू-शुरू में उपयोगी हो सकता है। हम पौधे को लगाते हैं, तो शुरू- शुरू में उसके पास बागुड़ लगा देते हैं। अभी कमजोर है, अभी कोमल है, अभी जरा सी चीज से टूट जाएगा--हवा का बड़ा झोंका आ जाए, कि कोई जानवर आ जाए, कि कोई बच्चा उखाड़ ले। जल्दी ही पौधा बड़ा हो जाएगा, पौधा बागुड़ के ऊपर निकल जाएगा, फिर बागुड़ हम हटा देंगे--अब कोई हर्जा नहीं है, अब पौधे की अपनी जड़ें फैल गयी हैं जमीन में, अब वह अपने पैरों खड़ा हो गया, अब आकाश से होड़ लेगा, बड़ी हवाओं से टक्कर लेगा; अब आए जिसे आना हो, अब कोई अंतर नहीं पड़ेगा। ऐसा ही ध्यान है। शुरू में कोमल तंतु होते ध्यान के, तब एकांत उपयोगी है।
इसलिए बुद्ध ने एकांत में भेजा, अरण्य में भेजा, कहा--जंगल चले जाओ। अव्यस्तता ध्यान का द्वार है।
और जंगल में अव्यस्त हो जाना आसान होगा, करने को कुछ बचेगा नहीं। भीड़-भाड़ में तो अब करने को हजार बातें हैं, करना ही करना, सुबह से सांझ तक करना ही करना, हम उसमें डूब ही जाते हैं। करने की बाढ़ है, मौका ही नहीं मिलता कि कभी थोड़ी देर को न-करने का मजा भी लें। और करने वालों ने इस बुरी तरह हमारे मन को आच्छादित किया है कि अगर तुम खाली बैठे हो, तो लोग कहेंगे, आलसी हो। अगर तुम खाली बैठे हो, तो लोग कहेंगे, खाली मत बैठो, खाली मन शैतान का घर हो जाता है। अगर तुम थोड़ी देर को आंख बंद करके बैठे हो, तो लोग कहेंगे, क्या आलस्य कर रहे हो, अरे कुछ करो! कर्मठ बनो! आंख बंद करके तुम बैठते हो तो तुम देख लेते हो, कोई देख तो नहीं रहा है! नहीं तो लोग समझेंगे कि क्या कर रहे हो!
न-करने के संबंध में इतना विरोध है, शांत बैठने के संबंध में इतना विरोध है कि आदमी बैठता भी है तो द्वार-दरवाजे लगाकर, खिड़की बंद करके बैठता है, कि कोई देखे न। क्योंकि लोग कहते हैं, कुछ कर रहे हो तब तो ठीक, कुछ नहीं कर रहे तो फिर क्या कर रहे हो! समय क्यों गंवाते हो? सुनते हो न, लोग कहते हैं, समय धन है, टाइम इज मनी। पागल हैं ये लोग। कहते हैं, समय को निचोड़ लो, कुछ कर गुजरो, कुछ थोड़ा धन और बढ़ा लो, एक पद पर और चढ़ जाओ, तिजोड़ी थोड़ी और बड़ी कर लो, मकान थोड़ा और बड़ा बना लो, कुछ कर गुजरो! थोड़ा समय हाथ में है, अभी तो मौत आएगी, सब पड़ा रह जाएगा, मगर इसकी उन्हें याद भी नहीं। वह कहते हैं, समय का उपयोग कर लो।
करने-करने की बड़ी आपाधापी है। और जो भी जीवन का परम सत्य है, न-करने में उपलब्ध होता है। कर्म से नहीं, अकर्ता के भाव से उपलब्ध होता है। शांत और शून्य दशा में उपलब्ध होता है। करने से संसार मिलता है, न-करने से परमात्मा मिलता है। किये-किये मिट्टी से ज्यादा कुछ हाथ नहीं लगता। सोना तो बरसता है जब तुम न-करने की दशा में आते हो।

तो भेजा उन्हें एकांत में ताकि अव्यस्त हो सकें। अनआकूपाइड। छोटे- मोटे जीवन के रोजमर्रा के काम न रह जाएं। घड़ियां खाली हों। शांत वृक्षों के नीचे बैठ सकें। पक्षियों के गीत सुन सकें। जल-प्रपात का नाद सुन सकें।
सरिता की कलकल सुन सकें। हवाओं की मरमर वृक्षों से निकलती हुई सुन सकें।
आकाश के चांद-तारे देख सकें।
प्रकृति-सान्निध्य अपूर्व रूप से सहयोगी है।
मनुष्य ने एक दुनिया बना ली है--प्रकृति के विपरीत मनुष्य ने अपनी दुनिया बना ली है। सीमेंट के रास्ते, सीमेंट के मकान, सीमेंट के जंगल आदमी ने बना लिये हैं, उनमें कहीं खबर ही नहीं मिलती कि परमात्मा भी है। बड़े नगर में परमात्मा करीब-करीब मर चुका है। क्योंकि परमात्मा की खबर वहां मिलती है जहां चीजें बढ़ती हैं। पौधा बड़ा होता है तो खबर देता है जीवंत है। अब कोई मकान बड़ा तो होता नहीं, जैसा है वैसा ही होता है। रास्ता सीमेंट का कोई बढ़ता तो नहीं, जैसा है वैसा ही रहता है--मुर्दा है।
जीवन का लक्षण क्या है? बढ़ाव, वृद्धि। वर्द्धमान होना जीवन का लक्षण है। हमने एक मुर्दा दुनिया बना ली है--मशीनें बढ़तीं नहीं, मकान बढ़ते नहीं, सीमेंट के रास्ते बढ़ते नहीं, सब मुर्दा है। सब ठहरा हुआ है। इस ठहरे हुए में हम जी रहे हैं, हम भी ठहर गये हैं। जिनके साथ हम रहते हैं, वैसे ही हम हो जाते हैं।
मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि जो आदमी मशीनों के साथ काम करता है, धीरे- धीरे मशीन ही हो जाता है। हो ही जाता है। यह बिल्कुल स्वाभाविक है। हमारा कृत्य धीरे-धीरे, धीरे-धीरे हमारी आदतें बना देता है। वही हमें घेर लेता है। आदमी ने जो एक लोहे और सीमेंट की दुनिया बनायी है, वह बड़ी खतरनाक है। वहां आदमी के हस्ताक्षर तो मिलते हैं, लेकिन परमात्मा की कोई खबर नहीं मिलती।
परमात्मा को खोजने के लिए, परमात्मा की थोड़ी झलक के लिए प्रकृति के करीब जाना उपयोगी है। क्योंकि वहां सब कुछ नाचता हुआ है, अभी भी जीवित है। अभी भी वृक्ष बढ़ते हैं, अभी भी फूल खिलते हैं।
शहरों में तो आकाश दिखायी ही नहीं पड़ता। महानगरों में तो चांद-तारे ऊगते कि नहीं, पता ही नहीं चलता। महानगरों में सूरज अब भी आता है कि जाता है, कब आता है, कब जाता है, किसी को खबर नहीं होती। जीवन का जो भी श्रेष्ठ है, सुंदर है, उसकी तरफ आंखें बंद हो गयी हैं। अपनी आंखें गड़ाए हम भागे जाते हैं, घर से दफ्तर, दफ्तर से घर। एक मकान से दूसरे मकान में भागते रहते हैं। चारों तरफ भीड़ है, आदमी ही आदमी हैं, चारों तरफ पागलपन है, चारों तरफ उपद्रव है, दंगे-फसाद हैं और चारों तरफ आदमी की बनायी हुई झूठी, कृत्रिम दुनिया है। इस झूठ में अगर परमात्मा मर गया हो या परमात्मा का पता न चलता हो तो कुछ आश्चर्य तो नहीं।
इस सदी में अगर परमात्मा सबसे कम मौजूद है, तो उसका कुल कारण इतना है
कि आदमी बहुत मौजूद हो गया है। और आदमी ने सब तरफ अपना इंतजाम कर लिया है। सब तरफ से परमात्मा को खदेड़कर बाहर कर दिया है। परमात्मा का निष्कासन कर दिया गया है। उसे दूर फेंक दिया गया है, रहे कहीं हिमालय में, रहे कहीं पहाड़ों में, रहे कहीं जंगलों में।
बुद्ध अपने भिक्षुओं को भेजते थे अरण्य में कि चले जाओ। और उन दिनों
तो आदमी इतना मजबूत नहीं था जितना आज है, और उन दिनों तो नगर इतने विकृत न हुए थे जितने आज हैं, फिर भी बुद्ध भेजते थे जंगलों में। उन्होंने भी वृक्षों और नदियों के किनारे बैठकर उसकी झलक पायी थी। तो उन्होंने भेजा। प्रकृति-सान्निध्य अपूर्व रूप से सहयोगी है।
मंदिर भी तुम्हारे उतनी खबर नहीं देते परमात्मा की, न तुम्हारी मस्जिद, न तुम्हारे गुरुद्वारे, जितनी खबर एक वृक्ष देता है। जीवंतता, बढ़ाव, फैलाव।
वृक्ष को देखते हो? अपूर्व है। इतना रहस्यमय है! एक गहरा जगत अपने भीतर छिपाए हुए है। उसके भी बड़े सपने हैं आकाश को छूने के। उसकी भी बड़ी महत्वाकांक्षा है। वह भी अपने जीवन के लिए संघर्ष करता है और टिकता है।
उसके भीतर भी कोई प्राण छिपा है, कोई आत्मा है।

पशु-पक्षियों को गौर से देखते हैं? उनकी आंख में झांकते हैं? प्रकृति सदा से ध्यान के करीब लाने का एक अपूर्व उपाय रही है।
उन पांच सौ भिक्षुओं ने बहुत सिर मारा।
गये जंगल, बहुत सिर मारा, मगर कुछ परिणाम न हुआ। जंगल गये होंगे, जंगल गये नहीं। पहुंच तो गये होंगे वृक्षों के पास, झरनों के पास, लेकिन अपने ही मन में घिरे रहे होंगे। वे आदमी के मन में ही उलझे रहे होंगे। बात समझे नहीं। जंगल जाने से ही थोड़े कुछ हो जाएगा। जंगल के प्रति संवेदनशील होना चाहिए। जंगल जाने का अर्थ है, आदमी और आदमी की सभ्यता पीछे छोड़ जानी चाहिए। अगर उस सभ्यता को तुम अपने मन में ले गये--जिनका नाम संस्कार है-- अगर उन संस्कारों को तुम अपने साथ ले गये, तो तुम वहां भी उन्हीं संस्कारों में घिरे बैठे रहोगे। तो ऊपर से तो दिखायी पड़ता है कि तुम जंगल आ गये, लेकिन भीतर से तुम कहीं भी आए न कहीं गये। तुम वहीं के वहीं हो, जहां थे।
उन्होंने बहुत सिर मारा, मगर परिणाम कुछ न हुआ।
और शायद बुद्ध की बात सुनकर वे लोभ में पड़ गये। ध्यान की महिमा सुनी होगी, ध्यान का गुणगान सुना होगा, ध्यान का अपूर्व आनंद सुना होगा, सच्चिदानंद की बातें सुनी होंगी, समाधि के सुख का बुद्ध का वचन मन में लोभ को जगाया होगा। मन में वासना उठी होगी कि ऐसी समाधि हमें भी मिले। गये थे, लेकिन बिना समझे चले गये। गये थे, लेकिन ठीक से समझकर न गये कि ध्यान कैसी परिस्थिति में पैदा होता है, कैसी मनःस्थिति में पैदा होता है। तो बहुत सिर मारा--सिर मारने से क्या होगा! सिर मारने से ध्यान होता होता तो बड़ी आसान बात हो जाती। समझ चाहिए, सिर मारने से कुछ भी नहीं होता। और समझ न हो तो सिर मारने से और उलझन बढ़ सकती है। समझ हो तो सूत्र बड़े सरल हैं, सहज हैं। फिर सिर मारने में उन्होंने किया क्या होगा? लड़े होंगे विचारों से। सिर मारने का मतलब साफ है, लड़े होंगे विचारों से। बुद्ध ने कहा, निर्विचार चैतन्य; तो विचारों को हटाने की कोशिश की होगी, मारामारी की होगी विचारों के साथ। और जब तुम विचारों से लड़ोगे तो तुम उनको कभी न हटा पाओगे। विचार लड़ने से कभी हटते ही नहीं; बढ़ते हैं, और बढ़ते हैं।
किसी एक विचार से लड़कर देखो, वह तुम्हारा पीछा करने लगेगा। जितना तुम उसे हटाओगे, उतना वह तुम्हारे संग-साथ होने लगेगा। उछल-उछलकर तुम्हारे बगल में चलेगा, आगे-पीछे होगा; तुम उसे हटाओ, तुम्हारे हटाने से नहीं हटेगा। तुम्हारे हटाने की चेष्टा से उसको और बल मिलेगा।
नहीं, विचारों से लड़कर कोई विचारों से मुक्त नहीं होता, विचारों के प्रति साक्षी बनकर मुक्त होता है। और साक्षी बनने में कैसा सिर मारना! साक्षी बनने में सिर मारना ही नहीं होता। साक्षी बनने में तो बैठ जाता है आदमी चुपकी मारकर भीतर; विचार आते, जाते--देखता। न पक्ष में सोचता है न विपक्ष में सोचता है। न तो कहता बुरे हैं, न कहता भले हैं। कोई मूल्यांकन नहीं करता, कोई निर्णय नहीं लेता--आएं, जाएं, उदासीन, तटस्थ। न राग, न विराग। आओ तो ठीक, न आओ तो ठीक। न बुलाता है, न धकाता है।
ऐसी चित्त की दशा में, जब न विचार कोई बुलाए जाते और न धकाए जाते, धीरे- धीरे विचार तिरोहित हो जाते हैं। सन्नाटा छा जाता है।
उस सन्नाटे के छा जाने पर भी साक्षीभाव में बैठा आदमी एकदम दीवाना नहीं हो जाता है कि मिल गया, मिल गया--क्योंकि मिल गया, कि विचार आ गया।
जैसे ही कहा, मिल गया, चूक गये। पहुंचते-पहुंचते फिसल गया पैर। पड़ने को था आखिरी मंजिल पर और गिर गये गड्ढे में।
आखिरी समय तक पीछा करेगा मन अगर तुमने जरा सी भी उसको सुविधा दी। तुमने कहा, मिल गया, कि पा लिया, कि अरे, यही है, बस ये शब्द बन गये कि चूक गये, कि बाधा पड़ गयी।
तो विचार के प्रति सिर्फ जागना है, और जागकर जब विचार चला जाए तो शून्य को भी पकड़ नहीं लेना है। शून्य जब आए तो उसके प्रति भी उदासी रखना-- सुन लो ठीक से, तुम्हारे जीवन में भी वह घटना कभी न कभी घटेगी, घटनी चाहिए-- जब शून्य आए तो एकदम से प्रफुल्लित मत हो जाना, नहीं तो विचार ने फिर दांव

मार दिया, फिर पीछे से आ गया, फिर पीछे के दरवाजे से घुस आया। बाहर ही खड़ा था, देख रहा था कि कहीं मौका मिल जाए तो प्रवेश कर जाएं।
शून्य आए तो शून्य को भी देखना उसी तरह निष्पक्ष जैसे विचारों को देख रहे थे। कहना--ठीक है, तुम भी आए तो ठीक, जाओ तो ठीक; तुमसे भी मुझे कुछ लेना-देना नहीं है। शांति भी आए तो शांति को भी ऐसे ही देखना, उदास, नहीं कुछ रस लेना। तब शांति बढ़ेगी, तब शून्य घना होगा और धीरे-धीरे विचार थक जाएगा, इतना थक जाएगा कि उसमें प्राण न रह जाएंगे कि वह वापस लौट सके। इस दशा का नाम ध्यान है।
उन्होंने बहुत सिर मारा, मगर कुछ परिणाम न हुआ।
सिर मारने से परिणाम होता भी नहीं। सिर मारने से विक्षिप्त हो सकते हो, विमुक्त नहीं। यह कोई जिद्दा-जिद्द थोड़े ही है, यह कोई लड़ाई-झगड़ा थोड़े ही है, यह कोई युद्ध थोड़े ही है, यहां समझ काम आती है।
वे पुनः भगवान के पास आए ताकि ध्यान-सूत्र फिर से समझ लें। भगवान ने उनसे कहा--बीज को सम्यक भूमि चाहिए, अनुकूल ऋतु चाहिए, सूर्य की रोशनी चाहिए, ताजी हवाएं चाहिए, जलवृष्टि चाहिए, तभी बीज अंकुरित होता है। और ऐसा ही है ध्यान। सम्यक संदर्भ के बिना ध्यान का जन्म नहीं होता।
और तब उन्होंने ये सूत्र उन पांच सौ भिक्षुओं को कहे। ये सूत्र अपूर्व मूल्य के हैं--

सब्बे संखारा अनिच्चाति यदा पांंय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे एस मग्गो विसुद्धिया।।
सब्बे संखारा दुक्खाति यदा पांंय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे एस मग्गो विसुद्धिया।।
सब्बे धम्मा अनत्ताति यदा पांंय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे एस मग्गो विसुद्धिया।।

यह है मार्ग विशुद्धि का--एस मग्गो विसुद्धिया--और तीन बातें कहीं। ये तीन बुद्ध-धर्म के मूल आधार हैं। इन तीन पर बुद्ध की सारी देशना खड़ी है। इन पर उनका पूरा मंदिर बना है।
पहला--

सब्बे संखारा अनिच्चाति।

सब संस्कार अनित्य हैं। जो भी है इस जगत में, क्षणभंगुर है। यहां कुछ
भी स्थिर नहीं है। यह पहला सूत्र है, यह पहली आधारशिला।

सब्बे संखारा अनिच्चाति यदा पांंय पस्सति।

ऐसा जिसने प्रज्ञापूर्वक देख लिया कि इस संसार में सभी कुछ क्षणभंगुर है। फिर वह कुछ पकड़ेगा नहीं। फिर पकड़ने को कुछ बचा ही नहीं। जहां पानी के बबूले ही बबूले हैं, वहां पकड़ने को क्या है! जब संसार ही पूरा का पूरा पानी का बबूला है, तो तुम्हारे विचार तो बबूलों की छायाएं हैं समझो, बबूले भी नहीं। संसार बबूला है। एक सुंदर स्त्री द्वार से निकल गयी, बुद्ध कहते हैं, यह सुंदर स्त्री पानी का बबूला है। और इस सुंदर स्त्री का जो प्रतिबिंब तुम्हारे मन में बना, वह विचार है, वह तो बबूले की छाया, वह तो बबूला भी नहीं है। वह तो बबूले का फोटोग्राफ।

सब्बे संखारा अनिच्चाति।

सब अनित्य है। इस भाव में गहरे उतरें। तो बुद्ध ने कहा--यह पहली भूमिका। इससे सम्यक भूमि मिल जाएगी बीज को कि सब अनित्य है, तो पकड़ने को क्या है। जब संसार अनित्य है तो विचारों की तो कहना ही क्या, विचार तो

संसार की छायाएं मात्र हैं। छाया की छाया। फिर उसमें पकड़ने जैसा कुछ भी नहीं है।
हम विचारों में इतना रस लेते हैं, क्योंकि विचारों को हम सोचते हैं बड़े बहुमूल्य हैं। और हम विचारों को इसीलिए बहुमूल्य सोचते हैं, क्योंकि हम सोचते हैं इन्हीं विचारों के माध्यम से जगत में कुछ कर लेंगे, संसार में कुछ हो लेंगे। धन कमा लेंगे, पद कमा लेंगे, सौंदर्य पा लेंगे, कुछ कर गुजरेंगे जगत में। लेकिन अगर जगत पूरा का पूरा अनित्य है, आज है, कल नहीं हो जाएगा... ।
थोड़ा सोचो, तुम एक नदी के तट पर बैठे हो, एक चट्टान पर बैठे हो, सामने नदी की धार बह रही है, पास में ही रेत का ढेर लगा है। तुम अगर पानी पर अपने हस्ताक्षर करो तो तुम कर भी न पाओगे कि वह मिट जाएंगे। तो तुम पानी पर हस्ताक्षर नहीं करोगे। या कि करोगे? क्योंकि तुम देखते हो कि कर भी नहीं पाते हैं, मिट जाते हैं, पानी का स्वभाव ऐसा, यहां बना नहीं कि मिट गया नहीं, तुमने हस्ताक्षर कर भी दिये पानी पर तो टिकेंगे नहीं। तो तुम पानी पर नहीं करोगे।
रेत पर लिखोगे? रेत पर लिखोगे तो पानी से ज्यादा टिकते हैं, मगर हवा का
एक झोंका आया और मिट जाते हैं। नहीं, तुम रेत पर भी लिखने में कुछ मजा न लोगे। तुम चट्टान पर करोगे। तुम चट्टान पर खोदोगे नाम। लेकिन चट्टान भी मिट जाती है, थोड़ी देर-अबेर। समझो कि पानी बहुत जल्दी बिखर जाता, रेत थोड़ी देर से, चट्टान और थोड़ी देर से। जो रेत है वह कभी चट्टान थी, ख्याल रखना। और जो चट्टान है, वह कभी रेत हो जाएगी। और मजा यह है कि चट्टान को जिसने रेत बना दिया वह पानी है। जो पानी से हार गयी वह पानी से मजबूत कैसे होगी? पानी पर दस्तखत करने में घबड़ाते हो, चट्टान पर दस्तखत कर रहे हो; और तुम्हें पता नहीं कि पानी चट्टान को तोड़ देता है।
इस जीवन में हम जो भी कर गुजरने की आकांक्षाएं लिये बैठे हैं, वे सब पानी पर हस्ताक्षर जैसी हैं। चट्टान पर भी हस्ताक्षर करो तो वे भी चले जाते हैं, वे भी बचते नहीं। कितने लोग इस जमीन पर हुए--कितने लोग नहीं हुए इस जमीन पर। वैज्ञानिक कहते हैं, तुम जिस जगह बैठे हो, वहां कम से कम दस आदमियों की लाशें गड़ी हैं। यह पूरी जमीन मरघट है। इतने लोग पैदा हुए; जहां आज नगर हैं, कभी मरघट थे, जहां आज मरघट हैं, कभी नगर थे। कई दफे बदली हो चुकी है। यह पूरी पृथ्वी मरघट बन गयी। इसमें न-मालूम कितने लोग पैदा हुए, खो गये। उनका तुम्हें नाम पता? ठिकाना पता? कौन थे? क्या थे? तुम्हारी जैसी ही उनकी भी महत्वाकांक्षाएं थीं, और तुम्हारे जैसे ही उन्होंने भी बड़े- बड़े सपने बांधे थे, और तुम्हारे जैसे ही वे भी इंद्रधनुषों में जीते थे, और तुम्हारे जैसे वे भी नाम छोड़ जाना चाहते थे। क्या छूट गया है? तुम भी ऐसे ही खो जाओगे जैसे वे खो गये।
और फिर यह भी सोचो कि किसी का नाम भी छूट गया--समझो कि सिकंदर का नाम छूट गया--तो सार क्या है? नाम में सार क्या है? नाम छूट भी जाए तो क्या सार है? क्या फायदा सिकंदर को? इस नाम के छूट जाने से कौन सा आनंद सिकंदर को? सिकंदर न बचा, और नाम बच भी गया तो क्या करोगे? जब स्वयं ही न बचे, तो स्वयं की तस्वीरें अगर टंगी भी रह गयीं, तो उनका मूल्य क्या है? किसको मूल्य है? किसको प्रयोजन है?
बुद्ध कहते हैं, अगर ध्यान में वस्तुतः गहरे उतरना हो तो पहली बात प्रगाढ़ कर लेना, यह पहला भाव तुम्हारी हवा बन जाए--

सब्बे संखारा अनिच्चाति।

सब संसार अनित्य है। सब, बेशर्त, निरपवाद क्षणभंगुर है। अभी है, अभी चला जाएगा। तो इसमें पकड़ने योग्य कुछ भी नहीं है। साक्षी बनकर भीतर बैठना। संसार में पकड़ने योग्य कुछ नहीं है। आंख बंद जब करोगे तो विचारों का संसार दिखायी पड़ेगा, इसमें तो पकड़ने योग्य कुछ हो भी कैसे सकता है। आएं बुरे विचार, जाएं बुरे विचार, आएं भले विचार, जाएं भले विचार, आने देना, जाने देना, तुम परेशान ही मत होना, तुम चिंता ही मत लेना। तब तुम चकित होकर

पाओगे, यह जो अनित्य भावना है, इसके आधार पर ध्यान की जड़ें मजबूत हो जाती हैं। ध्यान पैदा होता है अनित्य की धारणा में।
इसलिए सारे ज्ञानियों ने, संसार अनित्य है, इस पर बहुत जोर दिया है।
और बुद्ध का जोर तो अतिशय है। बुद्ध ने तो जोर पूरे अंतिम तर्क तक पहुंचा दिया है। बुद्ध ने यही नहीं कहा कि संसार अनित्य है, बुद्ध ने कहा, तुम भी अनित्य हो। क्योंकि बहुत से लोग हैं, जिन्होंने कहा, संसार अनित्य है। लेकिन तुमसे कहा, तुम, तुम बचोगे। आत्मा बचेगी। बुद्ध ने कहा, यहां कुछ भी नहीं बचेगा। न यह बाहर का बचेगा, न कुछ भीतर का बचेगा, यहां कुछ बचता ही नहीं है।
इसे समझने की कोशिश करना। यहां बचना होता ही नहीं है। यहां बहाव ही बहाव है। यहां सब बह रहा है। तुम भी बह रहे, संसार भी बह रहा है। इस बहाव के बीच ठहरने की कोई जगह ही नहीं है, कोई शरण-स्थल नहीं है। इस बात की प्रज्ञा--

सब्बे संखारा अनिच्चाति यदा पांंय पस्सति।

इस बात का तुम्हें दर्शन हो जाए, इसका बोध हो जाए, तो ध्यान लगेगा।
"तब सभी दुखों से निर्वेद प्राप्त हो जाता है, यही विशुद्धि का मार्ग है।"
अथ निब्बिन्दति दुक्खे एस मग्गो विसुद्धिया।

बुद्ध कहते हैं, यह है विशुद्धि का मार्ग। ध्यान यानी विशुद्धि।

एस मग्गो विसुद्धिया।

पहला सूत्र, पहला चरण इस विशुद्ध होने के मार्ग का कि सब संसार अनित्य है। दूसरा सूत्र--

सब्बे संखारा दुक्खाति।

ये संस्कार दुखरूप हैं। यह सारा संसार दुखरूप है। इसमें अगर जरा सी
भी आशा रखी कि शायद कहीं थोड़ा-बहुत सुख छिपा हो, तो उतनी आशा के सहारे ही ध्यान अटक जाएगा।
तुमने अगर सोचा कि ये विचार आए हैं, इनमें से एकाध को चुन लूं जो अच्छा है, शुभ है, सहयोगी है, कल्याणकारी है, शायद इससे लाभ होगा; बाकी को छोड़ दूं, निन्यानबे छोड़ दूं, एक को पकड़ लूं, तो बुद्ध कहते हैं, एक के पीछे बाकी निन्यानबे कतार बांधकर खड़े हो जाएंगे, वह एक भीतर आया कि बाकी भी भीतर आ जाएंगे। तुमने द्वार एक के लिए खोला कि सब भीतर आ जाएंगे। द्वार बंद करना हो तो पूरा ही बंद कर देना। इसमें जरा भी पक्षपात मत करना। अगर तुमको ऐसा लगा कि थोड़ा सा सुख मिल जाए शायद, तो फिर तुम अटके रहोगे।
नहीं, सुख यहां है ही नहीं। बुद्ध का इस पर जोर बड़ा प्रगाढ़ है।

सब्बे संखारा दुक्खाति।

यह सारा संसार दुखरूप है। यह सारा संसार बस दुख ही दुख है। यहां सुख
की एक किरण भी नहीं है। यहां कोई आशा न रखो। जिस दिन सारी आशा निराशा हो जाती है, उसी दिन ध्यान का अंकुर फूटने लगता है। ध्यान का अंकुर नहीं फूट रहा है, क्योंकि तुम्हारी आशाएं ध्यान के बीज पर पत्थर की तरह बैठी हैं। "सब संसार दुख है, यह जब मनुष्य प्रज्ञा से देख लेता है, तब सभी दुखों
से निर्वेद को प्राप्त होता है।"
बड़ी अजीब बात बुद्ध कहते हैं, कि जिस दिन यह दिखायी पड़ जाता है कि सब दुख है, उसी दिन दुख से छुटकारा होने लगता है। क्यों? दुख के बांधने की तरकीब यही है कि दुख जब आता है, तो पहले तो यही बताता है कि मैं सुख हूं।

तुम सुख को पकड़ते हो, दुख को तो कोई पकड़ता ही कहां! तुम सुख को पकड़ते हो; दुख पकड़ में आ जाता है, यह दूसरी बात है। मगर तुम गए थे फूल पकड़ने, कांटे चुभ गए यह दूसरी बात है। हर कांटा फूल का धोखा देता है। हर कांटे ने विज्ञापन कर रखा है कि मैं फूल हूं, हर कांटे ने प्रचार कर रखा है कि मैं फूल हूं, आओ मेरे पास, देखो कितना सुंदर हूं--और दूर से सभी कांटे फूल जैसे मालूम होते हैं।
जैसे-जैसे पास आते हो वैसे-वैसे मुश्किल होती है। जब बिल्कुल पास आ जाते हो, जब कि हटने का उपाय भी नहीं रह जाता, तब कांटा छाती में चुभ जाता है। लेकिन तब बहुत देर हो गयी होती है।
और आदमी की मूढ़ता ऐसी है कि एक कांटा चुभ जाता है तो वह कहता है, एक कांटे ने धोखा दिया, सभी फूल थोड़े ही झूठ होंगे। यह कांटा झूठ निकला, कहीं और तलाशेंगे। फिर और दूसरे कांटों के भ्रम में पड़ता है। ऐसे भ्रम चलते ही जाते हैं, यह मृग-मरीचिका अंत ही नहीं आती, इसकी कोई सीमा ही नहीं है। आदमी अनुभव से कुछ सीखता ही नहीं।
बुद्ध कहते हैं, यह सारा संसार दुख है, ऐसा जान लेने से ही दुख से छुटकारा हो जाता है। जहां-जहां सुख हो, जान लेना वहां-वहां दुख होगा। जहां- जहां सुख दिखायी पड़े, बहुत गौर से आंख गड़ाकर देखना, वहां तुम दुख को छिपा हुआ प्रतीक्षा करते पाओगे।
"यही विशुद्धि का मार्ग है।"

अथ निब्बिन्दति दुक्खे एस मग्गो विसुद्धिया।

और तीसरा सूत्र--

सब्बे धम्मा अनत्ताति यदा पांंय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे एस मग्गो विसुद्धिया।

"सब धर्म (पंचस्कंध) अनात्म हैं, यह जब मनुष्य प्रज्ञा से देख लेता है,
तब सब दुखों से निर्वेद को प्राप्त होता है; यही विशुद्धि का मार्ग है।" यह बुद्ध की अनूठी बात है। इस बात को बुद्ध ने मनुष्य-जाति को पहली दफा कहा। उनके पहले बुद्धपुरुष हुए, लेकिन किसी ने यह बात इस तरह नहीं कही थी। यह बड़ा क्रांतिकारी सूत्र है।
बुद्ध कहते हैं, न तो पदार्थों में कोई आत्मा है, न तुममें कोई आत्मा है। आत्मा का मतलब होता है, कोई शाश्वत स्थिर तत्व, कहीं भी नहीं है। अशाश्वत है सब। सब अथिर है। न तो पदार्थ में कोई चीज थिर है और न तुममें कोई चीज थिर है। इस अथिरता को परिपूर्ण रूप से देख लेने का नाम है--अनात्म को समझ लेना, आत्मा कहीं भी नहीं है। अगर यह दिखायी पड़ने लगे कि आत्मा कहीं भी नहीं है, सभी कुछ स्कंधमात्र है, जोड़मात्र है, तो मनुष्य दुख से पार हो जाता है।
और ये तीन सूत्र विशुद्धि के सूत्र हैं--अनित्य है सब, सब दुख से भरा
है और कहीं भी कोई आत्मा नहीं है।
जरा सोचो, अगर ये तीन सूत्र तुम्हारे ख्याल में आ जाएं तो फिर क्या बाधा रह जाएगी ध्यान में? और अगर बाधा आती हो, तो समझ लेना कि इन तीन सूत्रों में कहीं कोई कमी रह गयी।
तो पहले ये तीन भावनाएं, फिर ध्यान। अनूठा प्रयोग है यह। और जितने लोग बुद्ध के द्वारा ध्यान को उपलब्ध हुए, उतने लोग कभी किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा ध्यान को उपलब्ध नहीं हुए। न कृष्ण के द्वारा, न महावीर के द्वारा, न क्राइस्ट के द्वारा, न मोहम्मद के द्वारा, न जरथुस्त्र के द्वारा, न लाओत्सू के द्वारा। इतने लोग कभी भी किसी और व्यक्ति के द्वारा ध्यान को उपलब्ध नहीं हुए, जितने लोग बुद्ध के द्वारा ध्यान को उपलब्ध हुए। ऐसा लगता है कि बुद्ध ने ठीक चाबी पर हाथ रख दिया।
मगर ये तीन भावनाएं कठिन हैं। सम्हालते-सम्हालते सम्हलती हैं। आते- आते आती हैं। एकदम से नहीं आ जातीं।

बुद्ध अपने भिक्षुओं को भेजते थे मरघट। नया भिक्षु आता, उसे भेज देते मरघट कि तीन महीने मरघट पर बैठकर ध्यान कर। लाशें आतीं, मुर्दे लाए जाते, जलाए जाते; हड्डियां पड़ी हैं, खोपड़ियां पड़ी हैं, जो कल तक जिंदा था वह आज राख होकर पड़ा है। भिक्षु बैठा है, और ये तीन धारणाएं कर रहा है--

सब्बे संखारा अनिच्चाति।
सब्बे संखारा दुक्खाति।
सब्बे धम्मा अनत्ताति।

ये तीन भावनाएं कर रहा है बैठा-बैठा। जब किसी की लाश जल रही है, तब वह
यह भावना कर रहा है--यहां सब अनित्य है, यहां सब दुखपूर्ण है, यहां कहीं कोई आत्मा नहीं है। यहां कहीं कोई आत्मा नहीं, इसका अर्थ, यहां कहीं कोई शरण लेने योग्य स्थल नहीं है। यहां सभी व्यर्थ है। इस सारी व्यर्थता के पार चले जाना है। इस सारी व्यर्थता के ऊपर साक्षी हो जाना है।
बैठा है, रोज मुर्दे आते, सुबह-सांझ, जलते ही रहते--मरघट पर कोई न कोई जलता ही रहता है--मुर्दों को जलते देखते-देखते, देखते-देखते ऐसा भी दिखायी पड़ने लगता है कि एक न एक दिन मैं भी जलूंगा, ऐसे ही जलूंगा, क्या पकडूं? किसलिए पकडूं? इस शरीर की यह गति हो जाने वाली है। इसको अपने प्रियजन जिनको मैं कहता हूं, वे ही कंधे पर रखकर ले आएंगे और आग में समर्पित कर जाएंगे, पीछे कोई बैठेगा भी नहीं कि क्या होता होगा मेरे प्राण-प्यारे का! भिक्षु बैठा देखता। आग बुझ जाती; जानवर आ जाते, बचे-खुचे अंगों को तोड़ लेते--गर्दन ले भागते, हाथ ले भागते--ऐसा मेरा भी होगा!
ऐसा होने ही वाला है! जिनको हम प्रिय कहते हैं, उनका संग-साथ भी तब तक
है जब तक जीवन है। इधर जीवन गया, वहां सब प्रेम, मैत्री, सब संबंध गये। जिन्होंने बड़ी साज-सम्हाल की थी देह की, वे ही उसे चिता पर रख गये। बैठे भी नहीं थोड़ी देर! रुके भी नहीं थोड़ी देर! दुनिया में और हजार काम हैं।
तुम देखते न, कोई आदमी मर जाता है, कितनी जल्दी अर्थी बांधी जाती है!
घर के लोग रोने-धोने में लग जाते हैं, पास-पड़ोस के लोग जल्दी से अर्थी बांधने लगते हैं--साथ तो देना ही चाहिए। उठी अर्थी, चली अर्थी, दो-चार दिन में रोना-धोना-पीटना सब बंद हो जाता है, संसार अपनी जगह चलने लगता है।
ऐसा भिक्षु बैठा देखता रहता है, ध्यान करता रहता है। और बुद्ध ने कहा था, स्मरण करते रहना--सब्बे संखारा अनिच्चाति, सब्बे संखारा दुक्खाति, सब्बे धम्मा अनित्ताति। सोचते रहना--यहां कुछ स्थिर नहीं, कुछ ठहरा हुआ नहीं, कहीं कोई आत्मा नहीं, कहीं कोई सुख नहीं; यह सब स्वप्नवत है। और स्वप्न भी दुखस्वप्न हैं। ऐसा तीन महीने, छह महीने, नौ महीने! बुद्ध ने कहा, जब तक ये तीन धारणाएं गहरी न उतर जाएं तब तक लौटना मत। ये तीन धारणाएं गहरी हो जातीं तो ध्यान बड़ा सुगम हो जाता।
बुद्ध ने ध्यान की बड़ी वैज्ञानिक व्यवस्था की थी।
यह सूत्र-संदर्भ का पूर्वार्द्ध था। अब उत्तरार्द्ध--

भगवान से नवदृष्टि ले, उत्साह से भरे वे भिक्षु पुनः अरण्य में गये।
उनमें से सिर्फ एक जेतवन में ही रह गया।
चार सौ निन्यानबे गये इस बार, पहले पांच सौ गये थे। एक रुक गया।
वह आलसी था और आस्थाहीन भी। उसे भरोसा नहीं था कि ध्यान जैसी कोई स्थिति भी होती है!
वह तो सोचता था, यह बुद्ध भी न-मालूम कहां की बातें करते हैं! कैसा ध्यान! आलस्य की भी अपनी व्यवस्था है तर्क की। आलस्य भी अपनी रक्षा करता है। आलसी यह न कहेगा कि होगा, ध्यान होता होगा, मैं आलसी हूं। आलसी कहेगा, ध्यान होता ही नहीं। मैं तो तैयार हूं करने को, लेकिन यह ध्यान इत्यादि सब बातचीत है, यह कुछ होता नहीं। आलसी यह न कहेगा कि मैं आलसी हूं इसलिए परमात्मा को नहीं खोज पाता हूं, आलसी कहेगा, परमात्मा है कहां! होता तो हम कभी का खोज लेते, है ही नहीं तो खोजें क्या? और चादर तानकर सो रहता है। आलस्य अपनी रक्षा में बड़ा कुशल है। बड़े तर्क खोजता है। बजाय इसके कि हम यह

कहें कि मेरी सामर्थ्य नहीं सत्य को जानने की, हम कहते हैं, सत्य है ही नहीं। बजाय इसके कि हम कहें कि मैं जीवन में अमृत को नहीं जान पाया, हम कहते हैं, अमृत होता ही नहीं।
फ्रेडरिक नीत्शे ने कहा, ईश्वर मर गया है। है ही नहीं।
नास्तिक अक्सर आलस्य के कारण नास्तिक होता है। आस्तिकता उपद्रव मालूम होती है। आस्तिकता का मतलब यह हुआ, ईश्वर को स्वीकार किया तो अब एक चुनौती आ गयी। ईश्वर को माना कि है, तो अब खोजना पड़ेगा। न-मालूम खोज कितना समय ले! कितना कंटकाकीर्ण हो मार्ग! कितने पहाड़ी चढ़ाव हों! पता नहीं कितना श्रम करना पड़े!
ईश्वर को स्वीकार करने में ही तुम्हारे आलस्य की मौत होने लगती है। बजाय आलस्य को मारने के यही उचित है कि कह दो, ईश्वर मर गया। ईश्वर को मारना ज्यादा आसान, आलस्य को मारना ज्यादा कठिन। अपने को मारना ज्यादा कठिन, ईश्वर को मार देना सुगम सी बात है। कह दिया, बात खतम हो गयी!
दुनिया में जो लोग नास्तिक हैं, उनमें से अधिक लोग नास्तिक नहीं हैं, मात्र आलसी हैं। इसका मतलब तुम यह मत समझना कि तुम नास्तिक नहीं हो, आस्तिक हो, तो तुम आलसी नहीं हो। आलस्य बड़ा अदभुत है। यह नास्तिकता में भी शरण खोज लेता है, आस्तिकता में भी। आस्तिक कहता है, हां जी, ईश्वर है। अब और क्या खोजना? हम तो स्वीकार ही करते हैं। हम तो मानते ही हैं कि उसी ने बनाया सब, उसी का खेल है, वही खिलवा रहा है, जब तक खिलवाएगा, खेलेंगे। और आदमी के किये क्या होता है! जब उसकी मर्जी होगी, उसका प्रसाद बरसेगा, तो सब हो जाएगा। वह न बुलाए, तब तक कहीं कोई जाता! अपनी खोज से क्या होगा? उसकी कृपा होगी तब सब होगा।
यह भी आलस्य है।
नास्तिक, ईश्वर नहीं है, ऐसा कहकर अपने आलस्य को बचा लेता है। आस्तिक, ईश्वर है, बिना खोजे, बिना सोचे, बिना चुनौती स्वीकार किये स्वीकार कर लेता है, इस स्वीकार में भी आलस्य है। वह कहता है, है जी, मंदिरों में है, मस्जिदों में है। और कभी-कभी जाकर पूजा भी कर आते हैं, धर्म-उत्सव आता है तो प्रार्थना भी कर लेते हैं, हम तो मानते हैं, आस्तिक हैं। मगर न आस्तिक खोजता, न नास्तिक खोजता। दोनों बेईमान हैं।
धार्मिक आदमी और ही तरह का होता है। धार्मिक आदमी कहता है, मैं खोजूंगा, मैं यात्रा पर निकलूंगा, कितनी ही दूर हो सत्य, लेकिन जाऊंगा। क्योंकि इस जीवन को व्यर्थ चीजों में गंवाने में क्या सार है? इसे मैं सत्य की खोज पर समर्पित करूंगा। समर्पित जीवन होता है धार्मिक का। खोज का जीवन होता है धार्मिक का। अन्वेषण का अभियान होता है उसके जीवन में। कितने ही उत्तुंग पर्वतों पर बैठा हो सत्य, जाऊंगा। मिट जाऊं मार्ग में भला, लेकिन यहां बैठे-बैठे कोई प्रयोजन नहीं है।
वह जो एक भिक्षु था, वह रुक गया। आलसी था, आस्थाहीन भी था। लेकिन उसने अपने मन में सोचा, ध्यान जैसी कोई स्थिति होती नहीं, ये बुद्धपुरुष भी न-मालूम कहां की बातें करते हैं!
प्रत्येक रोग अपनी रक्षा करता है, सावधान। हर रोग अपनी रक्षा करता है,
हर रोग तरकीबें जुटाता है कि तुम कहीं औषधि न खोज लो।
अरण्य में गये भिक्षु उद्योग करते हुए शीघ्र ही ध्यान के अनुभव से मंडित होकर भगवान के चरणों में उपस्थित हुए। उनके व्यक्तित्व और हो गये थे। उनकी मुखाकृतियां और हो गयी थीं। एक सौंदर्य और एक ज्योति उन्हें घेरे हुए थी। अंधा भी देख ले, बहरा भी सुन ले, जो नहीं समझता वह भी पहचान ले, ऐसी उनकी दशा थी।
ध्यानमंडित हो वे वापस लौटे। वे चार सौ निन्यानबे भिक्षु एक नये ज्योतिर्प्रवाह की तरह वापस लौटे। उनकी सुगंध बदल गयी थी। उनके मुखौटे गिर गये थे। उनके झूठ गिर गये थे। उनके विचार विसर्जित हुए थे, वे शांत हुए थे। शून्य का उन्हें स्वाद लगा था, शून्य की तरंग उठी थी। वे नये होकर आये थे, उनका पुनर्जन्म हुआ था। उनकी चाल और थी, ढाल और थी। उनकी सारी शैली बदल गयी थी। जिन्होंने उन्हें पहले जाना था वे शायद पहचान भी न पाते कि ये वही व्यक्ति हैं। सिर्फ रंग-रूप वही रह गया था। उतना ही फर्क हो गया था जैसे कि

बुझे दीये में और जले दीये में होता है। बुझा दीया, मिट्टी का दीया, तेल-भरा हो, बाती भी अटकी हो, मगर बुझा है। जला दीया, वही का वही है एक अर्थ में, मिट्टी वही है, तेल वही है, बाती वही है, लेकिन एक अभिनव घटना घट गयी कि ज्योति उतर आयी है। ये आत्मवान होकर लौटे थे।
ध्यान का दीया जलता है तो मनुष्य के जीवन में जो क्रांति घटती है, वैसी और कोई क्रांति नहीं है।
उन्होंने आकर आज जैसी भगवान की वंदना की वैसी कभी न की थी।
वैसी कभी करते भी कैसे! आज पहली बार भगवान के चरणों में झुके। आज झुकने के लिए कुछ कारण था। अब तक तो जो था औपचारिक रहा होगा। झुकना चाहिए, झुकते थे। आज झुकना चाहिए की बात ही न थी, आज तो चाहते भी कि न झुकें तो भी रुक न सकते थे, क्रांति घटी थी, स्वाद लगा था, अनुभव हुआ था। आज दिखायी पड़ा था बुद्ध का वास्तविक रूप उन्हें। दिखायी ही तब पड़ता है जब कुछ ज्योति तुम्हारे भीतर भी आ जाए। कुछ तुम कृष्णमय हो जाओ तो कृष्ण समझ में आते हैं। कुछ तुम बुद्धमय हो जाओ तो बुद्ध समझ में आते हैं। बुद्ध जैसे जब तक न हो जाओ कुछ, तब तक कैसे बुद्ध को पहचानो!
ध्यान ने उन्हें भी भगवत्ता की थोड़ी सी झलक दे दी थी। आज भगवान को पहचान सकते थे। अब तक तो मान्यता थी। लोग कहते थे भगवान हैं, तो वे भी कहते थे भगवान हैं। मगर भीतर तो कहीं संदेह रहा ही होगा। संदेह इतनी आसानी से जाता भी कहां! भीतर तो कहीं न कहीं छिपे तल पर कोई कहता ही रहा होगा कि पता नहीं भगवान हैं कि नहीं हैं! दिखते तो जैसे और आदमी वैसे ही, फिर कौन जाने! फिर क्या इनके भीतर हुआ है, हम कैसे पहचानें! जब अपनी ज्योति भी जल जाती है तब पहचान आती है। तब भाषा हमारे हाथ में होती है।
ये बुद्ध की भाषा सीखकर लौटे थे, ध्यान सीखकर लौटे थे।
उन्होंने आकर आज जैसी भगवान की वंदना की... ।
जैसे नाचे होंगे, जैसे आह्लादित उत्सव मनाया होगा। आज जाने होंगे, इस आदमी की करुणा कितनी प्रगाढ़ है। आज जाने होंगे कि यह अगर न होता तो हम कभी जागते ही न, जन्मों-जन्मों तक न जागते, जागना हो ही नहीं सकता था, इस आदमी ने हमें जगा दिया। अगर यह न होता तो हम सोए ही रहते, सोए ही रहते, कोई आशा न थी। और यह आदमी रोज-रोज चिल्लाता रहा, सुबह, सांझ, दोपहर--ध्यान, ध्यान, ध्यान। हमने कभी सुना नहीं। और भी कितने हैं करोड़ों, जिन्होंने नहीं सुना। आज उनको लगा होगा, हम कितने धन्यभागी और दूसरे कितने अभागे! आज तुलना का उपाय था, आज तराजू हाथ में थी, आज बात तौली जा सकती थी।
... ऐसी वंदना उन्होंने कभी न की थी। आह्लाद, अनुग्रह, उत्सव से भरे उनके हृदय गदगद थे। आज बहे जाते थे अनुग्रह के भाव से।
रखा होगा सिर बुद्ध के चरणों पर, बहे होंगे आंसू आनंद के। कहने को तो कुछ भी न था, शब्द तो छोटे हैं, मौन निवेदन किया होगा।
यह वंदना औपचारिक न थी।
आज पहली दफा वे शिष्य हुए। और आज पहली दफा बुद्ध गुरु हुए। आज पहली दफा गुरु-शिष्य का संबंध बना, सेतु बना। आज तार जुड़े, आज हृदय से हृदय एक हुआ।
वस्तुतः पहली बार ही उन्होंने भगवान को जाना और पहचाना था।
अपने भीतर का भगवान न पहचान में आए, तो अपने से बाहर का भगवान कैसे पहचान में आ सकता है!
भगवान ने उनसे बड़े ही मधुर वचनों में कुशल-क्षेम पूछा।
यह स्वाभाविक ही था; वे अपना संकल्प पूरा करके लौटे थे। उनकी साधना ने
एक महत्वपूर्ण मंजिल पूरी कर ली थी। जीवन की सबसे बड़ी संपदा का अनुभव शुरू हुआ था। उनके बीज अंकुरित हुए थे। कठिन को उन्होंने श्रम से सरल कर लिया था, असंभव को संभव बनाया था।
निश्चय ही ध्यान से असंभव कुछ भी नहीं, ध्यान से ज्यादा असंभव कुछ भी नहीं। और जिस दिन ध्यान संभव हो जाता है, उस दिन सब संभव हो गया। तुम सब कमा लो, तुम सब इकट्ठा कर लो, तुम सारी पृथ्वी के मालिक हो जाओ, तुम दरिद्र हो, दरिद्र ही मरोगे। तुम ध्यान कमा लो और सब छूट जाए, कोई चिंता नहीं, तुम

समृद्ध हो गये, तुम सम्राट हो गये। और तुम्हारे पास संपदा ऐसी आयी जिसे मौत भी न छीन सकेगी।
तो भगवान ने बड़े ही मधुर वचनों में उनसे कुशल-क्षेम पूछा। उन्होंने भगवान की सुनी थी। वे भगवान की सुनकर तीर की तरह ध्यान के लक्ष्य की तरफ गये थे और लक्ष्य वेधकर लौटे थे।
स्वभावतः, गुरु हर शिष्य की उपलब्धि में आनंदित होता है। उतना ही आनंद गुरु को फिर मिलता है जितना स्वयं के बोध में मिला था। हर बार जब गुरु का एक शिष्य बोध को उपलब्ध होता है, तो फिर-फिर जैसे उसका बोध वापस लौटता। जैसे मां बेटे को देखकर प्रसन्न होती है कि बेटा सफल हुआ, जैसे बाप बेटे को देखकर प्रसन्न होता है कि बेटा बड़ा हुआ--ये तो छोटी तुलनाएं हैं, छोटी उपमाएं हैं, गुरु और शिष्य के बीच जो संबंध है वह बेटा-बाप, मां-बेटे से बहुत बड़ा है, अनंत गुना बड़ा है। गुणात्मक रूप से भिन्न है, मात्रात्मक भेद ही नहीं है।
जब देखा होगा अपने इन पुत्रों को, ज्योतिर्मय दीये की तरह आते-- ज्योतियों का एक जुलूस जैसे आया हो--देखा होगा खिले इनके फूलों को, तो बुद्ध आनंदित हों, यह स्वाभाविक है। परम आनंदित हों, यह स्वाभाविक है। एक विजय यात्रा पूरी करके ये शिष्य वापस लौटे थे।
लेकिन वह एक भिक्षु जो जेतवन में ही रह गया था, यह सब देखकर जल-भुन गया। उसे बड़ी ईर्ष्या की लपटें पैदा हुईं। उसमें ईर्ष्या और प्रतिस्पर्धा भयंकर रूप से फुफकार मारने लगी। उसने सोचा, अरे, शास्ता इनके साथ बहुत मीठी-मीठी बातें करते हैं और मेरी तरफ देखते भी नहीं! और इनसे बड़ी मिठास से कुशल-क्षेम पूछ रहे हैं! और मुझसे कभी बोलते भी नहीं। जान पड़ता है कि ये ध्यान पा गये हैं। लेकिन कोई बात नहीं, मैं आज ही ध्यान पाकर भगवान से बातचीत करूंगा। ईर्ष्या, जलन, प्रतिस्पर्धा, अहंकार के कारण वह ध्यान पाना चाहता था।
ईर्ष्या के कारण वह ध्यान पाना चाहता था। स्पर्धा के कारण वह ध्यान पाना चाहता था। और ध्यान के मार्ग में इनसे बड़ी बाधाएं नहीं। और वह चाहता था, आज का आज हो जाए। वह चाहता था, कल सुबह मैं भी ऐसे ही आऊं, ज्योतिर्मय, और भगवान मुझसे भी ऐसी ही कुशल-क्षेम पूछें।
मगर ये कारण ही गलते थे। एक क्षण में भी कभी ध्यान हो सकता है, लेकिन कारण ही गलत थे। तब तो जन्मों में भी नहीं हो सकता। इन कारणों के आधार पर तो यह भिक्षु अनंत जन्मों तक भी चेष्टा करे, तो भी इसका दीया जलेगा नहीं, इसका फूल खिलेगा नहीं।
वह रातभर ध्यान की कोशिश करता रहा। कभी बैठकर ध्यान किया, कभी खड़े होकर ध्यान किया--बैठकर भी नहीं लगा, खड़े होकर भी नहीं लगा, नींद भी आने लगी, क्रोध भी आने लगा, ईर्ष्या और-और घना धुआं उठाने लगी। कभी चलकर ध्यान किया--कि कहीं नींद न आ जाए; सुबह के पहले ध्यान कर ही लेना था। जैसे-जैसे रात बीतने लगी, नींद जोर करने लगी, वैसे-वैसे और पगलाने लगा वह भिक्षु। वह विहार में चलता हुआ चारों तरफ रात के अंधेरे में... ।
बुद्ध ने दो तरह के ध्यान कहे हैं। एक बैठकर और एक चलकर। चलने वाले ध्यान का नाम है--चंक्रमण। तो बैठकर करे तो नींद लग जाए तो वह चल-चलकर ध्यान करने लगा। दौड़ने लगा। क्योंकि चलते-चलते भी नींद के झपके आने लगे और सुबह के पहले पूरा कर लेना है।
रातभर का जागरण और जलन की ऐसी दशा और अहंकार का ऐसा आहत-भाव और अहंकार
की ऐसी प्रबल चेष्टा कि कल सुबह सिद्ध ही कर देना है कि न केवल मेरा दीया जल गया है, बल्कि और दूसरों से ज्यादा प्रज्वलित है, बड़ी मेरे दीये की लौ है। सुबह होने के पहले ही वह करीब-करीब पागल सी अवस्था में हो गया। एक पत्थर पर गिर पड़ा, जिससे उसके पैर की एक हड्डी टूट गयी। उसकी चीख सुनकर सारे भिक्षु जाग गये। भगवान भी जाग गये। उस भिक्षु पर उन्हें बड़ी दया आयी। उन्होंने उससे कहा--भिक्षु, यह तो ध्यानी होने का मार्ग नहीं। और गलत कारणों से कोई कभी ध्यान को उपलब्ध होता भी नहीं। जाग, होश में आ। ध्यान हो सकता है, लेकिन बीज को ठीक भूमि चाहिए। पत्थरों पर रख देगा बीज को तो ध्यान नहीं होगा। ऐसी जगह बीज को फेंक देगा जहां जल अनुपलब्ध हो, तो बीज अंकुरित

नहीं होगा। अहंकार पर ध्यान को अंकुरित करना चाह रहा है! पत्थर पर शायद कभी बीज अंकुरित हो जाए, लेकिन अहंकार के पत्थर पर ध्यान कभी अंकुरित नहीं होता। ध्यान की तो मौलिक शर्त है--निरहंकार-भाव; अनत्ता-भाव; अनात्म-भाव। और ईर्ष्या के कारण तू ध्यान करना चाहता है, तुझे ध्यान से कोई प्रयोजन ही नहीं है। दूसरों को ध्यान हो गया मुझसे पहले, यह तेरी अड़चन है। जब तक दूसरों पर नजर है, तब तक तो कोई अकेला भी नहीं हो सकता, ध्यान की तो बात ही अलग है। भीड़ खड़ी रहेगी, दूसरा खड़ा रहेगा।
प्रतिस्पर्धा जब तक हो, तब तक एकांत कैसे बनेगा? एकांत तो तभी बन सकता
है जब दूसरे को हमने बिल्कुल विदा कर दिया है, भूल ही गये, दूसरे से कुछ लेना-देना नहीं है। ध्यान तो ऐसी दशा है जब इस संसार में किसी से कुछ लेना- देना नहीं। न किसी के आगे होना है, न किसी के पीछे होना है, जब तुम इस संसार में किसी से अपनी तुलना ही नहीं करते हो, तभी ध्यान घट सकता है।
ख्याल रखना, ध्यान की यात्रा में भी प्रतिस्पर्धा पकड़ लेती है। जैसे
धन की यात्रा में पकड़ती है, किसी ने बड़ा मकान बना लिया तो तुम जले कि मैं भी बड़ा मकान बनाऊं; चाहे तुम्हें जरूरत हो, चाहे न हो। किसी ने शादी में लाख रुपये खर्च किये तो तुम पागल हो गये, कि दो लाख खर्च करने ही पड़ेंगे अपने बेटे की शादी में, इज्जत का सवाल है। चाहे दिवाला निकल जाए, लेकिन ये दो लाख तो करने ही पड़ेंगे।
मैंने सुना है, मुल्ला नसरुद्दीन की पत्नी कार से उतरी और बेहोश होकर गिर पड़ी। मुल्ला भागा हुआ आया, पंखा किया, पानी छिड़का, होश आया तो पूछा, बात क्या है? तो उसने कहा, इतनी गर्मी! तो मुल्ला ने कार की तरफ देखा और कहा कि भागवान, तो खिड़की के कांच क्यों नहीं खोले? उसने कहा, कैसे खोलती! क्या मोहल्लेभर में बदनामी करवानी है कि अपने पास गाड़ी है जो एयरकंडीशंड नहीं! तो कांच की खिड़कियां बंद रखे है। चाहे प्राण निकल जाएं, मगर मोहल्ले में यह बदनामी तो नहीं होनी चाहिए कि एयरकंडीशंड गाड़ी नहीं है मुल्ला के पास!
ऐसे ही हम जी रहे हैं। ऐसे हम संसार में जीते हैं। यह संसार में तो ठीक
ही है, लेकिन ऐसे ही तो हम ध्यान में भी जीने लगते हैं। ऐसे ही हम संन्यास में भी जीने लगते हैं। वहां भी प्रतिस्पर्धा कि कोई मुझसे आगे न निकल जाए, कि कौन पीछे है, कौन आगे है, बड़ी चिंता लगी रहती है। तो फिर ध्यान कभी फलित न होगा।
तब बुद्ध ने ये गाथाएं कहीं--

उट्ठानकालम्हि अनुट्ठहानो युवा बली आलसियं उपेतो।
संसन्नसंकप्पमनो कुसीतो पांंय मग्गं अलसो न विंदति।।
योगा वे जायती भूरि अयोगा भूरि संखयो।
द्वेधापथंांत्वा भवाय विभवाय च।
तथत्तानं निवेसेय्य यथा भूरि पवड्ढति।।
वनं छिंदथ मा रुक्खं वनतो जायती भयं।
छेत्वा वनंच वनथंच निब्बना होथ भिक्खवो।।

"जो उद्योग करने के समय उद्योग न करने वाला है, जो युवा और बली होकर भी आलस्य से युक्त होता है, जो संकल्परहित है और दीर्घसूत्री है, वह आलसी पुरुष प्रज्ञा के मार्ग को प्राप्त नहीं करता है।"
जब समय हो उद्योग करने का तो उद्योग करना चाहिए। ठीक समय था जब ये पांच सौ भिक्षु जा रहे थे अरण्य को, तू भी गया होता। तब इनकी इतनी बड़ी तरंग थी, उस तरंग में शायद तू भी तिर गया होता। तब एक मौसम आया था ध्यान का, वह सारा जंगल ध्यान से भर गया होगा। जैसे वसंत आता है और फूल खिल जाते हैं, ऐसे ये पांच सौ भिक्षु ध्यान कर रहे थे, इनके ध्यान की तरंगें पैदा हो रही थीं, तब तो तू गया नहीं पागल, जब समय था, ऋतु आयी थी, जब वसंत आया था!
ऐसा मुश्किल से होता है जब पांच सौ लोग एक साथ ध्यान करने किसी जंगल में प्रविष्ट हुए हों। उस जंगल की पूरी हवा बदल जाती है, उस जंगल की तरंगें बदल जाती हैं। उस तरंग में तो कभी-कभी यह भी हो जाता है कि पशु-पक्षी भी

ध्यान को उपलब्ध हो जाते हैं, कभी-कभी पौधे भी ध्यान को उपलब्ध हो जाते हैं। अनहोनी घट सकती थी, असंभव संभव हो सकता था, इतना बड़ा प्रवाह था, तब तो तू गया नहीं! जब उद्योग करना था तब उद्योग न किया--युवा है तू, बली है तू, और आलस्य से युक्त है और आलस्य के लिए तर्क खोजता है!
तब तो तूने यह सोचा कि ध्यान इत्यादि होता कहां है! तब तो तूने अपने को बचा लिया, अपने को बंद कर लिया! तब तो तूने अपनी संकल्प-रहितता न देखी! जब संकल्प का क्षण आया था और जब इतने लोग संकल्प कर रहे थे, तब भी तेरे भीतर संकल्प की चोट न पड़ी कि इतने लोग जाते हैं, जरूर कुछ होगा, मैं भी जाऊं। एक प्रयोग तो करके देखूं। और बुद्ध कहते हैं, तो झूठ तो न कहते होंगे।
और तुम ध्यान करो या न करो, इससे बुद्ध को क्या मिलता है! कहते हैं, तो कुछ बात होगी सार की। और रोज-रोज कहते हैं, सुबह-शाम कहते हैं, वही-वही कहते हैं, तो जरूर कुछ बात होगी। तूने मुझे तो देखा होता! मेरी तरफ तो देखा होता! वह भी तूने न किया। तूने सोचा, ध्यान इत्यादि होता कहां है!
ये चार सौ निन्यानबे लोग जाते थे, इनकी भी बुद्धि पर तूने जरा भरोसा न किया, तूने अपने आलस्य पर भरोसा किया। आलसी पुरुष ध्यान को उपलब्ध नहीं होता। श्रम की क्षमता चाहिए, संकल्प का बल चाहिए।
"योग से प्रज्ञा उत्पन्न होती है और अयोग से प्रज्ञा का क्षय होता है। उत्थान और पतन के इन दो भिन्न मार्गों को जानकर, जिस तरह प्रज्ञा बढ़े उस तरफ अपने को लगाना चाहिए।"
योग का अर्थ होता है, तुम्हारी सारी शक्तियां युक्त हो जाएं, संयुक्त
हो जाएं, एक हो जाएं। आलसी की सारी शक्तियां बिखरी होती हैं। आलसी का एक हिस्सा एक तरफ जाता है, दूसरा हिस्सा दूसरी तरफ जाता है। आलस्य के त्याग के साथ ही व्यक्ति की शक्तियां इकट्ठी होती हैं, एकजुट होती हैं, केंद्रित होती हैं, एकाग्र होती हैं।

योगा वे जायती भूरि अयोगा भूरि संखयो।

और योग से ही कुछ पाया जाता है--प्रज्ञा जगती है--अयोग से खो जाती है। अयोगी बुद्धिहीन हो जाता है। बुद्धिमत्ता तो जगती तभी है, जब तुम्हारा सारा जीवन इकट्ठा, एकजुट, एक चीज पर आरूढ़ हो जाता है। जब तुम्हारे भीतर एक संकल्प का उदय होता है और सारी वासनाएं और सारी इच्छाएं उसी एक संकल्प के चरणों में समर्पित हो जाती हैं, तब योग पैदा होता है। योग से प्रज्ञा उत्पन्न होती है। अयोग से प्रज्ञा का क्षय होता है। और ये दो ही मार्ग हैं, बुद्ध ने कहा, ठीक से जानकर जिस पर प्रज्ञा बढ़े उस मार्ग पर जाना चाहिए। और अंतिम सूत्र उन्होंने कहा, "भिक्षुओ, वन को काटो, वृक्ष को नहीं। वन
से भय उत्पन्न होता है। वन और झाड़ी को काटकर निर्वन हो जाओ।"
बड़ा अजीब सूत्र है यह। समझना इसे।
बुद्ध ने कहा, "वन को काटो, वृक्ष को नहीं।"
अक्सर हम वृक्षों को काटते हैं। मेरे पास कोई आता है, वह कहता है, मुझे क्रोध बहुत आता है, मैं क्रोध से कैसे मुक्त हो जाऊं? कोई आता है, वह कहता है, मैं बहुत लोभी हूं, लोभ से कैसे मुक्त हो जाऊं? कोई आता है, वह कहता है, मोह बहुत सताता है मुझे, मोह से कैसे मुक्त हो जाऊं? कोई आता है, वह कहता है, कामवासना बहुत पकड़ती है, इससे कैसे छुटकारा हो?
ये एक-एक वृक्ष को काटने में लगे हैं। क्रोध को काट भी लोगे तो कुछ कटेगा नहीं। क्योंकि क्रोध जब कट जाएगा तब तुम पाओगे कि जो ऊर्जा क्रोध में जाती थी, वह लोभ में जाने लगी। लोभ को किसी तरह सम्हालोगे, तो पाओगे कि जो लोभ में जाती थी ऊर्जा, वह काम में जाने लगी। मूल तो वहीं के वहीं हैं। यह पूरा जंगल कटना चाहिए, इसमें एक वृक्ष के काटने से कुछ भी न होगा।
जंगल को काटने का उपाय ध्यान है। लेकिन लोग एक-एक वृक्ष से उलझते हैं। कोई कहता है, क्रोध से छुटकारा हो जाए तो बस सब ठीक। कोई कहता है, काम से छुटकारा हो जाए तो सब ठीक। ये अलग-अलग वृक्ष हैं। ये सारे वृक्ष एक चीज से ही जुड़े हैं। और वह एक चीज है गैर-ध्यान की अवस्था, अयोग की अवस्था। योग को

उपलब्ध व्यक्ति, ध्यान को उपलब्ध व्यक्ति, पूरे जंगल को काट डालता है, इकट्ठा काट डालता है।
"भिक्षुओ, वन को काटो, वृक्ष को नहीं।"
एक-एक बीमारी से मत उलझो, सारी बीमारियों का जो मूल है, उससे इकट्ठी टक्कर ले लो। नहीं तो तुम बीमारियां बदलते रहोगे, कभी स्वस्थ न हो सकोगे। जो सारी बीमारियों के भीतर मूल कारण है, वह है गैर-ध्यान की अवस्था, बेहोशी की अवस्था, नींद की अवस्था, प्रमाद की अवस्था, मूर्च्छा।
उस मूर्च्छा को काट डालो, पूरा जंगल कट जाएगा। क्रोध ही नहीं कटेगा, मोह भी कट जाएगा; लोभ ही नहीं कटेगा, काम भी कट जाएगा। सब कट जाएंगे, तुम पूरे जंगल को जला डालो।
"भिक्षुओ, वन को काटो, वृक्ष को नहीं। वन से भय उत्पन्न होता है। वन और झाड़ी को काटकर निर्वन हो जाओ।"
तुम्हारे भीतर जिस दिन ध्यान आ गया, सब गये--काम, लोभ, मद, मत्सर। सब विचार गये। सारा जंगल का जंगल चला गया। निर्वन हो गये। ऐसे हो गये जैसे खाली आकाश--जब बदलियां विदा हो जाती हैं; निर्विचार चैतन्य। और निर्विचार चैतन्य ही ध्यान है।
आज इतना ही।

एस धम्मो सनंतनो, भाग 9
नवासीवां प्रवचन

आचरण बोध की छाया है

पहला प्रश्नः मैं जानता हूं कि क्या ठीक है, फिर भी उसे कर नहीं पाता हूं। और आप कहते हैं कि ज्ञान से ही, ज्ञानमात्र से ही आचरण बदल जाता है। यह बात मेरी समझ में नहीं आती!

नहीं भाई, जानते होते तो बदलाहट होती ही! कोई जाने और बदलाहट न हो, ऐसा होता ही नहीं। जानने में कहीं भ्रांति हो रही होगी। बिना जाने सोचते होओगे कि जान लिया। सुनकर जान लिया होगा, पढ़कर जान लिया होगा, जाना नहीं है। स्वयं का अनुभव नहीं है।
ज्ञान तो वही जो स्वयं के अनुभव से निकले। और सब शेष तो अज्ञान को छिपाने के ढंग हैं। ज्ञान तो वही जो स्वयं के जीवन की सुगंध की तरह आए। जीवन के अनुभवों का निचोड़ है ज्ञान। जैसे बहुत फूलों को निचोड़कर इत्र बनता है, ऐसे जीवन के बहुत अनुभवों को निचोड़कर ज्ञान बनता है। एक ज्ञान के कण में हजारों अनुभवों का निचोड़ होता है। यह बात उधार नहीं हो सकती। यह इत्र ऐसा नहीं है कि तुम बाजार से खरीद सको। शास्त्र से न मिलेगा, जीवन में ही संघर्ष से, जीवन में ही इंच-इंच चलकर, जीकर ही मिलेगा। जीए बिना ज्ञान नहीं मिलता।
तुम्हारी अड़चन भी मेरी समझ में आती है। उदाहरण के लिए तुम जानते हो कि क्रोध करना बुरा है। तुम नहीं जानते, सुना है तुमने कि क्रोध करना बुरा है। काश, तुम जानते तो कैसे कर पाते! सुना है तुमने, बुद्ध कहते, महावीर कहते, कृष्ण कहते, क्राइस्ट कहते कि क्रोध बुरा है। बचपन से सुना है, इतना सुना है कि संस्कार गहरा हो गया। तुम भी दोहराते हो कि क्रोध बुरा है। लेकिन तुम्हारे जीवन-अनुभव ने ऐसा नहीं बताया कि क्रोध बुरा है। तुम्हारा जीवन-अनुभव तो अभी पका ही नहीं।
तो जब तक कहना हो, कहते रहते क्रोध बुरा है, जब करने का मौका आता है, तब क्रोध कर गुजरते हैं। करोगे तो तुम वही जो तुम्हारे भीतर से आ रहा है, कह सकते हो वे सब बातें सुंदर-सुंदर सुनी हुई, दूसरों से ली हुई, उधार। पांडित्य ऊपर-ऊपर रहता है, तुम्हें बदलता नहीं। पांडित्य तो ऊपर के आभूषणों जैसा है। तुम कुरूप थे तो तुम कुरूप ही रहते हो, कितने ही आभूषण पहन लो, इससे तुम सुंदर न हो जाओगे। सौंदर्य की आभा तो भीतर से आती है। भीतर से प्रगट होती है। ऐसा ही समझो कि एक बुझी हुई लालटेन रखी है, उसके चारों तरफ कागज चिपकाकर खूब लिख दो--प्रकाश; बड़े-बड़े अक्षरों में--प्रकाश, तो भी प्रकाश न होगा। जलेगा भीतर का दीया तो फिर लिखने की जरूरत न होगी, प्रकाश होगा।
जब तुम्हारा ज्ञान का दीया जलता है तो तुम्हारे जीवन में प्रकाश होता है। उस प्रकाश का नाम ही आचरण है। आचरण ज्ञान का ही फल है, ज्ञान से ही पैदा होता है। ज्ञान है ज्योति, आचरण है उस ज्योति से फैलता हुआ प्रकाश। और अनाचरण है अंधकार, जो दूर होने लगा, जो हटने लगा, भागने लगा। लेकिन यह बात किताबी ज्ञान से न होगी।
तुम कहते हो, "मैं जानता हूं कि क्या ठीक है।"
नहीं, तुम नहीं जानते। ठीक जान लिया तो अन्यथा करना संभव नहीं है। तुमने जान लिया कि यह दरवाजा है, तो दरवाजे से ही निकलोगे, फिर दीवाल से कैसे निकलोगे! और तुमने जान लिया कि यह दीवाल है, तो फिर दीवाल से कैसे निकलोगे! अब कोई तुमसे कहे कि मुझे पता तो है कि दरवाजा कहां, दीवाल कहां, लेकिन क्या करूं, जब निकलने की कोशिश करता हूं तो दीवाल से ही करता हूं, सिर टकरा जाता है! तो तुम कहोगे, पागल तो नहीं हो? जब पता है, तो किस भांति तुम दीवाल से निकलने की चेष्टा करने में अभी तक सफल हो? अभी तक कर पाते हो? यह तो असंभव हो जाएगा। सिर तोड़ना हो तो बात दूसरी। सिर तोड़ने के लिए ही निकलना हो दीवाल से तो बात दूसरी, तब निकलना लक्ष्य ही नहीं है, सिर तोड़ना

लक्ष्य है। बोध के पीछे आचरण ऐसे ही चलता है जैसे तुम्हारे पीछे तुम्हारी छाया चलती है।
लेकिन ज्ञान है बासा और उधार, मुर्दा, किताब में लिखा हुआ या स्मृति में लिखा हुआ। तुम स्वयं उससे उजागर नहीं हुए हो। ज्योतिर्मय तुम नहीं हो। इसलिए तो मैं ज्ञान पर जोर नहीं देता, मेरा जोर ध्यान पर है।
अब ये तीन बातें हो गयीं। आचरण, ज्ञान और ध्यान। आचरण ज्ञान का परिणाम
है और ज्ञान ध्यान का परिणाम है।
तो शुरू से ही शुरू करो, बीज से ही शुरू करो। बिना बीज बोए वृक्ष की आशा न करो। और वृक्ष ही न होगा, तो फल कैसे लगेंगे? आचरण तो फल, ज्ञान वृक्ष, ध्यान बीज। प्रथम से ही शुरू करना होता है। बुद्धिमान प्रथम से ही शुरू करता है। मूढ़ अंतिम की आशाएं करने लगता है और जब अंतिम हाथ नहीं लगता तो पछताता है, रोता है।
इस छोटी सी कहानी को ध्यान में लेना--
एक अल्हड़ युवक रास्ते पर जा रहा था। उसकी दृष्टि एक चमकते हुए पत्थर
पर पड़ी। अहा, उसने कहा, रंगीन पत्थर, प्यारा पत्थर! उसने उसे उठा लिया और उसे हाथ में उछालता हुआ और गीत गाता हुआ रास्ते पर चलने लगा। वह पत्थर कोई साधारण पत्थर न था, बहुमूल्य हीरा था। लेकिन उसने तो इतना ही जाना कि रंगीन पत्थर है, घर ले जाएंगे, छोटे बच्चे खेलेंगे।
गीत गाता और पत्थर को उछालता जब वह चल रहा था, इसी बीच मिला एक सवार और
उस सवार ने कहा, मित्र, मुट्ठी बंद कर लो। युवक ने कहा, क्यों? वह समझा ही नहीं और पत्थर को अब भी उछालता खड़ा रहा। सवार ने फिर कहा, पत्थर नहीं है, हीरा है, बहुमूल्य हीरा है। जो मुट्ठी खुली थी वह अचानक बंद हो गयी, उछालना बंद हो गया। न केवल मुट्ठी बंद हुई, उसने जल्दी से खीसे में रख लिया। उसने कहा, भाई, धन्यवाद!
उस सवार ने पूछा, पहले मैंने कहा मुट्ठी बंद कर लो, तुमने न की। और अब
तो मैंने मुट्ठी बंद करने को कहा ही न था, मैंने कहा था हीरा है, तुम्हारी मुट्ठी बंद क्यों हो गयी?
जब पता चल जाए हीरा है, तो मुट्ठी बंद हो ही जाएगी। हीरे पर मुट्ठी बंद
हो जाती है। जरा सा फर्क पड़ा, ज्ञान का फर्क, बोध हुआ कि हीरा है, सब बदल गया। व्यवहार बदल गया। मगर बोध स्वयं होना चाहिए।
अब ये बाहर के जो हीरे हैं, इनका बोध तो कोई दूसरा भी दिला दे तो हो जाता है, क्योंकि हीरा तुम्हारे बाहर है और दूसरे के भी बाहर है। जौहरी कह दे कि यह हीरा है, तो तुम्हें भरोसा आ जाता है। लेकिन जिन हीरों की मैं बात कर रहा हूं, वे हीरे भीतर के हैं और कोई जौहरी उनके संबंध में कुछ भी नहीं कह सकता। और कुछ कहे भी तो भी जब तक तुम्हारी अंतर्दृष्टि न हो, तब तक तुम्हें कैसे दिखायी पड़ेगा!
वह तो बाहर की आंखें खुली थीं उस युवक की, तो उसने देख लिया कि यह बात ठीक ही कह रहा है, यह रंगीन पत्थर नहीं है, हीरा है। शक तो शायद उसे भी हुआ होगा--शक ही हुआ होगा--चमकती हुई सूरज की किरणों में उस हीरे पर; एक दफे तो उसे भी ख्याल आया होगा कि कहीं बहुमूल्य न हो! मगर बहुमूल्य हीरे ऐसे सड़कों के किनारे थोड़े ही पड़े रहते! तो मान लिया होगा कि रंगीन पत्थर है। लेकिन भीतर कहीं कुछ बात तो लगी होगी। जब इस सवार ने कहा कि हीरा है, बस एक क्षण में चोट पड़ गयी। लेकिन बाहर की आंख खुली थीं।
समझो कि यह युवक अंधा होता और सवार कहता कि हीरा है, तो भी यह कहता, क्यों मजाक करते हो! एक तो यह सड़क, यहां कहां से हीरे आते हैं! फिर मैं अंधा, मुझ अंधे के हाथ कहां से हीरे लगते हैं! इतने आंख वाले गुजर रहे हैं, कोई भी उठा लिया होता! और फिर अंधा कहता कि मुझे तो कुछ पता नहीं चलता कि हीरा है कि पत्थर है। पत्थर ही मालूम होता है, क्योंकि वजनी मालूम होता है।
वह तो भला था कि उसकी आंख खुली थीं, अंधा नहीं था। लेकिन भीतर के संबंध में तो हम सब अंधे हैं, उस तरफ तो हमने आंख खोली नहीं है, वहां तो आंख बंद है। उस भीतर की आंख खोलने का नाम ध्यान है।

ध्यान की आंख खुल जाए तो गुरु के वचन तत्क्षण ऐसे तुम्हारे भीतर उतर जाते हैं, जैसे तीर चला जाए और ठीक हृदय पर चुभ जाए। मगर ध्यान रखना, फिर भी मैं कहता हूं, गुरु के वचन। ध्यान के बाद भी शास्त्र के वचन काम नहीं करेंगे, ध्यान के बाद भी गुरु के वचन काम करेंगे। क्यों? क्योंकि जब गुरु बोलता तो सिर्फ बोलता ही नहीं, उस बोलने के पीछे गुरु के होने का बल होता है।
नानक ने एक अपूर्व धर्म को जन्म दिया--सिक्ख-धर्म। सिक्ख शब्द बड़ा प्यारा है, यह आता है शिष्य से। जो सीखना जानता है। जो सीखने में कुशल है। शिष्य का रूपांतरण है सिक्ख। फिर नानक का धर्म दस गुरुओं तक तो जीवंत रहा, फिर मुर्दा हो गया। जिस दिन गुरु की जगह गुरुग्रंथ रख दिया गया, उसी दिन धर्म मुर्दा हो गया। उसके बाद ज्योति चली गयी।
किताब गुरु नहीं हो सकती। चाहे किताब में गुरुओं के वचन ही संगृहीत क्यों न हों। किताब कितनी ही प्यारी हो, फिर भी किताब गुरु नहीं हो सकती। किताब तुम्हें जगा नहीं सकती, खुद ही सोयी पड़ी है। किताब तुम्हें जीवंत नहीं कर सकती, खुद ही मुर्दा है। कितने ही बहुमूल्य वचन किताब में भरे हों, किताब में लिखा हो--उठो, जागो और तुम सोए हो और घुर्रा रहे हो और किताब पास में ही रखी है, तो क्या होगा! तुम घुर्राते रहोगे, किताब भीतर चिल्लाती रहेगी--उठो, जागो, मगर तुम्हें सुनायी भी न पड़ेगा।
कोई जीवित व्यक्ति चाहिए जो तुम्हें हिला दे, झकझोर दे, कि तुम्हारे मुंह पर पानी फेंक दे, कि तुम्हारी आंखें हाथ से खोल दे और कहे--उठो, जागो! जो तुम्हारे सपने तोड़ दे! यह किताब तो न कर सकेगी।
ध्यान से भीतर की दृष्टि धीरे-धीरे खुलनी शुरू होती है। और ध्यानपूर्वक गुरु का वचन सुना गया हो, तो पहचान में आ जाता है, हीरा क्या है। तत्क्षण मुट्ठी बंद हो जाती है। आचरण उसी क्षण रूपांतरित हो जाता है। लेकिन अक्सर ऐसा होता है, हम गुरु की तलाश नहीं करते। किताब सस्ती है। बाजार में मिलती है। और किताब तुम्हारे ऊपर बहुत ज्यादा चुनौतियां खड़ी नहीं करती। पढ़ना हो तब पढ़ लेना, न पढ़ना हो न पढ़ना। खोलना हो तब खोल लेना, न खोलना हो तो न खोलना। आमतौर से धार्मिक किताबें कोई खोलता नहीं! रखी रहती हैं।
एक द्वार पर शब्दकोश बेचने वाला एक आदमी खड़ा था। उसने दस्तक दी और उसने कहा कि बड़ी कीमती डिक्शनरियां हैं, शब्दकोश लाया हूं, खरीद लें। महिला ने द्वार खोला, गृहपत्नी ने, और उसने कहा, क्या करेंगे, देखते नहीं, शब्दकोश तो वह रखा है! टेबल पर रखी हुई एक किताब की तरफ दशारा किया, टालने को, इस विक्रेता को। उसने कहा कि वह शब्दकोश नहीं है, वह बाइबिल है। इतनी दूर से उसने पहचान लिया कि बाइबिल है, वह महिला भी चकित हुई--थी तो बाइबिल ही--उसने कहा, भाई मेरे, तूने इतने दूर से कैसे पहचाना कि बाइबिल है? उसने कहा, देखते नहीं कितनी धूल जमी है? इतनी धूल तो सिर्फ बाइबिल पर ही जमी होती है--कौन पढ़ता है! रखी रहती!
बाइबिल दुनिया में सबसे ज्यादा छपने वाली किताब है और सबसे कम पढ़ी जाने वाली किताब। धूल ही धूल जमती रहती है। धूल खाने को ही बनी है। कभी वर्ष में एकाध दफे झाड़-पोंछकर--अगर तुमको बहुत ही याद आ गयी--दो फूल चढ़ा दोगे। अगर और भी ज्यादा मन हो गया तो सिर झुका लोगे।
मगर न सिर झुकाने से किताब तुम्हें जगा सकती है, न फूल चढ़ाने से तुम्हें जगा सकती है। सदगुरु चाहिए। सदगुरु के पास ध्यान सीखने की कला आ जाए, बस, फिर ज्ञान उत्पन्न होगा। और ज्ञान से आचरण अपने आप चला आता है। तुम कहते हो, "यह बात मेरी समझ में नहीं आती।"
यह समझ में आएगी भी नहीं, अनुभव ही करना होगा। इसकी प्रतीति करनी होगी। समझाने के सब उपाय ज्यादा से ज्यादा तुम्हें राजी कर सकेंगे प्रतीति करने के लिए। लेकिन समझ से ही काम चलने वाला नहीं है। यह बात अनुभव की है।
जिसने कभी गुड़ का स्वाद न लिया हो, उसे लाख समझाओ कि मीठा, मीठा, मीठा,
यह मीठा शब्द कुछ उसके भीतर पैदा नहीं करता। इस मीठे शब्द में कुछ मिठास

नहीं मालूम होती। लेकिन उसने अनुभव किया हो गुड़ का, एक बार भी अनुभव किया हो कि गुड़ मीठा, तो जैसे ही तुम कहते गुड़, भीतर रस घुलने लगता।
तुमने देखा न, कोई नींबू का नाम ले दे तो भीतर लार बहने लगती--अनुभव किया है तो। यह मत सोचना कि जिस आदमी ने नींबू का अनुभव नहीं किया है, उसके सामने तुम नींबू-नींबू चिल्लाओगे तो उसे कुछ लार बहेगी। कुछ भी न होगा। लेकिन जिसने नींबू का अनुभव किया है, स्वाद लिया है--एक बार भी जीवन में लिया है--बात हो गयी। उसे नींबू का अर्थ समझ में आ गया, उसे नींबू का स्वाद लग गया।
तो तुम्हारी समझ में बात आएगी भी नहीं। और समझने की इसे कोशिश भी मत करना। समझ-समझकर तो तुम नासमझ हो गए हो। इतना समझ लिया है तुमने, बिना अनुभव किए, वही तो तुम पर बोझ हो गया है। वही तुम्हें डुबा रहा है। अब तो तुम अनुभव की तरफ चलो। अब समझ की लीक छोड़ो। अब तो तुम धीरे से प्रयोग करो। तुम यह मत कहो कि मैं परमात्मा को समझना चाहता हूं, आत्मा को समझना चाहता हूं, समाधि को समझना चाहता हूं। अब तो तुम यह पूछो कि समाधि कैसे लगे? मैं समाधि में उतरना चाहता हूं, समझना नहीं।
समझते-समझते तो कितनी रातें बीत गयीं, कितना अंधेरा तुम काट आए, कितनी नींद में रहे--जन्म-जन्म तुमने गंवाए समझने में। और समझ कुछ भी न आया। अब तो समझ को विदा दो! अब तो समझ से कहो, नमस्कार! अब हम कुछ और करें, अनुभव करें। अब तो हम धीरे से उतरना शुरू करें।
ध्यान अनुभव है। ज्ञान ध्यान के भीतर पैदा होता है। और ज्ञान के साथ चला आता है आचरण। और तब जीवन में एक अपूर्व सौंदर्य होता है।
अभी तो ऐसा होगा कि ध्यान तो है नहीं, तो ज्ञान तो हो नहीं सकता--ज्ञान होगा बासा, उधार, किताबी, कागजी। जैसे कोई कागज की नाव बनाकर और समुद्र पार करने निकल जाए, ऐसा होगा।
खतरा है, डूबोगे बुरी तरह। कागज की नाव बस नाव जैसी मालूम होती है, नाव
है नहीं। नाव तो वही है जो तिरा दे पार। कागज की नाव कैसे तिराएगी! किताबों से आया हुआ ज्ञान तो ऐसा ही है जैसे ताश के पत्तों से बनाया घर। घर नाम को ही है, उसमें कोई रह थोड़े ही सकता है! जरा सिर डालोगे अंदर कि सारा भवन गिर जाएगा। जरा सा हवा का झोंका आएगा कि भवन गिर जाएगा। वेद, कुरान, बाइबिल के सहारे तुमने जो भवन बना लिए हैं, उनमें तुम रह न सकोगे, वे रहने योग्य नहीं हैं, वे गिर जाएंगे।
तो ज्ञान झूठा होगा अगर ध्यान भीतर पैदा नहीं हुआ। और जब ज्ञान झूठा होगा और उस ज्ञान के आधार पर तुम अपने आचरण को चलाने की कोशिश करोगे, तो आचरण पाखंड का होगा। तब तुम जबर्दस्ती कुछ करने की कोशिश करोगे जो तुम्हारे भीतर नहीं हो रहा है। इसलिए भीतर होगा क्रोध, ऊपर से तुम मुस्कुराहट थोप दोगे। फाड़ लोगे ओंठों को और मुस्कुरा दोगे; और भीतर है क्रोध और आग जल रही है।
तुम जानते न, कितने तरह की मुस्कुराहटें होती हैं! राजनेता की मुस्कुराहट, दुनिया जानती है कि वह सच नहीं होती। वह जब तुम्हारे सामने खड़ा, आ जाता है मतदान के लिए कि वोट मुझे दे देना, तो कैसा मुस्कुराता है खींसे निपोर कर! तुम जानते हो कि यह मुस्कुराहट झूठ है, यह बिल्कुल झूठ है। देखा, हवाई जहाज में यात्रा करते हो, एयर होस्टेस दरवाजे पर खड़ी होकर मुस्कुराती है। क्या तुमसे लेना-देना! वह बिल्कुल झूठ है। उसमें कुछ भी सार नहीं है। वह है ही नहीं मुस्कुराहट। उस मुस्कुराहट के पीछे कोई नहीं मुस्कुरा रहा है। वह मुस्कुराहट बिल्कुल मिथ्या है।
मगर उससे भी तुम धोखे में आ जाते हो। राजनेता की मुस्कुराहट से धोखे में आ जाते हो। दुकान पर सेल्समैन की मुस्कुराहट है, उसके धोखे में आ जाते हो। वह तुम्हें मुस्कुराता है देखकर ऐसे कि धन्यभाग कि आप आए, कि आपको देखने को आंखें तरस गयी थीं! वह तुम्हें फुसला रहा है। अगर तुम गौर से देखोगे तो तुम कई तरह की मुस्कुराहटें पाओगे। तरह-तरह की मुस्कुराहटें। और सब झूठ। और भीतर कुछ और है। भीतर कुछ और बाहर कुछ और, तो पाखंड।

जब तुम्हारा अपना ज्ञान न होगा तो यह होने ही वाला है। तुम दो हिस्सों में टूट जाओगे। और जो ऊपर-ऊपर है, उससे कोई तृप्ति नहीं मिलती। और जो भीतर-भीतर है, वह तुम्हें जलाएगा और नर्क में डालेगा।
इसलिए मैं उस ज्ञान के पक्ष में नहीं, जो उधार। मैं उस आचरण के पक्ष में नहीं, जो इस उधार ज्ञान के आधार पर बनाया जाता है। वह जबर्दस्ती थोपना पड़ता है। मैं तो उस सहज आचरण के पक्ष में हूं जो ठीक बीज से शुरू होता, ध्यान से। फिर दूसरे कदम पर ज्ञान बनता है, तीसरे कदम पर आचरण बन जाता है। ध्यान है आत्मा, ज्ञान है मन, आचरण है शरीर।
तो भीतर से चलो। ठीक आत्मा से चलो।

दूसरा प्रश्नः बुद्ध और फ्रायड की चिकित्सा-विधियों में मौलिक भेद क्या है?

बहुत भेद हैं।
पहला तो भेद यही है कि फ्रायड की जो विधि है, वह चिकित्सा-विधि है, वह थेरेपी है। और बुद्ध की जो विधि है, वह सिर्फ चिकित्सा-विधि नहीं है। फ्रायड जिसका मन बीमार है उसके मन को स्वस्थ करने की चेष्टा में लगा है, ताकि मन फिर काम के योग्य हो जाए; समायोजन मिल जाए, एडजस्टमेंट मिल जाए। बुद्ध मन को मिटाने में लगे हैं। मन के समायोजन के लिए नहीं, मन से समाधि मिल जाए, मन से छुटकारा मिल जाए। बुद्ध तो कहते हैं, मन जब तक है तब तक रोग है। फ्रायड कहता है, मन दो तरह के होते हैं, स्वस्थ मन और रुग्ण मन। और बुद्ध कहते हैं, मन तो रोग ही है, स्वस्थ मन जैसी कोई चीज होती ही नहीं। किस मन को तुम स्वस्थ मन कहते हो? जो मन भीड़ के साथ तालमेल रखता है उसको तुम स्वस्थ कहते हो, जो भीड़ से तालमेल टूट जाए उसको अस्वस्थ कहते हो। लेकिन अगर भीड़ भी पागल है, तब? और भीड़ पागल है। हिंदू चले जा रहे मुसलमान की मस्जिद जलाने; मुसलमान चले जा रहे हैं हिंदू का मंदिर जलाने; हिंदू मुसलमान को काट रहे, मुसलमान हिंदू को काट रहे, इनको तुम स्वस्थ कहते हो? ये रुग्ण हैं, ये बीमार हैं, ये पागल हैं।
व्यक्तियों के पागलपन तो पकड़ में आ जाते हैं, भीड़ों के पागलपन पकड़ में नहीं आते। और दुनिया में जितना नुकसान भीड़ के पागलपन से हुआ है, उतना व्यक्तियों के पागलपन से नहीं हुआ। व्यक्ति तो बहुत निरीह हैं। कोई पागल ही हो गया और सड़क पर नंगा होकर घूमने लगा, क्या किसी का बिगाड़ लिया! लेकिन हिटलर पागल हो गया, सारी जर्मन जाति उसके साथ पागल हो गयी, करोड़ों लोग मार डाले, भयंकर हत्या हुई। नेपोलियन पागल है, सिकंदर पागल है, इनके साथ चलने वाले हजारों लोग पागल हैं। हिंदू पागल, मुसलमान पागल, ईसाई पागल।
जब तक तुम किसी दायरे में अपने को बांधते हो तब तक खतरा है; तुमने भीड़
के साथ अपनी ज्यादा दोस्ती बना ली, तुम्हें भीड़ के अनुसार चलना पड़ेगा; भीड़ जो करेगी, उसे ठीक कहना पड़ेगा; भीड़ जो नहीं करेगी, उसे गलत कहना पड़ेगा; तुम अपनी अंतरात्मा की न सुन सकोगे, अंतर्वाणी न सुन सकोगे। तुम्हें लाख लगे कि यह गलत है, लेकिन तुम जिस भीड़ के हिस्से हो अगर कर रही है, तो तुम्हें करना ही होगा। भीड़ तो पागल है। और फ्रायड की मनोचिकित्सा इतना ही काम करती है कि जो आदमी भीड़ से जरा अलग-थलग पड़ गया, उसको पकड़कर भीड़ में ले आती है। समझो। एक आदमी धन कमा रहा था... मैंने सुनी, यह घटना यथार्थ में घटी। एक आदमी ने खूब धन कमाया। एक दिन वह अपने बैंक से लौट रहा था कोई दस हजार डालर के नोट लेकर--उस पर बहुत था--वह जैसे ही रास्ते पर आया, उसको अचानक ख्याल आया, धन में रखा क्या है? बहुत था उसके पास और इतनी जिंदगी उसने ऐसे ही गंवा दी, तो जो भी आदमी पास खड़ा दिखायी पड़ा उसको उसने सौ-सौ डालर के नोट देने शुरू कर दिए, बांटने शुरू कर दिए। जिसको भी उसने सौ डालर का नोट दिया, उसी ने चौंककर देखा कि यह आदमी पागल हो गया?
स्वभावतः, तुम्हें अचानक कोई आदमी आए और एकदम सौ रुपए का नोट पकड़ा दे,
कि लीजिए, धन्यवाद! तो तुम क्या समझोगे? तुम यही समझोगे कि यह आदमी पागल हो गया। अरे, लोग दूसरों की जेब से निकाल रहे हैं, जेबें काट रहे हैं, जानें जा

रही हैं रुपए के पीछे; और यह आदमी रुपए बांट रहा है! और न केवल एकाध को, ऐरे- गैरे किसी को भी! जो मिला!
फिर वह बस में सवार हुआ और जो-जो यात्री बैठे थे बस में, सभी को उसने सौ-सौ डालर के नोट दे दिए। घर के पहुंचने के पहले ही पुलिस आ गयी। उसको पुलिस ने पकड़ लिया, उसको पुलिस थाने ले जाया गया। उसको पूछा गया कि तुम्हारा दिमाग खराब हो गया है? उसने कहा कि नहीं, दिमाग मेरा खराब था। रुपए के पीछे दौड़ रहा था जिंदगी भर; वह पागलपन था, वह मेरी समझ में आ गया। उन्होंने कहा, चुप रहो!
मनोचिकित्सक बुलाया गया। उस मनोचिकित्सक ने भी कहा कि कुछ गड़बड़ हो गयी, इलेक्ट्रिक शाक देने होंगे।
अब किसके साथ गड़बड़ हो गयी? वह आदमी चिल्ला रहा है कि भई, मुझे माफ करो,
ये रुपए मेरे हैं, पहली बात। मैं देना चाहूं तो कौन मुझे रोकने वाला है? मगर वे लोग कह रहे हैं, आप चुप रहिए, आप तो बोलिए ही मत, हमें जो करना है वह हम करेंगे। उसकी पत्नी को बुलाया। पत्नी ने भी कहा कि कुछ गड़बड़ हो गयी है मालूम होता है। वह अपनी पत्नी से बोला कि तू भी यह कह रही है कि गड़बड़ हो गयी है! मैं बिल्कुल भला-चंगा हूं! रुपए मेरे हैं, मैंने कमाए, मैं देना चाहता हूं; मैं तुमसे कहता हूं कि अब तक मैं पागल था! इन कागज के टुकड़ों के लिए मैं जिंदगी अपनी बरबाद किया! आज मुझे यह बात दिखायी पड़ गयी, मैं सब बांट देना चाहता हूं। मुझे छोड़ो, मैं बैंक जाकर और निकाल लाऊं, और बांट देना चाहता हूं। मगर अब कौन उसे छोड़े! उसे इलेक्ट्रिक शाक दिए गए, जब तक वह ठीक न हो गया तब तक उसे छोड़ा न गया अस्पताल से।
ठीक का मतलब, जब वह वापस उसी दौड़ में पड़ गया जिसमें सारी दुनिया पड़ी है। जब वह भी कहने लगा कि हां, यह कोई बात पागलपन की रही होगी, नहीं तो कोई धन ऐसे छोड़ता है, तब उन्होंने समझा कि अब ठीक हुआ। तब वह घर लाया गया। तब भी निगरानी रखी गयी कुछ दिन कि कहीं फिर से सनक न आ जाए उसे।
तुम क्या सोचते हो, उसे सनक आयी थी? या हम सब सनकी हैं? अगर उसे सनक आयी थी, तो बुद्ध ने जब महल छोड़ा, वह पागल थे। अगर उसे सनक आयी थी, तो महावीर ने जब राजपाट छोड़ा, तब वह पागल थे। वह तो भाग्य की बात कि उन दिनों इलेक्ट्रिक शाक नहीं था! और भाग्य की बात कि वे पिछड़े हिंदुस्तान में पैदा हुए थे, कहीं अमरीका जैसे विकसित देश में पैदा होते तो पुलिस पकड़ लायी होती अस्पताल! वह तो अच्छा हुआ कि ढाई हजार साल पहले पैदा हुए थे! महावीर नग्न हो गए, वस्त्र छोड़ दिए, निश्चित ही पागल थे! ऐसे कोई वस्त्र छोड़ता है! लेकिन महावीर को जो घटा था, उसकी सोचोगे? महावीर को एक बात साफ दिखायी
पड़ गयी कि वस्त्रों से शरीर को ढांकने में लज्जा है किस बात की? आखिर शरीर को ढांककर रखा क्यों जाए? छोटे बच्चे तो नहीं ढंकते। छोटे बच्चे निर्दोष हैं, सरल हैं। जिस दिन महावीर उतने ही सरल हो गए, उन्होंने कहा, अब मैं भी क्यों ढंकूं?
लेकिन मैं उनसे कहता हूं कि अब दुबारा जन्म मत लेना; वे दिन गए, जब तुम नग्न भी हो गए और तुम्हें अस्पताल नहीं पहुंचाया गया! तब तक फ्रायड पैदा नहीं हुआ था! अगर तुम फ्रायड से पूछो तो फ्रायड यही कहेगा कि महावीर न्यूरोटिक हैं, इनका दिमाग खराब है। फ्रायड ने जीसस के संबंध में कहा ही है कि जीसस का दिमाग खराब है।
क्या खराबी है जीसस के दिमाग में? क्योंकि जीसस कभी भी बैठ जाते पहाड़
पर और आकाश की तरफ सिर उठाकर ईश्वर से बातें करते हैं! यह तो पागल ही हैं। कहां ईश्वर! कैसा ईश्वर!
फ्रायड की पूरी चेष्टा है कि तुम जब समाज और भीड़ से जरा इधर-उधर पड़ जाओ, समाज के घेरे से भिन्न होने लगो, तो खींचकर तुम्हें घेरे में ला देना। फ्रायड की चिकित्सा समाज की व्यवस्था की सेवा में रत है। फ्रायड की चिकित्सा में क्रांति नहीं है। फ्रायड की चिकित्सा स्थिति-स्थापक है, आर्थोडाक्स है। फ्रायड, जो ढांचा समाज का चल रहा है, उसकी ही सेवा कर रहा है, उसी में शड्यंत्र में संयुक्त है।
बुद्ध की बात और। वह तो कह यह रहे हैं कि तुम जब तक इस भीड़ के पागलपन से उठोगे न, जब तक तुम एकांत और अकेले में न जाओगे, जब तक तुम अकेले न हो जाओगे,

जब तक तुम भीड़ की सारी धूल अपने से झाड़ नहीं दोगे और निर्मल नहीं हो जाओगे, तब तक तुम्हारे जीवन में असली स्वास्थ्य आएगा ही नहीं। बीमार है भीड़, इसके साथ चल-चलकर तुम भी भीड़ में बीमार रहोगे। इसीलिए तो संन्यास का जन्म हुआ। संन्यास का अर्थ समझते हैं? संन्यास का अर्थ है, भीड़ से मुक्त होने का साहस। संन्यास का अर्थ है, अब मैं अपनी सुनूंगा, अपनी गुनूंगा, अपने ढंग से चलूंगा, चाहे जो परिणाम हों। चाहे जो कीमत चुकानी पड़े। संन्यास का अर्थ है कि आज से मैं छोड़ता हूं वे सारी धारणाएं जो समाज ने मुझे दी थीं, आज से मैं व्यक्ति होने की घोषणा करता हूं। अब से मैं स्वतंत्रता की घोषणा करता हूं। अब से मैं परतंत्र नहीं हूं। इस क्षण के बाद अब मैं अपने से पूछूंगा क्या करने योग्य है, और उसी के अनुसार चलूंगा, फिर चाहे कष्ट उठाने पड़ें और चाहे फांसी लगे। चाहे लोग हंसें, उपहास करें, चाहे लोग पागल समझें, लेकिन अब मैं अपनी सुनूंगा। अब से मैं अपना हुआ, अब से मैंने उधार होना छोड़ा! अब मैं दूसरों की मानकर, जैसा दूसरे चाहते हैं वैसा ही रहने की चेष्टा में संलग्न नहीं रहूंगा। जिसमें मुझे सुख होगा, जिसमें मुझे शांति होगी, वही मेरी जीवन-दिशा होगी। इस परम क्रांति का नाम संन्यास है।
बुद्ध ने जितने लोगों को संन्यास दिया उतना पृथ्वी पर किसी ने कभी नहीं दिया था। हटाया, मुक्त किया भीड़ से। भीड़ का एक सम्मोहन है। और ध्यान रखना, जो भीड़ में रहते हैं वे भेड़ ही रह जाते हैं। भेड़ें देखीं न, घसर-पसर कैसा भीड़ में चलती हैं! जरा भी एक भेड़ भीड़ के बाहर छूट जाए तो जल्दी से मिमियाती हुई भीड़ में समा जाती है। भीतर घुसती है भीड़ में!
एक बच्चे से स्कूल में उसके शिक्षक ने पूछा--और वह बच्चा गड़रिए का बच्चा था, इसलिए इस तरह का सवाल भी पूछा--कि समझ दस भेड़ें तूने अपने बगीचे में बंद कर दीं और एक भेड़ छलांग लगाकर बाहर निकल गयी, तो कितनी भेड़ें बचेंगी? उसने कहा, एक भी नहीं बचेगी। उस शिक्षक ने कहा, तू होश की बातें कर रहा है? मैं कह रहा हूं, दस थीं और एक छलांग लगा गयी; बिल्कुल नहीं बचेंगी? उसने कहा, बिल्कुल नहीं। तो उस शिक्षक ने कहा, तुझे गणित बिल्कुल नहीं आता। उसने कहा, गणित की छोड़ो, गणित मुझे आता हो न आता हो, लेकिन भेड़ों के संबंध में जितना मुझे ज्ञान है, आपको नहीं।
अब भेड़ों को भी गणित नहीं आता, उस लड़के ने कहा। अगर एक भेड़ कूदी कि सब भेड़ कूद जाएंगी। एक भी नहीं बचेगी। बात समझने जैसी है--भेड़ों को भी गणित नहीं आता!
आदमी दो तरह के होते हैं--या तो सिंह की तरह आदमी होता है और या भेड़ की तरह आदमी होता है। भीड़ में जो है वह भेड़ की तरह है। भीड़ से जो मुक्त होता है वह सिंह की तरह है।
फ्रायड की चिकित्सा तो तुम्हें भ.ेड बनाती है। तुममें अगर कहीं थोड़ा सिंहपन पैदा होने लगे, तो जल्दी से इलाज करके तुम्हारे सिंहपन को काट दिया जाता है। बुद्ध की चिकित्सा--चिकित्सा कहनी ठीक ही नहीं--क्रांति है, आमूल रूपांतरण है, जड़-मूल से क्रांति है। बुद्ध की व्यवस्था तुम्हें सिंह बनाती है। तुम्हें सिखाती है कि कैसे तुम हुंकार भरो, कैसे सिंहनाद करो; कैसे तुम स्वयं हो जाओ, प्रामाणिक रूप से स्वयं हो जाओ।
फिर फ्रायड का तो इतना ही ख्याल है कि आदमी के मन में तनाव हों, चिंताएं हों, तो उन्हें थोड़ा कम कर दिया जाए, उनकी मात्रा कम कर दी जाए, मात्रा-भेद होगा। समझो कि एक आदमी सौ डिग्री पर उबलता है और पागल हो जाता है, तुम निन्यानबे डिग्री पर हो तो तुम पागल नहीं हो। एक सौ डिग्री पर जो है वह पागल है, वह पागलखाने में है। तुममें और पागलखाने वाले आदमी में फर्क कितना है? एक डिग्री का। यह मात्रा का ही फर्क है, यह कोई असली फर्क नहीं है।
बुद्ध तो कहते हैं, असली फर्क तब होता है जब तुम्हारा मन समाप्त हो जाता है। जिसके पास मन न रहा, उसके पागल होने का उपाय ही न रहा। जब तक मन है, तब तक तुम पागल होने के करीब, या दूर, मगर रहोगे पागल ही। कोई निन्यानबे डिग्री का पागल, कोई सौ डिग्री का, कोई एक सौ एक डिग्री का। जो आदमी अभी पागलखाने में चला गया, वह भी कल तुम्हारे जैसा ही था। दफ्तर आता था, काम करता था, तुमने कभी सोचा भी नहीं था कि यह पागल हो जाएगा। कल तुम भी पागल हो

सकते हो। जरा सा मात्रा का भेद है। कोई एक छोटी सी चीज, कहते हैं कि एक तिनका नाव को डुबा सकता है; आखिरी तिनका ऊंट की कमर तोड़ देता है। तुम भी निन्यानबे डिग्री पर चल रहे हो। पत्नी मर गयी, कि दिवाला निकल गया, कि बैंक डूब गयी, कि मकान में आग लग गयी और बीमा नहीं था--जरा सा तिनका--सौ डिग्री से छलांग लगा गए एक सौ एक डिग्री पर, पागलखाने चले गए।
फ्रायड क्या करेगा? खींचकर तुम्हें फिर निन्यानबे डिग्री पर ले आएगा। पूर्वदशा में ला देगा, जहां से तुम पागल हुए थे। लेकिन यह पागलपन से छुटकारा नहीं है, क्योंकि पूर्वदशा में आकर फिर तुम पागल हो सकते हो। फिर-फिर पागल हो सकते हो।
बुद्ध की व्यवस्था रूपांतरण की है। चित्त से बाहर हो जाना है। चित्त
जब तक है तब तक हम जाल में हैं। चित्त बिल्कुल ही शांत हो जाए, डिग्री की बात नहीं है।
तो जिसको हम कहते हैं मन से भरा आदमी, वही संसारी। और जिसको बुद्ध कहते हैं अर्हत, मन से मुक्त आदमी।
मन से मुक्त होना है बुद्ध के मार्ग से। फ्रायड के मार्ग से मन की मुक्ति नहीं है, मन का समायोजन है, फिर से व्यवस्था जुटा लेनी है। सामान वही है, स्थिति वही है, थोड़ी व्यवस्था में अंतर कर लेना है। थोड़ी टेबल यहां रख दी, कुर्सी वहां रख दी, कमरे को फिर से सजा लिया; फर्नीचर वही है। बुद्ध के हिसाब से सारा फर्नीचर अलग कर देना है। विचार मात्र को अलग कर देना है। जब तक विचार है, तब तक पागल होने की संभावना है। निर्विचार कभी विक्षिप्त नहीं हो सकता। जो निर्विचार में प्रवेश कर गया, वह परम स्वास्थ्य का धनी हो गया!
फिर यह भी ख्याल रखना कि फ्रायड की दृष्टि में कोई पारलौकिकता नहीं है। फ्रायड की दृष्टि में कोई ट्रान्सेंडेंटल, कोई अतिक्रमण करने वाली भावातीत अवस्था नहीं है। बस यही जीवन सब कुछ है। और बुद्ध की दृष्टि में यह जीवन कुछ भी नहीं है। दूसरा जीवन। वही सब कुछ है। शरीर का जीवन कुछ नहीं, मन का जीवन कुछ नहीं, अहंकार का जीवन कुछ नहीं; इन तीनों से मुक्त होकर शून्य के जीवन में प्रवेश करना है--निर्वाण सब कुछ है।
संक्षिप्त में कहें तो ऐसा कह सकते हैं--फ्रायड ज्यादा से ज्यादा तुम्हें एकाध रोग से छुटकारा दिलवा दे, बुद्ध तुम्हें जीवन के रोग से ही छुटकारा दिलवा देते हैं। फ्रायड एक-एक रोग का इलाज करता है, बुद्ध रोग की मूल जड़ को काट देते हैं।
इसलिए कल देखा न उनका सूत्र, कहा--भिक्षुओ, एक-एक वृक्ष को मत काटो, सारे जंगल को ही काट डालो। एक-एक रोग से क्या लड़ोगे? क्रोध है, काम है, लोभ है, मोह है, मत्सर है, ईर्ष्या है, जलन है, एक-एक से क्या लड़ोगे? पूरा जंगल ही काट डालो। और जंगल काटने का उपाय है--मन को काट दो, सारा जंगल सूख जाता है, क्योंकि सारे जंगल की जड़ें मन की भूमि में हैं।
जीवन से मुक्त हो जाओ। जीवन ही रुग्ण है। इसलिए बुद्ध कहते हैं, जीवन दुख है।
बुद्ध ने जो कहा, वह परम चिकित्सा है। वह आत्यंतिक चिकित्सा है। वह जीवन के रोग से छूटने का विधि-विधान है। वह तुम्हें परमात्मा में ले जाने का उपाय है। उससे आता है मोक्ष।
फ्रायड को तो मोक्ष का कुछ पता भी नहीं है। और फ्रायड तुम्हारे जैसा
ही मन की उलझनों में पड़ा है, जरा भी भेद नहीं है। सोच-विचार का आदमी है, काफी विश्लेषक है, तार्किक है, लेकिन तुम्हारी जैसी ही झंझटों में पड़ा है। जरा भी भेद नहीं है। जरा सा मौका पड़ जाए तो फ्रायड खुद ही पागल हो जाता है। ऐसे मौके आए, जब छोटी सी बात ने उसे इतना क्रुद्ध कर दिया... एक बार तो वह इतना क्रोधित हो गया कि बेहोश हो गया क्रोध में, तमतमा गया और बेहोश होकर गिर पड़ा।
फ्रायड सारी दुनिया को समझा रहा है कि कैसे मन के रोग मिटें, लेकिन मन
तो उसका भी बना हुआ है। और मन के रोग मिटते नहीं हैं जब तक मन बना है। स्रोत को ही मिटा दो, तो ही रोग जाते हैं।

तीसरा प्रश्नः ध्यान क्या है?

इस छोटी सी घटना को समझें।
चांग चिंग के संबंध में कहा जाता है, वह बड़ा कवि था, बड़ा सौंदर्य-पारखी था। कहते हैं, चीन में उस जैसा सौंदर्य का दार्शनिक नहीं हुआ। उसने जैसे सौंदर्य-शास्त्र पर, एस्थेटिक्स पर बहुमूल्य ग्रंथ लिखे हैं, किसी और ने नहीं लिखे। वह जैसे उन पुराने दिनों का क्रोशे था। बीस साल तक वह ग्रंथों में डूबा रहा। सौंदर्य क्या है, इसकी तलाश करता रहा।
एक रात, आधी रात, किताबों में डूबा-डूबा उठा, पर्दा सरकाया, द्वार के बाहर झांका--पूरा चांद आकाश में था। चिनार के ऊंचे दरख्त जैसे ध्यानस्थ खड़े थे। मंद समीर बहती थी। और समीर पर चढ़कर फूलों की गंध उसके नासापुटों तक आयी। कोई एक पक्षी, जलपक्षी जोर से चीखा, और उस जलपक्षी की चीख में कुछ घटित हुआ--कुछ घट गया। चांग चिंग अपने आपसे ही जैसे बोला--हाउ मिस्टेकन आइ वाज! हाउ मिस्टेकन आइ वाज! रेज द स्क्रीन एंड सी द वर्ल्ड। कैसी मैं भूल में भरा था! कितनी भूल में था मैं! पर्दा उठाओ और जगत को देखो! बीस साल किताबों में से उसे सौंदर्य का पता न चला। पर्दा हटाया और सौंदर्य सामने खड़ा था, साक्षात।
तुम पूछते हो, "ध्यान क्या है?"
ध्यान है पर्दा हटाने की कला। और यह पर्दा बाहर नहीं है, यह पर्दा तुम्हारे भीतर पड़ा है, तुम्हारे अंतस्तल पर पड़ा है। ध्यान है पर्दा हटाना। पर्दा बुना है विचारों से। विचार के ताने-बानों से पर्दा बुना है। अच्छे विचार, बुरे विचार, इनके ताने-बाने से पर्दा बुना है। जैसे-जैसे तुम विचारों के पार झांकने लगो, या विचारों को ठहराने में सफल हो जाओ, या विचारों को हटाने में सफल हो जाओ, वैसे ही ध्यान घट जाएगा। निर्विचार दशा का नाम ध्यान है।
ध्यान का अर्थ है, ऐसी कोई संधि भीतर जब तुम तो हो, जगत तो है और दोनों
के बीच में विचार का पर्दा नहीं है। कभी सूरज को ऊगते देखकर, कभी पूरे चांद को देखकर, कभी इन शांत वृक्षों को देखकर, कभी गुलमोहर के फूलों पर ध्यान करते हुए--तुम हो, गुलमोहर है, सजा दुल्हन की तरह, और बीच में कोई विचार नहीं है। इतना भी विचार नहीं कि यह गुलमोहर का वृक्ष है, इतना भी विचार नहीं; कि फूल सुंदर हैं, इतना भी विचार नहीं--शब्द उठ ही नहीं रहे हैं-- अवाक, मौन, स्तब्ध तुम रह गए हो, उस घड़ी का नाम ध्यान है।
पहले तो क्षण-क्षण को होगा, कभी-कभी होगा, और जब तुम चाहोगे तब न होगा,
जब होगा तब होगा। क्योंकि यह चाह की बात नहीं, चाह में तो विचार आ गया। यह तो कभी-कभी होगा।
इसलिए ध्यान के संबंध में एक बात ख्याल से पकड़ लेना, खूब गहरे पकड़ लेना--यह तुम्हारी चाहत से नहीं होता है। यह इतनी बड़ी बात है कि तुम्हारी चाहत से नहीं होती है। यह तो कभी-कभी, अनायास, किसी शांत क्षण में हो जाती है।
तो हम करें क्या? ध्यान के लिए हम करें क्या? यही शायद तुमने पूछना चाहा है कि ध्यान क्या है? कैसे करें?
ध्यान के लिए हम इतना ही कर सकते हैं कि अपने को शिथिल करें, दौड़धाप से थोड़ी देर के लिए रुक जाएं, घड़ीभर को चौबीस घंटे में सब आपाधापी छोड़ दें। लेकर तकिया निकल गए, लेट गए लान पर, टिक गए वृक्ष के साथ, आंखें बंद कर लीं; पहुंच गए नदी तट पर, लेट गए रेत में, सुनने लगे नदी की कलकल। मंदिर-मस्जिद जाने को मैं कह ही नहीं रहा हूं, क्योंकि पत्थरों में कहां ध्यान! तुम जीवंत प्रकृति को खोजो।
इसलिए बुद्ध ने अपने शिष्यों को कहा, जंगल चले जाओ। वहां प्रकृति नाचती चारों तरफ। चौबीस घंटे वहां रहोगे, कितनी देर तक बचोगे, कभी न कभी-- तुम्हारे बावजूद--किसी क्षण में अनायास प्रकृति तुम्हें पकड़ लेगी। एक क्षण को संस्पर्श हो जाए, एक क्षण को द्वार खुल जाएं, एक क्षण को पर्दा हट जाए, तो ध्यान का पहला अनुभव हुआ।

और पहले अनुभव के बाद फिर अनुभव आसान हो जाते हैं। आसान इसलिए हो जाते हैं कि तब तुम्हें एक बात समझ में आ जाती है कि सीधे-सीधे ध्यान को पाने का कोई उपाय नहीं है, परोक्ष मार्ग है। तुम शिथिल रहो, आहिस्ता से चलो, आपाधापी छोड़ो, एक घंटे के लिए कम से कम चौबीस घंटे में लीन हो जाओ प्रकृति में, संगीत सुनो, कि पक्षियों के गीत सुनो; कुछ न हो करने को, आंख बंद कर लो, अपनी सांस सुनो।
बुद्ध ने तो इस पर बहुत जोर दिया। अपनी सांस को ही देखते रहो--आयी, गयी, आयी, गयी--इसकी माला बना लो, इससे बेहतर कोई माला नहीं है। हाथ में माला लेकर फेरोगे, वह तो बहुत जड़ माला है। यहां जीवित श्वास चल रही है, श्वास की माला फेरी जा रही है--श्वास भीतर आयी, बाहर गयी, श्वास भीतर आयी, बाहर गयी-- यह जो भीतर चक्र चल रहा है, मंडल श्वास का, इसको ही देखते रहो; शांत, मौन से इस पर ही टकटकी बांधे रहो और तुम हैरान हो जाओगे, किसी बहुमूल्य मुहूर्त में कभी ताल बैठ जाता है, अचानक सब एक हो जाता है, तुम मिट गए, संसार मिट गया।
पहले-पहले तो क्षणभर को ऐसी झलकें आएंगी, खो जाएंगी। जब खो जाएं तो फिर उनकी तीव्रता से आकांक्षा मत करना, अन्यथा वे कभी न आएंगी। जब खो जाएं, तो कहना ठीक; अब जब फिर दुबारा आएंगी, फिर भोगेंगे। मगर उनके आने के लिए द्वार-दरवाजे खुले रखना।
ऐसा ही समझो कि सूरज बाहर निकला है, तुम अपने कमरे में दरवाजा बंद किए बैठे हो, रोशनी भीतर नहीं आती। अब सूरज को कोई गट्ठर में बांधकर भीतर लाने का उपाय भी तो नहीं है! सूरज की किरणों को कोई गाय-बैल जैसा हांककर भीतर लाने का उपाय भी तो नहीं है! क्या करोगे? दरवाजा खोल दो, सूरज की किरणें अपने से भीतर आ जाती हैं। कभी-कभी रात होगी और नहीं आएंगी, क्योंकि सूरज नहीं है। कभी-कभी दिन होगा और आएंगी, क्योंकि सूरज है। कभी-कभी दिन भी होगा और बादल घिरे होंगे और नहीं आएंगी, क्योंकि सूरज बादलों में ढंका है। मगर कभी-कभी मौके मिलेंगे जब दिन है, बादल भी नहीं हैं, सूरज प्रगट है, तो किरणें भीतर आएंगी। तुम ज्यादा से ज्यादा बाधा न दो, बस इतना ही काफी है। मेरी बात को ख्याल में ले लेना। ध्यान को सीधा-सीधा नहीं किया जाता, बाधा न दो। इसीलिए तो मैं कहता हूं, नाचो, गाओ। नाचने और गाने में तुम लीन हो जाओ, अचानक तुम पाओगे, हवा के झोंके की तरह ध्यान आया, तुम्हें नहला गया, तुम्हारा रोआं-रोआं पुलकित कर गया, ताजा कर गया। धीरे-धीरे तुम समझने लगोगे इस कला को--ध्यान का कोई विज्ञान नहीं है, कला है। धीरे-धीरे तुम समझने लगोगे कि किन घड़ियों में ध्यान घटता है, उन घड़ियों में मैं कैसे अपने को खुला छोड़ दूं। जैसे ही तुम इतनी सी बात सीख गए, तुम्हारे हाथ में कुंजी आ गयी।
इसे इस तरह प्रयोग करो--कभी रात नींद खुल गयी है, बिस्तर पर पड़े हो, अनिद्रा के लिए परेशान मत होओ, इस मौके को मत खोओ, यह शुभ घड़ी है। सारा जगत सोया है, पत्नी-बच्चे, सब सोए हैं, तो मौका मिल गया है। बैठ जाओ अपने बिस्तर में ही, रात के सन्नाटे को सुनो; ये बोलते हुए झींगुर, यह रात की चुप्पी, यह सारा जगत सोया हुआ, सारा कोलाहल बंद, जरा सुन लो इसे शांति से। यह शांति तुम्हारे भीतर भी शांति को झनकारेगी। यह बाहर गूंजती हुई शांति तुम्हारे भीतर हृदय में भी गूंज पैदा करेगी, प्रतिध्वनि पैदा करेगी। जब सारा घर और सारी दुनिया सोयी हो तो आधी रात चुपचाप अपने बिस्तर में बैठ जाने से ज्यादा शुभ घड़ी ध्यान के लिए खोजनी कठिन है।
लेकिन मैं यह नहीं कह रहा हूं कि तुम आधी रात अलार्म भरकर बैठ जाओ। कभी! नहीं तो धोखा हो जाएगा। तुमने अगर इसको कोई नियम बना लिया कि अलार्म भरकर और दो बजे रात उठकर बैठ जाएंगे, फिर सब गड़बड़ हो जाएगी। ध्यान तुम्हारे खींचे-खींचे नहीं आता। ध्यान इतनी नाजुक बात है। तुम बुलाते हो तो संकोच से भर जाता है, आता ही नहीं। बड़ी नाजुक दुल्हन है ध्यान। तुम जोर-जबर्दस्ती मत करना, नहीं तो बलात्कार हो जाएगा। बहुत धीरे-धीरे फुसलाना पड़ता है। फुसलाने शब्द को याद रखना। ध्यान को फुसलाना पड़ता है। फिर चौबीस घंटे में कभी भी हो सकता है; लेकिन ख्याल यही रखना कि फुसलाना है, आयोजन

नहीं करना है। नहीं तो लोग हैं कि रोज पांच बजे रात उठ आए और बैठ गए ध्यान करने। जड़ की तरह, यंत्रवत, मशीन की तरह। नहीं, ऐसा ध्यान नहीं होता।
हां, तुम ख्याल रखो, थोड़ा अपने हृदय का भी भाव रखो कि जब तुम्हारा हृदय बहता हो, तब चूकना मत। तब हजार काम हों तो छोड़कर एकांत में बैठ जाना। अपने स्नानगृह में भी बैठ गए जाकर तो चलेगा। लेकिन जब तुम्हें लगे कि हां, अभी भीतर घड़ी आती मालूम पड़ती है, विचार कुछ कम हैं, तनाव कुछ कम है, मन कुछ प्रफुल्लित है, आनंदित है--यह घड़ी है!
लोग अक्सर उलटा करते हैं। जब उनका मन दुखी होता है तब ध्यान करते हैं। लोग दुख में भगवान को याद करते हैं! यह तो जब उलटी हवा बह रही है, तब बहुत कठिन हो जाएगा। सुख में याद करना।
इसलिए मेरे सूत्र अनूठे हैं। मैं तुमसे कहता हूं, जब तुम्हारा मन बड़ा सुखी मालूम पड़े। कोई मित्र घर आया है, बहुत दिनों बाद मिले हैं, गले लगे हैं, गपशप हुई है, मन ताजा है, हलका है, खूब प्रसन्न हो तुम, इस मौके को छोड़ना मत। बैठ जाना एकांत में। इस घड़ी में सुख का सुर बज रहा है, परमात्मा बहुत करीब है।
सुख का अर्थ ही होता है, जब तुम्हारे जाने-अनजाने परमात्मा करीब होता है; चाहे जानो, चाहे न जानो! सुख जब तुम्हारे भीतर बजता है, तो उसका अर्थ हुआ कि परमात्मा तुमसे बहुत करीब आ गया। तुम किसी अनजाने मार्ग से घूमते- घूमते परमात्मा के पास पहुंच गए हो, मंदिर करीब है, इसीलिए सुख बज रहा है। इस घड़ी को चूकना मत। इस घड़ी में तो जल्दी से खोजना, कहीं किनारे पर ही, हाथ के बढ़ाने से ही मंदिर का द्वार मिल जाएगा।
लेकिन लोग दुख में याद करते हैं, सुख में भूल जाते हैं! दुख में तुम मंदिर से बहुत दूर पड़ गए हो, अनंत दूरी है। दुख में तो भरोसा ही नहीं आता कि ईश्वर हो भी सकता है। दुख में कहां भरोसा आ सकता है! दुख में तो ऐसा लगता है, इस संसार में कोई नहीं है। दुख में तो ऐसा लगता है कि यह कोई शैतान चला रहा है इस संसार को। कोई दुष्ट! दुख में तो ऐसा लगता है कि समाप्त कर लो अपने को--न कोई कृतज्ञता, न कोई धन्यवाद का भाव उठता; दुख में कैसे उठे! लेकिन लोग दुख में मंदिर जाते, मस्जिद जाते, भगवान को याद करते, प्रार्थना करते और सुख में भूल जाते।
और मैं तुमसे कहता हूं, सुख में ही घटता है। सुख के क्षण में ही तुम करीब से करीब होते हो। उस समय सरक जाना। उस समय लेट जाना जमीन पर साष्टांग, रख देना सिर भूमि पर, ठंडी गीली लान पर लेट जाना, आंख बंद कर लेना, उस क्षण सोच लेना अपने को कि मिल रहे पृथ्वी के साथ, एक हो रहे पृथ्वी के साथ। और तुम पाओगे, कभी-कभी आ जाती है लहर, तरंग की तरह तुम्हारे भीतर प्राणों में कुछ कंप जाता है, कोई नयी बीन बजती। धीरे-धीरे पहचान हो जाएगी। और धीरे- धीरे तुम्हें कला आ जाएगी। तुम धीरे-धीरे पहचानने लगोगे कि कब इसके होने के क्षण होते हैं। कैसी दशा होती है तुम्हारी जब यह निकटता में घट जाती है बात; और कैसी दशा होती है तुम्हारी जब यह मुश्किल होती है बात। फिर तुम पहचान पकड़ जाओगे; तुम्हारी आत्मभिज्ञा, तुम्हारी प्रत्यभिज्ञा, तुम्हारी पहचान धीरे-धीरे साफ होने लगेगी। पहले तो अंधेरे में टटोलने जैसा है। मगर ध्यान घटता है। और कभी-कभी तो उन लोगों को भी घटता है जिन्होंने ध्यान के संबंध में कुछ सोचा ही नहीं। अधार्मिकों को भी घटता है। क्योंकि ध्यान की कोई शर्त ही नहीं है। छोटे बच्चों को घट जाता है। छोटे बच्चों को ज्यादा घट जाता है, बजाय बड़ों के। एक तितली के पीछे भाग रहा है बच्चा, सुबह का सूरज निकला है, भागा जा रहा है तितली के पीछे, सब भूल जाता है, तितली ही सब हो गयी, उसे याद ही नहीं रहती, खुद भी तितली जैसा उड़ा जा रहा है, उस घड़ी ध्यान की झलक मिल जाती है।
लोग जीवनभर याद करते हैं कि बचपन में बड़ा सुख था। किस सुख की याद है यह? क्या तुम सोचते हो बचपन में तुम्हारे पास बहुत धन था? नहीं था, जरा भी नहीं था, दो-दो पैसे के लिए रोना पड़ता था! एक-एक पैसे के लिए बाप और मां के मोहताज होना पड़ता था! धन तो नहीं था। कोई बड़ा पद था? कहां से होता पद! सब तरह की झंझटें थीं, स्कूल कारागृह था, जहां रोज-रोज बांधकर भेज दिए जाते

थे; जहां बैठे-बैठे सिवाय परेशान होते थे और कुछ समझ में न पड़ता था। और हर कोई दबा देता था, बल भी नहीं था। हर एक छाती पर सवार था।
तो बचपन में सुख कैसा था? न धन था, न पद था, न प्रतिष्ठा थी; न कोई सम्मान देता था, सुख हो कैसे सकता था? सुख कुछ और था। तितलियों के पीछे भागने में ध्यान की किरण उतर आयी थी। सागर के किनारे शंख-सीप बीनने में परम आनंद का क्षण उतरा था। कंकड़-पत्थर बीन लाए थे और समझे थे कि हीरे ले आए, और किस चाल से मस्त होकर आए थे! कुछ भी न था हाथ में, लेकिन कुछ ध्यान की सुविधा थी।
मेरे देखे बचपन में ध्यान के अतिरिक्त और कोई सुख नहीं है। तुम भूल गए हो, तुम्हें इतना ही भर याद रही है कि बड़ा सुख था। अगर तुमसे कोई पूछे कि बताओ क्या-क्या सुख था, तो तुम मुश्किल में पड़ोगे। और ध्यान की तो तुम्हें याद ही नहीं है, ध्यान शब्द ही अपरिचित हो गया है। बच्चे को ऐसा पता भी नहीं था कि यह ध्यान है। पर पता होने से क्या होता है! तुम्हें पता हो कि सोना है या नहीं है, इससे क्या होता है? सोना सोना है।
जैसे-जैसे तुम बड़े होते गए वैसे-वैसे ध्यान छूटता गया, क्योंकि तुम विचारों में ज्यादा पड़ते गए। विचार का शिक्षण दिया गया। स्कूल, कालेज, युनिवर्सिटी, सब विचार सिखाते हैं। अभी तक मनुष्य-जाति का ऐसा अभागापन है कि कोई विश्वविद्यालय ध्यान नहीं सिखाता! विचार। धीरे-धीरे तुम विचार से भरते गए, भरते गए। चिंताएं, चिंताएं, तुम चूक ही गए वे छोटे-छोटे क्षण जब पर्दा हट जाता था--अपने से हट जाता था।
तुमने देखा, बच्चे कैसे प्रमुदित मालूम होते हैं! छोटे-छोटे बच्चे, जिनके पास कुछ भी नहीं है! कोई कारण नहीं है प्रसन्न होने का, अकारण प्रसन्न हैं। वह अकारण प्रसन्नता ध्यान है। देखा, एक छोटा बच्चा अपने झूले में पड़ा है, कुछ नहीं है चूसने को, अंगूठा चूस रहा है, और कैसा प्रसन्न मालूम होता है! ऐसा प्रसन्न मालूम होता है कि सिकंदर भी न रहा होगा प्रसन्न, अकबर और अशोक भी न रहे होंगे ऐसे प्रसन्न, बड़े से बड़े साम्राज्य के मालिक ऐसे प्रसन्न न रहे होंगे! इसके पास कुछ भी नहीं है, या तो अपने हाथ का या पैर का अंगूठा डाले चूस रहा है। लेकिन कुछ घट रहा है। अभी पर्दा खुला ही है, अभी विचार उठते ही नहीं, अभी भीतर की बीन बज रही है।
यहूदियों में एक कथा है कि जब कोई बच्चा पैदा होता है, तो देवता आते हैं और उस बच्चे के सिर पर हाथ फेरते हैं; ताकि वह भूल जाए उस सुख को जो सुख परमात्मा के घर उसने जाना था, नहीं तो जिंदगी बड़ी कठिन हो जाएगी--दयावश ऐसा करते हैं वे, नहीं तो जिंदगी बड़ी कठिन हो जाएगी। अगर वह सुख याद रहे, तो बड़ी कठिन हो जाएगी, तुलना में। तुम फिर कुछ भी करो, व्यर्थ मालूम पड़ेगा। धन कमाओ, पद कमाओ, सुंदर से सुंदर पत्नी और पति ले आओ, अच्छे से अच्छे बच्चे हों, बड़ा मकान हो, कार हो, कुछ भी सार न मालूम पड़ेगा, अगर वह सुख याद रहे। तो यहूदी कथा कहती है कि एक देवता उतरता है करुणावश और हर बच्चे के माथे पर सिर्फ हाथ फेर देता है। उस हाथ के फेरते ही पर्दा बंद हो जाता है, उसे भूल जाता है परमात्मा। सुख भूल गया, फिर यह जीवन के दुखों में ही सोचने लगता है, सुख होगा।
उस पर्दे को फिर से खोलना है, जो देवताओं ने बंद कर दिया है। मुझे तो नहीं लगता कि कोई देवता बंद करते हैं। देवता ऐसी मूढ़ता नहीं कर सकते। लेकिन समाज बंद कर देता है। शायद कहानी उसी की सूचना दे रही है। मां-बाप, परिवार, समाज, स्कूल बंद कर देते हैं, पर्दे को डाल देते हैं। ऐसा डाल देते हैं कि तुम भूल ही जाते हो कि यहां द्वार है, तुम समझने लगते हो दीवार है। ध्यान का अर्थ है, इस पर्दे को हटाना।
और इसे अनायास होने दो, इसे कभी-कभी तुम्हें पकड़ लेने दो--और जब तुम्हें यह तरंग पकड़े तो लाख काम छोड़कर बैठ जाना। क्योंकि इससे बहुमूल्य कोई और काम ही नहीं है। रात हो कि दिन, सुबह हो कि सांझ, फिर मत देखना। कुछ चूकोगे नहीं तुम, कुछ खोएगा नहीं। और अपूर्व होगी तुम्हारी संपदा फिर। और यह संपदा तुम्हारे भीतर पड़ी है, बस पर्दा हटाने की बात है।
"ध्यान क्या है?"
ध्यान भीतर पड़े पर्दे को हटाना है।

चौथा प्रश्नः मेरे प्रभु, मैंने संन्यास नहीं लिया है और लेने की इच्छा भी नहीं है। न मेरे प्राणों में परमात्मा को पाने की आकांक्षा है। तो फिर मेरे और आपके बीच संबंध क्या है? और मैं आपके पास बार-बार क्यों आती हूं?

पूछा है हेमा ने।
जिन्होंने संन्यास लिया है, वे तुम सोचती हो संन्यास लेने आए थे? जो मेरे पास आ गए हैं, तुम सोचती हो वे सब परमात्मा की खोज में निकले थे? तो तुम गलती में हो। न तो वे परमात्मा की खोज में आए थे--क्योंकि हम परमात्मा की खोज कैसे करें। हमें परमात्मा की याद ही नहीं रही है। खोज तो उसकी होती है जिसकी हमें याद हो। खोज तो उसकी होती है जिसका हमें कभी कोई अनुभव हुआ हो। अज्ञात को तो खोजा नहीं जा सकता, ज्ञात को ही खोजा जाता है। तुमने एक बार कोई सुख जान लिया तो फिर खोज शुरू होती है, उसके पहले तुम खोजोगे कैसे? छोटा बच्चा है, उसने संभोग का सुख नहीं जाना है, वह कैसे संभोग का सुख खोजेगा? एक जंगल में आदिवासी रहता है, उसने कार नहीं देखी, कार के संबंध में उसे कुछ पता नहीं, वह कभी कार खरीदने के सपने देखेगा? सोचेगा? कोई सवाल ही नहीं उठता। सवाल उठ ही नहीं सकता। हम उसी को खोजते हैं, जिसका हमें थोड़ा अनुभव हुआ।
तो जो यहां आए हैं, परमात्मा को खोजने नहीं आए थे, यहां आने के बाद थोड़ा रस लगा और खोज शुरू हुई। जो यहां आए हैं वे संन्यस्त होने नहीं आए थे। यहां आए और उलझ गए। यहां आए और फंस गए। यहां आए और धीरे-धीरे भूल गए कि संन्यस्त होने नहीं आए थे।
तो हेमा, संन्यास तेरा होगा। तुझे लेना हो या न लेना हो, यह होगा। इससे बचना बहुत मुश्किल है। एक अर्थ में यह हो ही गया है।
तू पूछती है कि "आपसे संबंध क्या है?"
संबंध बन ही गया है। और जब मुझसे संबंध बन गया है तो मेरे रंग में भी रंग ही जाना होगा, देर-अबेर की बात है। थोड़ा समय!
"और मैं आपके पास बार-बार क्यों आती हूं?"
आना ही पड़ेगा। और यह बार-बार आना संन्यासी भी बनाएगा। और परमात्मा की खोज भी शुरू होगी--खोज शायद शुरू हो ही गयी अचेतन तल पर। इसलिए तुझे साफ नहीं है कि क्यों आना होता है बार-बार, मुझे साफ है। भीतर अचेतन में पहले घटना घटती है, फिर चेतन तक खबर आती है; इसमें कभी-कभी महीनों लगते हैं, कभी सालों भी लग जाते हैं, कभी जन्मों भी लग जाते हैं--कुछ अभागे लोग हैं जिनको जन्म-जन्म लग जाते हैं इस बात को पक्का पता लगाने में कि जो उनके भीतर हो चुका है, वह क्या हुआ है! तुझे पता नहीं है अभी।
और तू कहती है कि "मुझे संन्यास न लेना है, न लेने की इच्छा है।"
इच्छा पैदा हो गयी है, नहीं तो यह प्रश्न भी पैदा न होता। कहीं बीज अंकुरित होना शुरू हो गया है। शायद अभी भूमि के ऊपर नहीं आया अंकुर, अभी भूमि में दबा है, अभी अंधेरे में दबा है, अचेतन में है, लेकिन उठना शुरू हो गया है। और देर नहीं लगेगी, जल्दी ही अंकुर सूरज के दर्शन करेगा।
और संन्यास का मतलब क्या है? संन्यास का इतना ही मतलब है कि संसार में
जो हमें उपलब्ध है वह काफी नहीं है, कुछ और चाहिए तृप्त होने के लिए। और क्या मतलब है! संन्यास का इतना ही मतलब है कि जो हमारे पास है, उससे संतोष नहीं है, उससे तृप्ति नहीं आ रही है, उससे हृदय गदगद नहीं हो रहा है; कुछ रूखा-रूखा रह गया है, सब है और कहीं कुछ खालीपन है। उस खालीपन के कारण ही संन्यास का जन्म होता है। इसीलिए तू भागी बार-बार यहां आती है।
यह बेचैनी अभी स्पष्ट नहीं है। लेकिन आज से स्पष्ट होनी शुरू होगी।
आज से अब मैं तेरा पीछा करूंगा। पहले तू सपने में संन्यास लेगी, फिर असलियत में। अब से सपने आने शुरू होंगे संन्यास के। अब से तू जहां भी देखेगी, गेरुवा रंग दिखायी पड़ेगा।
परमात्मा की तुझे अभी खोज नहीं है, ठीक है। परमात्मा की खोज किस को होती है शुरू में? शुरू में तो प्रेम की खोज होती है। फिर प्रेम की खोज ही

धीरे-धीरे गहन होते-होते परमात्मा की खोज बन जाती है। प्रेम का सघन रूप ही परमात्मा है।
तो मुझसे तेरा प्रेम तो लग गया है, इसलिए भागी चली आती है। अब यह प्रेम
तो बढ़ेगा। यह प्रेम तो परमात्मा बनेगा। और अगर तू सजग होकर इसको सहयोग दे तो यह घटना जल्दी घट जाए।
अक्सर ऐसा होता है कि लोग इस घटना को बाधा डालते हैं! डरते हैं, भयभीत होते हैं, रुकावट डालते रहते हैं। रुकावट डालो तो भी घटती है, लेकिन फिर समय ज्यादा लगता है। रुकावट न डालो, तो जल्दी घट जाती है।
परमात्मा द्वार पर ही खड़ा है, तुम रुकावट भर मत डालो, वह प्रविष्ट हो जाता है।

पांचवां प्रश्नः बुद्धपुरुष प्रत्येक को ही निर्वाण देने में समर्थ क्यों नहीं होते?

निर्वाण कोई लेने-देने की बात है! यह कोई वस्तु तो नहीं है कि उठायी और
दे दी। यह किसी के दिए थोड़े ही होगा; निर्वाण तो तुम्हारा ही प्रस्फुटन है। तुम्हारा ही कमल खिलेगा तब होगा। तुम चाहोगे और अंतरतम से चाहोगे, त्वरा से चाहोगे, घनीभूत रूप से चाहोगे, तब होगा। बहुत रोओगे, बहुत चीखोगे- चिल्लाओगे, तब होगा। कोई दे दे, यह भेंट नहीं है। और भेंट अगर कोई दे दे तो तुम उसका मूल्य भी न समझ पाओगे। मूल्य तो तभी समझ में आता है, जब हम श्रम से उपलब्ध करते हैं। लंबी यात्रा है, पहाड़ की चढ़ाई है।
नहीं, बुद्ध इसे तुम्हें दे नहीं सकते। इसलिए नहीं कि बुद्ध कृपण हैं, बुद्ध देना भी चाहें तो नहीं दे सकते। यह निर्वाण का स्वभाव नहीं कि दिया जा सके। समाधि किसी को दी नहीं जा सकती।
इस घटना को समझो--
एक आलोचक बुद्धि के व्यक्ति ने--रहा होगा तुम्हारे जैसा--एक दिन बुद्ध
से आकर कहा कि महाशय, आप इतना समझाते हैं, इतनी मेहनत करते हैं, इसके बजाय आप लोगों को सीधा निर्वाण क्यों नहीं पहुंचा देते? समझाने-बुझाने में क्या रखा है? और समझाने-बुझाने से कौन समझता है! कोई समझता नहीं दिखायी पड़ रहा है। फिर आपको मिल गया, आप बांट क्यों नहीं देते? अगर आपके पास है, तो देने में अड़चन क्या है?
वह आदमी भी ठीक कह रहा है, ठीक तर्कयुक्त बात कह रहा है, कि अगर है तो
दे दो। आपको मिल गया, हमें भी बांट दो। कृपणता क्यों है? कंजूसी क्यों है? बुद्ध ने कहा, एक काम कर; सांझ उत्तर दूंगा, उसके पहले एक और जरूरी काम है, वह तू कर आ। उसने पूछा, क्या काम है? बुद्ध ने कहा, तू गांव में जा और हर आदमी से पूछ कि उसकी महत्वाकांक्षा क्या है? क्या चाहता है जीवन में? वह आदमी कुछ समझा नहीं कि बात क्या है, लेकिन वह चला गया। सांझ लौटा, फेहरिश्त बनाकर लौटा। छोटा सा तो गांव था, सौ-पचास आदमी रहते होंगे, सबकी फेहरिश्त बना लाया। थका-मांदा आया लंबी फेहरिश्त लेकर।
बुद्ध ने पूछा कि क्या खोज लाए हो, क्या आविष्कार है? उस व्यक्ति ने कहा, उनकी आकांक्षाओं की लंबी फेहरिश्त बना लाया हूं। कोई शक्ति के लिए पागल है, कोई पद के लिए, कोई प्रतिष्ठा के लिए, कोई सत्ता के लिए, कोई धन-समृद्धि के लिए, कोई सौंदर्य-स्वास्थ्य के लिए, कोई सुख-सुविधा के लिए, कोई प्रेम के लिए, कोई लंबे आयुष्य, कोई सुंदर रमणियों के लिए, कोई सुंदर पुरुषों के लिए, कोई महल के लिए, कोई राज्य के लिए, इस तरह की उनकी आकांक्षाएं हैं--उसने फेहरिश्त पढ़कर सुना दी।
बुद्ध ने पूछा, किसी ने निर्वाण भी चाहा? किसी ने निर्वाण की भी आकांक्षा प्रगट की? वह आदमी उदास हो गया, उसने कहा कि नहीं प्रभु, कोई भी नहीं, एक भी नहीं। बुद्ध ने पूछा, तूने अपना भी नाम फेहरिश्त में लिखा है या नहीं? उसने कहा, लिखा है। वह आखिरी में उसका भी नाम था। तू क्या चाहता है? वह लंबी उम्र चाहता था।
बुद्ध ने पूछा, कोई भी निर्वाण नहीं चाहता, मैं जबरदस्ती कैसे दे दूं?
तू भी नहीं चाहता! और सुबह ही तू पूछने आया था कि निर्वाण आप दे क्यों नहीं

देते? कोई चाहे न तो कैसे दिया जा सकता है? निर्वाण कोई जबरदस्ती तो नहीं हो सकता, किसी पर थोपा तो नहीं जा सकता। निर्वाण का अर्थ ही परम स्वतंत्रता है, परम स्वतंत्रता थोपी नहीं जा सकती।
यह समझ लेना। किसी आदमी पर परतंत्रता तो थोपी जा सकती है, स्वतंत्रता नहीं थोपी जा सकती। तुम किसी आदमी को कारागृह में डालकर कैदी बना सकते हो, लेकिन किसी को मुक्त नहीं बना सकते। मुक्ति तो बड़ी अंतर्दशा है। कोई बंधा ही रहना चाहे तो तुम क्या करोगे? किसी का बंधनों से मोह हो गया हो तो तुम क्या करोगे? धन, पद, प्रतिष्ठा, इनकी जो आकांक्षाएं हैं, ये तो बंधन हैं। ये सारी आकांक्षाएं जो तुम फेहरिश्त में ले आए हो, बुद्ध ने कहा, ये सब निर्वाण के लिए बाधा हैं। न केवल तुम्हारे गांव में कोई निर्वाण नहीं चाहता है, बल्कि लोग जो चाहते हैं उसके कारण निर्वाण हो भी नहीं सकता है। निर्वाण का अर्थ है, यह जीवन असार है, ऐसा दिखायी पड़ा। पार के जीवन को खोजने की आकांक्षा पैदा हुई--कुछ और हो, कुछ सारपूर्ण, कुछ अर्थपूर्ण, उसे खोजें।
नहीं, बुद्ध कृपण नहीं हैं। बुद्ध ने पूरे जीवन, कोई चालीस साल, सतत बांटने की कोशिश की है; मगर कोई लेने वाला हो तब न! यहां धन के भिखारी हैं, यहां धर्म का भिखारी कौन! यहां पद के भिखारी हैं, यहां परमात्मा का भिखारी कौन! यहां लोग संसार के आकांक्षी हैं, सत्य का आकांक्षी कौन!

छठवां प्रश्नः ज्योति से ज्योति का मिलन कैसे हो? कृपा कर बताएं कि मुझे कौन सा मार्ग अपनाना चाहिए?

पूछा है प्रेमा भारती ने।
नाम ही इसलिए दिया हूं तुझे प्रेमा कि प्रेम तेरे लिए मार्ग है। भक्ति तेरा मार्ग है। बुद्ध के मार्ग से तू न जा सकेगी। बुद्ध का मार्ग ध्यान का मार्ग है। बुद्ध के मार्ग से तेरा मेल न बैठेगा। और ऐसी घटना घटी है।
प्रेमा भारती ने यहां आने के पहले सालभर पहले विपस्सना का प्रयोग किया। विपस्सना बौद्धों का ध्यान है। और तबसे उसका सिरदर्द चल रहा है, सिर भारी है, शरीर टूटा-टूटा है, बेचैनी है, परेशानी है; तब से उसकी चेतना प्रगाढ़ होने के बजाय और धुंधली हो गयी और धुआं-धुआं हो गया।
विपस्सना का प्रयोग उनके लिए है जिनके लिए ध्यान का मार्ग ठीक पड़ता है। सभी मार्ग सभी के लिए ठीक नहीं हैं। और मार्ग मूलरूप से दो हैं--प्रेम और ध्यान। इसलिए बहुत सजग होकर प्रयोग करने चाहिए। इसलिए सदगुरु की अत्यंत आवश्यकता है, तुम कैसे तय करोगे?
अब जिस व्यक्ति ने प्रेमा को विपस्सना का प्रयोग करवा दिया, उसको कुछ
भी पता नहीं है कि वह क्या कर रहा है। उसे विपस्सना की प्रक्रिया मालूम होगी, लेकिन वह व्यक्ति सदगुरु नहीं है। नहीं तो रोक देता कि विपस्सना करना ही नहीं। विपस्सना करवाना प्रेमा को, उसे आत्मघात की तरफ ढकेलना है। उसकी धारा थी हृदय की। विपस्सना हृदय के बिल्कुल विपरीत है। उसकी धारा थी प्रेम की। विपस्सना प्रेम को सुखा डालती है। और यह सालभर से जो उसे परेशानी हो रही है, वह इसीलिए परेशानी हो रही है कि विपस्सना ने एक दीवार खड़ी कर दी उसके प्रेम के झरने में। और वह उसका सहज स्वभाव था। वही था मार्ग उसके लिए परमात्मा तक पहुंचने का।
तो मैं जब बुद्ध पर बोलता हूं, तब तुम्हें सदा सावधान करता हूं कि ठीक सोच लेना, तुम्हें अगर प्रेम बिल्कुल न जंचता हो, अगर तुम्हें प्रेम में कुछ रस न आता हो और भक्ति में तुम्हारे भीतर कोई भाव न उठता हो और प्रार्थना तुम्हारे लिए बिल्कुल ही व्यर्थ मालूम पड़ती हो, तो बुद्ध के मार्ग पर जाना।
अगर तुम्हें प्रार्थना में आंसू बहते हों, हृदय डोल उठता हो, मगन हो उठता हो, मस्ती छा जाती हो, श्रद्धा सरल हो, तो फिर बुद्ध के मार्ग में मत जाना। फिर नारद का मार्ग है, फिर मीरा-कबीर का मार्ग है, चैतन्य का मार्ग है।

दुनिया में दो ही मार्ग हैं, क्योंकि आदमी के भीतर दो केंद्र हैं--एक हृदय का और एक बुद्धि का। बुद्ध का मार्ग बुद्धि का मार्ग है। बुद्धि को निखारो, खालिस करो; इतना खालिस करो कि विचार की धूल हट जाए, सिर्फ खालिस बुद्धिमत्ता रह जाए, तो तुम बुद्ध हो गए। नारद का मार्ग है--अपने हृदय को निखारो और साफ करो; इतना निखारो, इतना साफ करो कि राग न रह जाए, प्रेम ही बचे; मोह न रह जाए, प्रेम ही बचे। शुद्ध प्रार्थना बचे, अकारण, कोई मांग न हो, कोई वासना न हो।
दोनों का परिणाम एक ही है। विचार न रह जाएं--वासनाएं समाप्त हो जाती हैं; विचार न रह जाएं--राग समाप्त हो जाता है। लेकिन विचार के न रहने पर जो पहला अनुभव होता है ध्यान के पथिक का, वह है शुद्ध चैतन्य का, चित का। प्रेम के पथिक को जो अनुभव होता है पहला, वह है शुद्ध प्रेम का, बेशर्त प्रेम का; सारे अस्तित्व के प्रति प्रेम बहा जाता है, किसी कारण से नहीं, अकारण; जैसे झरने बह रहे सागर की तरफ, ऐसा तुम्हारा हृदय बहता समस्त की तरफ। वासना चली जाती, राग चला जाता, विचार भी चले जाते--प्रेम के गहन क्षण में कैसे विचार!
ध्यान के मार्ग पर पहले ध्यान घटता है, फिर पीछे से प्रेम आता है। और प्रेम के मार्ग पर पहले प्रेम घटता है, पीछे से ध्यान आता है।
प्रेमा को मैंने इसलिए नाम दिया--प्रेमा। उसमें उसको मार्ग का इंगित दिया है। ध्यान की भूल में मत पड़ना। तेरे लिए प्रेम ही ध्यान है। गाओ, गुनगुनाओ, नाचो, डोलो, मस्त बनो; आत्मा की शराब पीओ।
तुम बिछुड़े मिले हजार बार,
इस पार कभी उस पार कभी।
तुम कभी अश्रु बनकर आंखों से टूट पड़े
तुम कभी गीत बनकर सांसों से फूट पड़े
तुम टूटे जुड़े हजार बार,
इस पार कभी उस पार कभी।
तम के पथ पर तुम दीप जला धर गए कभी किरणों की गलियों में काजल भर गए कभी तुम जले बुझे प्रिय बार-बार,
इस पार कभी उस पार कभी।
फूलों की टोली में मुस्काते कभी मिले शूलों की बांहों में अकुलाते कभी मिले तुम खिले झरे प्रिय बार-बार,
इस पार कभी उस पार कभी।
तुम बनकर स्वप्न थके, सुधि बनकर चले साथ धड़कन बन जीवनभर तुम बांधे रहे गात
तुम रुके चले प्रिय बार-बार,
इस पार कभी उस पार कभी।
तुम पास रहे तन के तब दूर लगे मन से
जब पास हुए मन के तब दूर लगे तन से
तुम बिछुड़े मिले हजार बार,
इस पार कभी उस पार कभी।
गाओ, गुनगुनाओ, नाचो; मस्ती में डोलो। शराबी का रास्ता तुम्हारा रास्ता है। ऐसा मत सोचना कि प्रेम का रास्ता सरल है और ध्यान का रास्ता कठिन है। ऐसा भी मत सोचना कि ध्यान का रास्ता सरल है और प्रेम का रास्ता कठिन है। जो प्रेम के लिए नहीं बने हैं, उनके लिए प्रेम का रास्ता कठिन है। जो ध्यान के लिए नहीं बने हैं, उनके लिए ध्यान का रास्ता कठिन है। जो ध्यान के लिए बने हैं उनके लिए ध्यान का रास्ता बिल्कुल सुगम है, जो प्रेम के लिए बने हैं उनके लिए प्रेम का रास्ता सुगम है।
तो कसौटी तुम्हें देता हूं--जो सुगम हो, वही मार्ग है। जो सरल हो, वही मार्ग है। कठिन से मत उलझना। कठिन से सावधान। कठिन से बचना। जैसे ही लगे कि कोई चीज बहुत कठिन हो रही है, समझ लेना कि वह तुम्हारे अनुकूल नहीं पड़

रही है। जो अनुकूल पड़ता है, उसमें तो नए-नए पात निकलते हैं, नए-नए फूल ऊगते हैं, सब सुगम होता है। सुगम ही सही है, इजी इज राइट।
और मैं तुम्हें व्यर्थ की झंझटों में नहीं डालना चाहता। हालांकि मन हमेशा झंझट में रस लेता है। मन चाहता है, कठिन को करके दिखा दें, क्योंकि कठिन में अहंकार की तृप्ति होती है; इस सत्य को खूब ध्यान में रखना। कठिन का आकर्षण है, क्योंकि कठिन कहता है--चुनौती, करके दिखा दें।
तो अक्सर ऐसा होता है, लोगों का जो मार्ग नहीं है, उसमें उलझ जाते हैं।
जो प्रेम से जाते और सरलता से पहुंच जाते, वे ध्यान में लग जाते हैं। जो ध्यान से जाते और सरलता से पहुंच जाते, वे प्रेम में लग जाते हैं। आदमी का मन बड़ा अजीब है। विक्षिप्त है, उलटा सुझाता है। खोपड़ी, सभी खोपड़ियां उलटी खोपड़ियां हैं। यहां मामला ही उलटा होता है।
इसलिए इससे बड़े सावधान रहना। कठिन में बड़ा आकर्षण मालूम होता है कि चलो दिखा दें करके। और अहंकार को तृप्ति मिलती है, अहंकार मजबूत होता है। और जिस चीज से अहंकार मजबूत होता है, उससे परमात्मा दूर होता है।
प्रेमी को तो पता ही नहीं चलता कि प्रेम में कोई कठिनाई है। ध्यानी को पता चलता है। जब ध्यानी देखता है प्रेमी को, तो वह सोचता है, कितना कठिन मामला! ध्यानी को पता नहीं चलता ध्यान में कोई कठिनाई है, प्रेमी को पता चलता है।
यह छोटी सी कहानी सुनो। प्रेमा पंजाब से है, यह कहानी भी पंजाब की है।
एक फकीर था, वह सड़कों पर चिल्लाता फिरता था--ईश्वर ले लो, नाम ले लो। नाम को तो नानक ने बड़ा मूल्य दिया, नाम को तो ईश्वर का पर्याय कहा। बस नाम ही सब कुछ है। तो वह फकीर चिल्लाता था--ईश्वर ले लो, नाम ले लो। नाम नाम का पंजाब में एक गहना भी होता था, एक आभूषण। इस आभूषण के कारण एक महाशय ने समझा कि वह उस आभूषण को बेचना चाहता है। वे उसके घर का पता लगाकर पहुंचे। उनकी लड़की की शादी होने वाली थी, वह उस आभूषण को खरीदना चाहते थे।
फकीर घर पर नहीं था, उसकी छोटी लड़की थी। इन साहब ने उससे कहा कि मैं नाम खरीदना चाहता हूं, तुम्हारे पिता कहां हैं? लड़की ने कहा, उनकी क्या जरूरत है, आप मूल्य चुकाने को तैयार हों तो मैं ही नाम दे दूंगी। लड़की भीतर गयी और छुरी पर धार रखने लगी। उसने पिता के मुंह से सुन रखा था कि ईश्वर को पाना हो तो खुद का जीवन देना होता है। इससे ही वह छुरी पर धार रख रही थी कि इन साहब को अपना जीवन दान करना पड़ेगा, तो छुरी तैयार कर दूं। इधर साहब को देर लगती देखकर बेचैनी होने लगी, उन्होंने खिड़की से झांककर देखा और कहा, लड़की क्या कर रही है? मैं खड़ा हूं, जल्दी नाम दे दो। उस लड़की ने कहा, ठहरो, अपना सिर भी तो देना होगा। उसके लिए ही इस छुरे पर धार रख रही हूं। यह सुन साहब गुस्से से भर गए। शोरगुल सुन मोहल्ले के लोग भी इकट्ठे हो गए। उन महाशय ने कहा, मैं इन बदमाशों को पुलिस में दूंगा। लड़की मेरी हत्या करना चाहती है।
इसी बीच लड़की का पिता भी आ गया। उसने स्थिति समझी और बोला, पागल लड़की, ईश्वर की इतनी सस्ती कीमत! नाम लेना है तो हजारों जीवन देने होते हैं, एक जीवन देने से क्या चलेगा! नाम लेना हो तो हजारों जीवन खोने पड़ते हैं, एक जीवन खोने से क्या चलेगा! और आप जनाब, एक ही गर्दन देने से घबड़ा गए और पुलिस में जा रहे हैं!
अब जाकर लोगों को समझ में आया कि नाम का क्या अर्थ है! उस फकीर ने अंत में कहा कि ईश्वर इसीलिए ही आज नहीं मिलता, क्योंकि मेरी बच्ची जैसे सस्ते दामों पर उसे बेचने वाले पैदा हो गए हैं।
समझने की कोशिश करना। चारों तरफ इस तरह के लोग हैं, जो तुम्हें बहुत सस्ते दामों पर विधियां दे रहे हैं। उन्हें खुद भी पता नहीं कि वे क्या कर रहे हैं!
अब यह प्रेमा जिनके पास जाकर विपस्सना सीखी, उन्होंने इसे विपस्सना सिखायी, यही काफी प्रमाण है कि उन्हें कुछ भी पता नहीं है। मैं यह नहीं कहता कि उन्हें विपस्सना की विधि का पता नहीं, टेक्निकल ज्ञान होगा, जरूर होगा; वह जानते होंगे कि क्या करना, कब करना, कैसे करना, लेकिन उन्हें

स्वयं का अनुभव नहीं हो सकता। टेक्निकल ज्ञान एक बात है, स्वयं का अनुभव बिल्कुल दूसरी बात है।
तुम ऐसा ही समझो कि एक आदमी ने किताब पढ़ी और किताब में देखा कि कार कैसे ड्राइव करनी होती है--सब पढ़ लिया, एक-एक ब्यौरा पढ़ लिया, लेकिन कभी कार ड्राइव नहीं की। इस आदमी के साथ गाड़ी में मत बैठ जाना अगर यह ड्राइव करने जाए तो! यह... यह पटकेगा कहीं, खतरे में ले जाएगा। इसने किताब में सब ब्यौरा पढ़ लिया है, इससे अगर परीक्षा लो तो यह परीक्षा बिल्कुल दे सकता है लिखित, एक-एक चीज के ठीक-ठीक उत्तर दे देगा। लेकिन लिखित उत्तर एक बात है, और कार चलाना बिल्कुल दूसरी बात है।
वर्षभर से प्रेमा परेशान है। करीब-करीब विक्षिप्तता जैसी हालत पैदा
हो गयी है। हो ही जाएगी; सस्ते दामों पर विधियां देने वाले लोग उपलब्ध हैं! जिन्हें कुछ पता नहीं है।
अब इस लड़की को कुछ पता नहीं था कि मामला क्या है? क्या नाम है, क्या मूल्य है, कुछ पता नहीं। सुना था बाप को कहते हुए कि नाम लेना हो तो जीवन देना पड़ता है, तो बेचारी छोटी लड़की, इसको माफ भी कर सकते हैं हम। लेकिन बड़े- बड़े भी यही कर रहे हैं। किताबों में पढ़ लिया है, किसी को सुन लिया है और फिर लोगों को बता रहे हैं। बचना उनसे! तुम्हारा जीवन मूल्यवान है और किसी के हाथ में खिलौना मत बनने देना।
प्रेमा के लिए प्रेम ही मार्ग है। ध्यान में पड़ना ही मत। कम से कम बौद्ध ध्यानों में तो पड़ना ही मत। उनसे खतरा होगा, उनसे नुकसान होगा। आमतौर से जैन और बौद्ध ध्यान स्त्रियों को ठीक नहीं पड़ते--आमतौर से। ये दोनों ही मार्ग पुरुषों के मार्ग हैं।
इसलिए जैन-शास्त्र तो कहते हैं कि जैन-मार्ग से कोई स्त्री कभी मोक्ष
को नहीं जाती। पहले उसे पुरुष-पर्याय में जन्म लेना पड़ेगा, तब मोक्ष जाएगी। पुरुष ही मोक्ष जाते हैं, स्त्रियां मोक्ष नहीं जातीं। स्त्रियां भी जाती हैं, मगर पहले उन्हें एक दफा आना पड़ेगा पुरुष होकर और फिर मोक्ष जाएंगी; सीधी स्त्री मोक्ष कभी नहीं जाती।
इसमें कारण है। इसका यह मतलब नहीं है कि सीधी स्त्री मोक्ष नहीं जाती है, मैं तुमसे कहता हूं, जाती है। मीरा गयी, सहजो गयी, दया गयी, लल्ला गयी, बहुत स्त्रियां गयीं, सीधी गयीं, कोई बीच में लौटकर आने की जरूरत नहीं पड़ी।
लेकिन जैन-मार्ग से कभी कोई स्त्री सीधी नहीं गयी, यह बात सच है। और मार्ग हैं जिनसे गयी।
और बुद्ध ने तो बहुत दिन तक स्त्रियों को दीक्षा ही नहीं दी थी। बहुत मुश्किल से दीक्षा दी। बड़ा विरोध किया बुद्ध ने कि नहीं, दीक्षा नहीं दूंगा स्त्रियों को। लेकिन फिर दबाव बहुत बढ़ने लगा, आखिर स्त्रियों को भी तो लगा कि इतने लोग, इतने पुरुष संन्यस्त हो रहे हैं, भिक्षु हो रहे हैं, ध्यान में जा रहे हैं, परम शांति को पा रहे हैं, स्त्रियों ने भी आखिर दबाव डाला।
बुद्ध की मां तो बचपन में मर गयी थी, पैदा होते ही से मर गयी थी, तो बुद्ध को पाला था उनकी सौतेली मां ने--प्रजापति ने। आखिर स्त्रियों ने प्रजापति को समझाया-बुझाया और कहा कि तुम चलो, तुम्हारी तो मानेगा। तो प्रजापति को लेकर स्त्रियां आयीं और प्रजापति ने प्रार्थना की, तो भी बुद्ध ने इनकार कर दिया। उन्होंने कहा, मैं स्त्रियों को दीक्षा नहीं दूंगा।
यह बात जरा ज्यादा हो गयी। तो बुद्ध के भिक्षुओं ने भी खड़े होकर प्रार्थना की, विशेषकर आनंद ने जो उनका प्रिय शिष्य था, उसने कहा कि नहीं प्रभो, अब यह ज्यादती हो रही है, आखिर स्त्रियों का क्या कसूर है! आखिर उनको भी तो परमात्मा चाहिए, उनको भी तो मोक्ष चाहिए, उनको भी तो शांति चाहिए, आप दया करें। जब बहुत दबाव डाला तो बुद्ध ने कहा--ठीक, मैं स्त्रियों को दीक्षा देता हूं, लेकिन मैं तुमसे कहे देता हूं, स्त्रियों के बिना मेरा धर्म पांच हजार साल चलता, अब केवल पांच सौ साल चलेगा।

यह भी खूब मजे की बात कही! मगर इसमें कारण हैं। बुद्ध की मौलिक शिक्षा पुरुष-चित्त के लिए है। पुरुष-चित्त हृदय की तरफ मुश्किल से डोलता है, बुद्धि की तरफ आसानी से डोलता है। स्त्री-चित्त हृदय की तरफ आसानी से डोलता है, बुद्धि की तरफ जरा कठिनाई से डोलता है।
तो बुद्ध ने ठीक ही कहा कि पांच सौ साल चलेगा मेरा धर्म--और पांच सौ साल भी नहीं चला, जल्दी ही नष्ट-भ्रष्ट हो गया। क्योंकि जहां स्त्री आयी, प्रेम आया। जहां स्त्री आयी, मस्ती आयी। जहां स्त्री आयी, गुनगुनाहट आयी, नाच आया, घूंघर आए। वे बिचारे बुद्ध के भिक्षु जल्दी ही दिक्कत में पड़ गए। वे अड़चन में पड़ गए। वे दयनीय सिद्ध हुए।
पर मेरी स्थिति भिन्न है। मेरे लिए दोनों मार्ग एक जैसे हैं। इसलिए यहां स्त्री आए कि पुरुष आए, बराबर। और मैं कहता हूं, दोनों मोक्ष जा सकते हैं, जो जहां है वहीं से जा सकता है। यह मैं इसीलिए कह सकता हूं, कि मेरा किसी एक मार्ग पर कोई आग्रह नहीं है। मैं मार्ग को मूल्य ही नहीं देता, मेरा मूल्य तुम्हारे ऊपर है। मैं तुम्हें देखकर मार्ग तय करता हूं। बुद्ध ने मार्ग तो तय कर लिया पहले। एक मार्ग तय कर लिया विपस्सना का, ध्यान का, अब देखा एक स्त्री आयी, अब वह जानते हैं कि स्त्री को यह जमेगा नहीं और मेरे मार्ग को स्त्री नहीं जमेगी, तो वह बचाव की कोशिश करते रहे। अगर बुद्ध स्वयं भी नारद के पास गए होते तो नारद भी कह देते कि महाशय, क्षमा करो, आप नहीं चलेंगे। आप किसी परशुराम को खोजो। पुरुष का यहां क्या काम? यहां वीणा बज रही है, यहां भजन गाया जा रहा है, यहां आपका नहीं चलेगा। आप ठहरे क्षत्रिय, आप कहीं और जाइए, जहां तलवार चलाने की सुविधा हो। बुद्धि का मार्ग संघर्ष और संकल्प का मार्ग है। योद्धा का मार्ग है। हृदय का मार्ग गीत और गुंजन का। संकल्प का नहीं, संघर्ष का नहीं, समर्पण का, आस्था का, श्रद्धा का मार्ग है। मेरे लिए दोनों बराबर हैं। मैं तुम्हें देखता हूं कि तुम किस मार्ग से जा सकोगे। और यह भी तुमसे कह दूं कि ऐसा जरूरी नहीं है कि तुम पुरुष देह में हो, इसलिए सदा ही तुम्हें पुरुष का मार्ग जंचेगा। इससे कुछ बंधन नहीं है। कभी-कभी पुरुष-देह में बड़े कोमल हृदय होते हैं। और कभी-कभी स्त्री-देह में बड़े पुरुष हृदय होते हैं।
अब जैसे मैडम क्यूरी को नोबल प्राइज मिल सकती है। तो मैडम क्यूरी को नारद का मार्ग नहीं जंच सकता था, बुद्ध का जंचेगा। अब जिसको नोबल प्राइज मिली हो, जिसके पास गणित का ऐसा साफ-सुथरा मस्तिष्क हो, विचार की ऐसी क्षमता हो, इसको बुद्ध का मार्ग जमेगा। यह मीरा की तरह बावली होकर नाच न सकेगी। संभव नहीं।
अब रामकृष्ण हैं, पुरुष हैं, लेकिन फिर भी बुद्ध का मार्ग न जमेगा। इनके भीतर स्त्रैण हृदय है। तुम चकित होओगे यह जानकर कि रामकृष्ण इतने स्त्रैण थे, इतना नाच-गान, इतने गीत में लीन रहे कि उनके स्तन बड़े हो गए थे। और इतना ही नहीं, एक बार जब वह एक विशेष सखी-संप्रदाय की साधना कर रहे थे, तो उनको मासिक धर्म शुरू हो गया था, यह शायद तुमने सुना भी न हो। स्तन बड़े हो गए और मासिक धर्म शुरू हो गया था। और छह महीने तक जारी रहा। और स्तन तो उनके फिर जो बड़े हो गए तो, छोटे तो हो गए बाद में जब साधना उन्होंने बंद कर दी, लेकिन वे फिर भी कुछ तो बड़े रहे ही। तुम्हें रामकृष्ण की तस्वीरों से पता चल जाएगा। ऐसा हार्दिक चित्त था। मीरा जैसा ही कोमल।
तो इसलिए यह मत समझना कि पुरुष सभी पुरुष हैं और स्त्रियां सभी स्त्रियां हैं। इतना आसान होता मामला तो गुरु की कोई जरूरत ही नहीं थी। तब तो बात तय हो गयी। तब तो तुम्हारे बायलाजी से बात तय हो गयी। तुम्हारा स्त्री शरीर है, तुम्हारा पुरुष शरीर है, बात खतम हो गयी। पुरुष चले बुद्ध के मार्ग पर, स्त्रियां चली जाएं नारद के मार्ग पर, बात खतम हो गयी।
मगर इतना आसान नहीं है। बहुत पुरुष हैं जो स्त्रियों से भी ज्यादा कोमल हैं, जिनके हृदय में बड़ा काव्य है, बड़ा नृत्य छिपा है। इनको खोजना पड़ता है, इनको निकालना पड़ता है। बहुत सी स्त्रियां हैं जिनके भीतर बड़ी प्रखर बुद्धिमत्ता छिपी है, इनको भी निकालना पड़ता है, इनको भी खोजना पड़ता है।

आखिरी प्रश्नः पूछा है शीला ने कि मैं आलसी हूं और बुद्ध का एक शिष्य आलसी था, उसकी ऐसी गति हुई! मैं आलसी हूं, आपने मुझे क्यों स्वीकार किया है? और मैं सोचती हूं कि मैं यहां क्या कर रही हूं?

मेरे साथ चलेगा!
बुद्ध के मार्ग पर संकल्प, संघर्ष। वहां आलसी नहीं चलेगा। मेरे द्वार सबके लिए खुले हैं। बुद्ध के द्वार किसी विशिष्ट के लिए खुले हैं। मेरे साथ आलसी भी चलेगा। क्योंकि आलसी भी अपनी व्यवस्था का उपयोग कर सकता है परमात्मा को पाने के लिए। उसका आलस्य ही द्वार बन सकता है परमात्मा को पाने के लिए। समर्पण--छोड़ दे सब उसके चरणों में! कुछ भी न करे, करने का भाव ही न रखे, कह दे, अब तुम जो करवाओगे, करेंगे।
अभी बाबा मलूकदास की हम बात करते थे न कुछ दिन पहले--
अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम।
दास मलूका कह गए सबके दाता राम।।
सो शीला, दास मलूका हो जा! छोड़ फिकर! जिनको लगता हो कि हम संघर्ष में नहीं उतर सकते, कोई जरूरत भी नहीं उतरने की। परमात्मा सबका है, तुम जैसे हो वहीं से कोई रास्ता निकलेगा। तुम्हें बदलने की भी बहुत जरूरत नहीं है, तुम जैसे हो इसको ठीक से समझ लो, और उसी के अनुकूल अपने जीवन को उतर जाने दो, सहज। आलस्य है, तो आलस्य को ही साधना बना लेंगे। कर्मठता है, तो कर्मठता को ही साधना बना लेंगे। मेरे लिए मूल्य, तुम कैसे हो, इसका ज्यादा है। मैं किसी बंधी हुई धारणा का गुलाम नहीं हूं। मुझे सब स्वीकार हैं। परमात्मा को जब तुम स्वीकार हो तो मुझे क्यों अस्वीकार होओ?
अब परमात्मा को अगर शीला स्वीकार न हो तो कभी की सांस देना बंद कर दे। अभी सांस चलती है! उठाता, बिठाता, सुलाता, पूरी फिकर लेता। जब परमात्मा को शीला स्वीकार है, तब मैं बाधा देने वाला कौन हूं? मुझे भी स्वीकार है। इतना ही ख्याल रखना जरूरी है कि शीला जैसा व्यक्ति अगर संकल्प की यात्रा पर चलने लगे, तो अड़चन में पड़ जाएगा, कठिनाई में पड़ जाएगा। परमात्मा तो मिलेगा नहीं, अपने जीवन की शांति भी खो जाएगी। तुम्हें अपने ही ढंग से... तुम्हें तुम्हीं को निवेदन करना है। तुम जैसे हो, वहीं खिलना है और वही फूल परमात्मा के चरणों में चढ़ा देना है।
आलस्य सुंदर है। ऐसी बात बुद्ध तुमसे नहीं कह सकते थे। ऐसी बात मैं तुमसे कह सकता हूं। ऐसी बात तुमसे कोई कभी नहीं कह सकता था। क्योंकि इस जगत में जितने भी आज तक धर्म हुए, उन सभी धर्मों की विशिष्ट धारणाएं हैं। वे एक विशिष्ट पथ का निवेदन करते हैं। उस पथ पर जो बैठ जाए, बैठ जाए; नहीं बैठे, वह गलत मालूम होने लगता है।
तो बुद्ध उस आलसी भिक्षु से ठीक से बोलते भी नहीं थे। अब तुम जानते हो
कि शीला से मैं कितनी मधुर-मधुर बातें करता हूं! बुद्ध तो उससे बोलते भी नहीं थे। मैं तो मधुर ही बात करता हूं, तुम चाहे संकल्प वाले होओ, चाहे समर्पण वाले होओ; चाहे तुम बड़े कर्मठ होओ, चाहे बड़े आलसी; और चाहे तुम ज्ञान की तरफ से चलो, और चाहे प्रेम की तरह से चलो--तुम न भी चलो, तुम अपनी ही जगह बैठे रहो, तो भी मेरे बोलने की मधुरता में फर्क नहीं पड़ता। क्योंकि मैं कहता हूं, अगर तुम वहीं बैठे रहे हिम्मत करके, तो परमात्मा वहीं आएगा। जाने की भी ऐसी क्या बात! तुम्हीं थोड़े ही परमात्मा को खोज रहे हो, परमात्मा भी तुम्हें खोज रहा है। अगर तुम बैठ गए कि अब तू, तेरी मर्जी--दास मलूका हो गए--आएगा, आना पड़ेगा। यह आग एक ही तरफ से थोड़े ही लगी है, यह आग दोनों तरफ से लगी है।
आज इतना ही।

एस धम्मो सनंतनो, भाग 9
नब्बेवां प्रवचन

अकेला होना नियति है

यावं हि वनयो न छिज्जति अनुमत्तोपि नरस्स नारिसु।
पटिबद्धमनो नु गव सो बच्छो खीरपकोव मातरि।। 235।।

उच्छिंद सिनेहमत्तनो कुमुदं सारदिकं व पाणिना।
संति मग्गमेव बूहय निब्बानं सुगतेन देसितं।। 236।।

इध वस्सं वसिस्सामि इध हेमंत गिम्हसु।
इति बालो विचिंतेति अंतरायं न बुज्झति।। 237।।

तं पुत्तपसुसंपत्त व्यासत्तमनसं नरं।
सुत्तं गामं महोघोव मच्चु आदाय गच्छति।। 238।।

न संति पुत्ता ताणाय न पिता नापि बंधवा।
नत्थिांतिसु ताणता।। 239।।

पंडितो सीलसंवुतो।
निब्बान-गमनं मग्गं खिप्पमेव विसोधये।। 240।।

सूत्र-संदर्भ--

भगवान श्रावस्ती नगर के बाहर ठहरे थे। उनके निकट ही नदी-तट पर एक युवा वणिक भी ठहरा था। उसके पास पांच सौ गाड़ियां थीं, जो बहुमूल्य वस्त्रों और अन्य प्रसाधन-सामग्रियों से भरी थीं। वह श्रावस्ती में अपना सामान बेचकर खूब कमाई कर रहा था। उसके पास में ही भगवान ठहरे थे, लेकिन अब तक उसने उनकी ओर ध्यान भी नहीं दिया था।
शायद दिखायी तो पड़े ही होंगे। हजारों भिक्षुओं का भी वहां निवास था; न दिखायी पड़े हों, ऐसा तो नहीं। लेकिन उसके मन से संगति नहीं थी। जो धन की यात्रा पर निकला हो, उसका ध्यान की तरफ ध्यान नहीं जाता। जो अभी महत्वाकांक्षा से भरा हो, उसे संन्यासी दिखायी नहीं पड़ता। जिसके मन पर संसार के मेघ घिरे हों, उसे निर्वाण का प्रकाश दिखायी नहीं पड़ता। आच्छादित अपने ही मेघों में रहा होगा।
भगवान पास ही ठहरे थे, लेकिन उसने ध्यान नहीं दिया था।
या कभी-कभार अगर ध्यान चला भी गया हो, उसके बावजूद, तो सोचा होगा, पागल हैं। तो सोचा होगा, इन सबको क्या हो गया? तो सोचा होगा, लोग कैसी-कैसी व्यर्थ की बातों में उलझ जाते हैं। और हजार दलीलें दी होंगी अपने मन को कि मैं ही भला, मैं ही स्वस्थ, मैं ही तर्कयुक्त।
एक दिन नदी पर टहलता हुआ वह भविष्य की बड़ी-बड़ी कल्पनाएं कर रहा था। सोचता था कि धंधा यदि ऐसा ही चलता रहा तो वर्षभर में ही लखपति हो जाऊंगा।
फिर विवाह करूंगा। और अनेक सुंदरियों के चित्र उसकी आंखों में घूमने लगे।
और ऐसा महल बनाऊंगा--वसंत के लिए अलग, हेमंत के लिए अलग, हर ऋतु के लिए अलग, और यह करूंगा और वह करूंगा। और जब ऐसे पूरे शेखचिल्लीपन में खोया था और कल्पनाओं के लड्डुओं का भोग कर रहा था, तब भगवान ने उसे देखा और वे हंसे। भगवान बैठे हैं एक वृक्ष के तले, उनके पास ही भिक्षु आनंद बैठा है। अकारण, बिना किसी बात के, बिना किसी प्रगट आधार के भगवान को हंसते देखकर आनंद चकित हुआ। उसने पूछा, भगवान! आप हंसते हैं! न मैंने कुछ कहा, न आपने कुछ कहा, न यहां कुछ हुआ, अकारण क्यों हंसते हैं? किस कारण हंसते हैं? किस बात पर हंसते हैं? भगवान ने कहा, आनंद, उस युवा वणिक को देखते हो दूर नदी के तट पर? उसके चित्त की कल्पना-तरंगों को देखकर ही मुझे हंसी आ गयी। वह लंबी योजनाएं बना रहा है, किंतु उसकी आयु केवल सप्ताहभर की और शेष है। मृत्यु

द्वार पर दस्तक दे रही है, पर उसे अपनी वासनाओं के कोलाहल के कारण कुछ भी सुनायी नहीं पड़ता। उसकी मूर्च्छा पर मुझे हंसी भी आती है और दया भी। भगवान की आज्ञा ले आनंद उस युवक के पास गए और उसे सन्निकट मृत्यु से अवगत कराया। मृत्यु की बात सुनते ही वह थरथर कांपने लगा। खड़ा था, भयभीत होकर बैठ गया। अभी सुबह ही थी, शीतल हवा बहती थी, सब शांत था लेकिन उसके माथे पर पसीने की बूंदें झलक आयीं। भूल गया सुंदर स्त्रियों को, भूल गया संगमरमरी महल, भूल गया हेमंत, वसंत, भूल गया सब।
मृत्यु सामने खड़ी हो, मृत्यु का एक दफे स्मरण भी आ जाए तो इस सारे जीवन
से प्राण निकल जाते हैं, इस जीवन में कुछ अर्थ नहीं रह जाता है। इस जीवन में अर्थ तभी तक है, जब तक तुमने मृत्यु को नहीं देखा, जब तक तुमने मृत्यु का विचार नहीं किया, जब तक मृत्यु का बोध तुम्हें नहीं हुआ, तभी तक इस जीवन का खेल है। तभी तक इन सपनों को फुलाए जाओ, तैराए जाओ नावें कागज की, बनाए जाओ कागज के महल। लेकिन जैसे ही मृत्यु का स्मरण आ जाएगा, सब ढह जाता है। बड़े उसके स्वप्न थे, अभी युवा था, बड़ी उसकी कामनाएं थीं, जीवेषणाएं थीं, बड़ा उसका संसार फैलाने का मन था, सब भूमिसात हो गया, सब खंडहर हो गया। जो भवन कभी बने ही नहीं, वे खंडहर हो गए। और जो सुंदर स्त्रियां उसे कभी मिली ही नहीं, वे तिरोहित हो गयीं। वे मन पर तैरते हुए इंद्रधनुष से ज्यादा न थे। मौत ने एक झपट्टा मारा और सब व्यर्थ हो गया।
वह युवक बैठकर रोने लगा। आनंद ने उसे कहा--युवक, उठ, मौत पर बात समाप्त नहीं हो जाती, भगवान के चरणों में चल, मौत के पार भी कुछ है।
जीवन मौत पर समाप्त नहीं होता। असली जीवन मौत के बाद ही शुरू होता है।
और धन्यभागी हैं वे जिन्हें इस जीवन में ही मौत दिखायी पड़ जाए, तो वह दूसरा जीवन इसी क्षण शुरू हो जाता है। संन्यास का और कुछ अर्थ भी नहीं है। जीते- जी मौत की प्रतीति हो गयी, साक्षात हो गया। जीते-जी यह दिखायी पड़ गया कि मरना होगा, कि मृत्यु आती है। क्या फर्क पड़ता है, सात दिन बाद आती है, कि सात वर्ष बाद आती है, कि सत्तर वर्ष बाद आती है। मृत्यु है, यह तीर चुभ जाए हृदय में तो संसार व्यर्थ हो जाता है और संन्यास सार्थक हो जाता है।
आनंद ने उसे सम्हाला और कहा--हार मत, थक मत, मौत से कुछ भी मिटता नहीं।
मौत से वही मिटता है जो झूठ था। मौत से वही मिटता है जो भ्रामक था। मौत से सिर्फ सपने मिटते हैं, सत्य नहीं मिटता। घबड़ा मत, उठ।
वह युवक भगवान के चरणों में आया।
मृत्यु सामने खड़ी हो तो बुद्ध के अतिरिक्त और कोई मार्ग भी तो नहीं।
मृत्यु न होती तो शायद कोई बुद्धों के चरणों में जाता ही न। मृत्यु न होती तो मंदिर न होते, मस्जिद न होती, गुरुद्वारे न होते। मृत्यु न होती तो धर्म न होता। मृत्यु है तो धर्म का विचार उठता है। मृत्यु जगाती है, चेताती है, मृत्यु अलार्म का काम करती है, नहीं तो तुम्हारी मूर्च्छा बनी ही रहती। जरा सोचो, एक ऐसा समय जब मृत्यु न होती हो। फिर कौन प्रार्थना करेगा? कौन ध्यान करेगा? किसलिए करेगा? मृत्यु अपूर्व है। मृत्यु अमंगल नहीं है, ख्याल रखना, मृत्यु में मंगल छिपा है। अगर तुम मृत्यु को ठीक से समझ लो तो उसी से तुम्हारे जीवन में आमूल क्रांति हो जाएगी। मृत्यु दुश्मन नहीं है। जीवन भला दुश्मन हो, मृत्यु तो मित्र है, क्योंकि मृत्यु जगाती है, जीवन सुला देता है। जीवन में तो तुम सोए-सोए चलते रहते हो, मौत आती है, झकझोर देती है, झंझावात की तरह आती है। सब धूल झड़ जाती है--विचार की, वासना की-- तुम चौंककर खड़े हो जाते हो, पुनर्विचार करना होता है, फिर से सोचना पड़ता है, फिर से जीवन के आधार रखने होते हैं; किसी दूसरे जीवन के आधार रखने होते हैं, जिसे मौत न मिटा सके। उस जीवन का ही नाम तो मोक्ष है, जिसे मौत न मिटा सके।
संसार और निर्वाण का इतना ही अर्थ है। संसार ऐसा जीवन जिसे मौत छीन लेती है, और निर्वाण ऐसा जीवन जिसे मौत नहीं छीन पाती है। संसार ऐसा जीवन जो आज नहीं कल हाथ से जाएगा ही। उसको बनाने में जितना समय लगाया, व्यर्थ गया। उसको बनाने में जितनी रातें और दिन खोए, व्यर्थ गए। एक ऐसा भी जीवन है जहां मृत्यु असमर्थ है, जहां मृत्यु का कोई प्रवेश नहीं है, वही निर्वाण का जीवन।

मृत्यु द्वार पर खड़ी हो तो अब युवक करता भी क्या! गया बुद्ध के चरणों में। अब तक तो पास रहकर भी हजारों योजन दूर था।
वहीं ठहरा था, एक ही नदी-तट पर दोनों ठहरे थे, लेकिन हम पास-पास भी होकर अपनी-अपनी दुनिया में अलग-अलग होते हैं। इससे कुछ बहुत फर्क नहीं पड़ता कि तुम मेरे पास बैठे हो। हमारे शरीर एक-दूसरे से सटे हों तो भी कोई फर्क नहीं पड़ता। निकटता, मात्र शारीरिक निकटता निकटता नहीं है। तुम हजारों कोस दूर हो सकते हो। तुम्हारी अपनी दुनिया हो सकती है, मेरी अपनी दुनिया। हम अपनी- अपनी दुनिया में रहते हैं। यहां जितने लोग हैं उतनी दुनियाएं हैं। और प्रत्येक व्यक्ति अपनी दुनिया से घिरा है। और अपनी दुनिया ही इतनी बड़ी है कि दूसरे की दुनिया देखने का अवसर कहां है!
अब तक तो बुद्ध के पास ही ठहरकर हजारों योजन दूर था। सुबह कभी सुनने न आया, सांझ कभी सुनने न आया, पास कभी आकर न बैठा, कुतूहल से भी न बैठा, जिज्ञासा तो छोड़ो, मुमुक्षा की तो बात ही मत करो, लेकिन कुतूहल तो हो सकता था कि क्या यहां हो रहा है! लेकिन जिसका मन उलझा हो वासना में, वह एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खोना चाहता--वासना पूरी कर लो, उतनी देर में तो थोड़ा धन और निर्मित होगा, थोड़ा सामान और बिकेगा, थोड़ी तिजोड़ी और भरेगी, उतना समय व्यर्थ मत करो।
जिनके मन में वासना प्रगाढ़ है, वे किसी को ध्यान करते देखकर कहते हैं, क्या पागलपन की बात कर रहे हो? क्यों समय गंवा रहे हो? समय धन है। समय से धन कमा लो, वे कहते हैं, टाइम इज मनी। उनके मन में एक ही भगवान है, धन। धन जितना कमा लो उतना ही सार है।
यह युवक निकलता रहा होगा उसी आम्रकुंज के पास से जहां बुद्ध ठहरे हैं, जहां वह अपूर्व दीया जल रहा था, लेकिन इसे रोशनी दिखायी न पड़ी थी। आंखें अंधी हों, सूरज भी निकले तो क्या फर्क पड़ता है। हजारों योजन दूर था। लेकिन आज अचानक मौत ने दूरी छीन ली।
तो ख्याल रखना, कभी-कभी आशीर्वाद अभिशाप के रूप में आते हैं। इसलिए अभिशाप को भी एकदम ठुकरा मत देना। कौन जाने अभिशाप में ही वरदान छिपा हो। यह जो मौत आती थी करीब, इसी ने बुद्ध और इस युवक के बीच की दूरी छीन ली। यह युवक शायद अपने ही हाथ से तो कभी यह दूरी न मिटा पाता। कोई आशा नहीं दिखायी पड़ती, कोई आशा की किरण नहीं मालूम होती। यह युवक तो ऐसे ही जीता और ऐसे ही समाप्त हो जाता। इस मौत ने अपूर्व क्रांति कर दी। इस मौत ने उसके सब पुराने जाल को तोड़ दिया। सात दिन! बस केवल सात दिन! अब सात दिन में न तो महल बनाए जाते हैं, न सुंदरियां खोजी जाती हैं; न कोई अर्थ रहा। सिर्फ सात दिन के लिए कौन इतनी झंझट लेता!
आदमी तो इस भ्रांति में जीता है कि हम सदा रहेंगे। सदा रहने की भ्रांति में ही तो हम सब कुछ करते हैं। हम दुनिया में ऐसे रहते हैं जैसे हमें जाना नहीं, इंच-इंच जमीन के लिए लड़ते हैं, रत्ती-रत्ती धन और पद के लिए लड़ते हैं। ठहरे धर्मशाला में हैं और इस तरह ठहर जाते हैं कि जैसे अपना घर है; अपना निवास है और सदा के लिए अपना निवास यहां होने को है।
वह युवक अब तक तो हजारों योजन दूर था। अब तक उसने देखकर भी बुद्ध को देखा नहीं था। मृत्यु ने आंख की नींद छीन ली, तब भगवान का सत्य उसे प्रगट हुआ। संन्यास पहली दफा अर्थपूर्ण मालूम पड़ा। जैसे अंधे को आंखें मिलीं, जैसे बहरे को कान मिले, वह सुनने और देखने में पहली दफे समर्थ हुआ। जैसे अंधेरे में अचानक बिजली कौंध जाए, ऐसा सब उसे स्पष्ट हो गया। एक तलवार की धार की तरह पुरानी दुनिया कटकर अलग गिर गयी और नयी दुनिया बनाने का, अमृत की तलाश का गहन संकल्प उठा।
अगर मृत्यु है तो अमृत की तलाश करनी है, फिर कोई और जीवन का ढंग खोजना है, कोई और शैली चाहिए। अगर यह घर घर नहीं, धर्मशाला है, तो फिर अपने घर की तलाश पर निकलना होगा। और सात ही दिन बचे हैं! जल्दी करनी होगी।
मृत्युबोध धर्म का द्वार बन जाता है। उस युवक की चेतना-धारा अचानक बदल गयी। कुछ की कुछ हो गयी दिशा। कहां दौड़ा जा रहा था, धन, पद, प्रतिष्ठा! अचानक गंगा ने मोड़ ले लिया। अब गंगा उस दिशा में नहीं जा रही। उसने रास्ता नया ग्रहण कर लिया।

भगवान ने उससे कहा--प्रिय, बुद्धिमान को भविष्य के सपनों में नहीं उलझना चाहिए।
बुद्धिमान का लक्षण ही यही होता है कि वह भविष्य के सपनों में नहीं उलझता है। भविष्य के सपनों में जो उलझता है उसी को हम बुद्धू कहते हैं।
बुद्धू का अर्थ होता है, जो नहीं है, जो अभी है नहीं, उसके संबंध में योजनाएं बना रहा है। बुद्धिमान का अर्थ होता है, जो है उसमें जी रहा है।
बुद्धिहीन का अर्थ होता है, जो नहीं है, उसके सिर्फ सपने बना रहा है।
बुद्धिहीन सपनों में जीता है, बुद्धिमान सत्य में जीता है। सत्य तो है; और सत्य का कोई भविष्य नहीं है, सत्य तो सिर्फ वर्तमान है--अभी और यहीं है।
सत्य का कोई अतीत भी नहीं है।
ऐसा नहीं है कि सत्य कभी था और अब नहीं है, और ऐसा भी नहीं है कि सत्य कभी होगा और अभी नहीं है। सत्य तो बस है। यही तो शाश्वत का अर्थ होता है।
सत्य शाश्वत है। एस धम्मो सनंतनो। धर्म शाश्वत है, सनातन है। सदा से है, सदा रहेगा। वर्तमान है सत्य। सत्य में सिर्फ एक ही समय होता है--वर्तमान।
भविष्य सपने में है, आदमी की खोपड़ी में है। और अतीत भी स्मृति में है। दुनिया में अधिकतर लोग या तो अतीत में जीते हैं, या भविष्य में। शायद ही कोई कभी जागता है वर्तमान के इस मौजूद क्षण में।
तो बुद्ध ने कहा, बुद्धिमान को भविष्य के सपनों में नहीं उलझना चाहिए
और न अतीत की स्मृतियों में डूबा रहना चाहिए। क्योंकि जो जा चुका, जा चुका, उसे जाने दो। और जो अभी नहीं आया, नहीं आया, उसको खींच-खींचकर सपने में मत लाओ। जो है, उसमें प्रगाढ़ रूप से जागो। जो है, उसमें जागने का नाम ही ध्यान है। अगर तुम एक क्षण को भी निर्विचार होकर जाग जाओ, तो जो है, उसकी तुम्हें प्रतीति होगी, साक्षात्कार होगा। और जो है, उसी का नाम ईश्वर है।
विचार या तो अतीत के होते या भविष्य के, ख्याल किया है तुमने कभी? अपने विचारों की परख करना, तो या तो विचार अतीत से आता है--किसी ने कभी गाली दी थी, कि किसी ने कभी सम्मान किया था, कि कभी कोई घाव मार गया था, कि कभी कोई अपमान कर गया था, कि कभी कुछ सुखद घटना घटी थी--या तो अतीत से आता है विचार; या भविष्य से आता है, कि जैसा सम्मान अतीत में हुआ था वैसा फिर भविष्य में हो, ज्यादा हो; जो सुख अतीत में जाने, वे और बड़े होकर मिलें, और वर्द्धमान हो जाएं, और जो-जो भूलें अतीत में हुईंं, फिर न हों; जो-जो अतीत में दुखद था, वह कभी दुबारा न दोहरे, ऐसी भविष्य की योजना।
भविष्य की योजना है क्या? तुम्हारा अतीत ही फिर-फिर दोहरने की योजना बना रहा है। तुम फिर उसे पुनरुक्त करना चाहते हो। थोड़े अच्छे ढंग से, थोड़ा सजाकर, थोड़े नए वस्त्र पहनाकर; कांटे कम कर देना चाहते हो, फूल बढ़ा देना चाहते हो; लेकिन वह तुम्हारा अतीत ही है सजा-बजा। अतीत की लाश को ही तुम नए-नए प्रसाधन कर रहे हो और उसी को तुम भविष्य कहते हो।
विचार या तो अतीत के होते या भविष्य के, विचार वर्तमान में होता ही नहीं। विचार वर्तमान में हो ही नहीं सकता। इस अनूठी बात को ख्याल में लेना, क्योंकि इसमें कुंजी छिपी है सारे ध्यान की, समाधि की। वर्तमान में विचार होता ही नहीं। जब भी तुम वर्तमान में होते हो तो विचार की तरंग नहीं हो सकती, या तो विचार की तरंग होगी तो तुम वर्तमान में नहीं होओगे। जैसे इसी क्षण अगर कोई भी विचार तुम्हारे भीतर नहीं उठता, तुम अवाक हो, चुप और सन्नाटे में हो और भीतर एक शून्य है, तो तुम वर्तमान में हो।
वर्तमान का जरा सा भी स्वाद परम आनंद से भर जाता है। और जब भी तुम्हें आनंद की कोई झलक मिलती है, तो वह वर्तमान में होने के कारण ही मिलती है। किस कारण तुम वर्तमान में हो गए, यह दूसरी बात है। कभी-कभी अनायास हो जाते हो वर्तमान में, तो सुख मिलता है।
ध्यान, योग का इतना ही अर्थ है कि तुम सायास, जान-बूझकर वर्तमान में होने का आयोजन करते हो। तुम अपने को पकड़-पकड़कर वर्तमान में ले आते हो। मन तो भागता है अतीत की तरफ, भविष्य की तरफ। मन तो भगोड़ा है। वह तो यहां नहीं टिकता, और कहीं जाता है, और कहीं सदा, यहां नहीं। तुम उसे पकड़-पकड़ कर वापस ले आते हो। तुम उसे यहां बैठना सिखाते हो। मन को सिखाते हो कि आसन लगा यहां। यहीं रुक, कहीं मत जा।

ऐसे धीरे-धीरे-धीरे मन को भी स्वाद लग जाता है वर्तमान का। वही स्वाद
मन की मृत्यु बन जाता है। क्योंकि वर्तमान में मन होता ही नहीं। और जो मन के पार है, वही बुद्धिमान है। जो मन के नीचे है, वह बुद्धिमान नहीं है।
तो बुद्ध ने कहा, बुद्धिमान को भविष्य के सपनों में नहीं उलझना चाहिए। भविष्य में मौत के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।
यह बड़ी अनूठी बात बुद्ध ने कही--भविष्य में मौत के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। वर्तमान तो अभी है, वर्तमान ही जीवन है। जीवन वर्तमान में है, भविष्य में तो सिर्फ मौत होगी। कल सिर्फ मौत है और कुछ भी नहीं।
तुमने ख्याल किया, इस देश की भाषाओं में हमने जो शब्द चुने हैं, कल और काल, वे एक ही मूल से आते हैं। काल तो मौत का नाम है, और कल भविष्य का नाम है। एक और अनूठी बात है, हम बीते दिन को भी कल कहते हैं और आने वाले दिन को भी कल कहते हैं। बीता दिन मर चुका, आने वाला दिन मरा हुआ है। बीत गयी जो वह भी मौत थी, आ रही है जो वह भी मौत है, दोनों के मध्य में--जैसे तलवार की धार पर कोई खड़ा हो--ऐसा वर्तमान खड़ा है, ऐसा जीवन खड़ा है। इसलिए परमात्मा के मार्ग को लोगों ने खड्ग की धार कहा है। इन दो खड्डों के बीच में बड़ी पतली सूक्ष्म रेखा पर जीना है।
यह भी तुमने ख्याल किया कि काल मौत का भी नाम है और काल समय का भी नाम है। भाषाएं ऐसे ही नहीं बनतीं। भाषाओं में एक-एक संस्कृति का पूरा-पूरा अनुभव संजोया होता है। दुनिया में बहुत भाषाएं हैं, लेकिन किसी भाषा में मौत और समय का एक ही नाम नहीं है। सिर्फ इस देश की भाषा में मौत और समय के लिए एक ही नाम है। क्यों? क्योंकि इस देश के मनीषियों ने बार-बार यह अनुभव किया कि समय यानी मौत। इसलिए दोनों को एक नाम दिया है, ताकि याद रहे। वर्तमान समय का हिस्सा ही नहीं है। वर्तमान है जीवन।
एक बात और ख्याल ले लेना। हम आमतौर से सोचते हैं कि समय तीन खंडों में विभाजित है--अतीत, वर्तमान, भविष्य। यह बात गलत है। समय तो दो खंडों में विभाजित है--अतीत और भविष्य। वर्तमान समय का हिस्सा नहीं है। वर्तमान शाश्वत का हिस्सा है। वर्तमान से तो शाश्वत झांकता है। वर्तमान समय का भाग नहीं है। इसलिए जो वर्तमान में ठहर गया, वह शाश्वत में ठहर गया। उसने शाश्वत का अनुभव पा लिया। वर्तमान में ठहर जाने को हम समाधि कहते हैं। समाधान मिल गया। विचारों का उत्पात गया, विचार की समस्याएं गयीं, उलझनें गयीं।
तो बुद्ध ने कहा, बुद्धिमान को भविष्य के सपनों में नहीं उलझना चाहिए। भविष्य में मौत के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। न सुंदर स्त्रियां बचाएंगी और न धन और न पद और न तेरे संगमरमर के महल। मृत्यु के समय तो समाधि ही विजय लाती है। मृत्यु को समाधि से जीतकर अमृत की उपलब्धि करनी होती है। एक ही चीज जीतती है समय को--समाधि। एक ही चीज जीतती है समय को--समय के पार का अनुभव, समय के बाहर की कोई किरण। समय निद्रा है। जागरण की किरण, होश की किरण समय को जीत लेती है। और जिसने समय को जीत लिया उसने मृत्यु को भी जीत लिया, क्योंकि वे दोनों एक ही हैं। वे एक-दूसरे के पर्याय हैं। समय का जोड़ मृत्यु है। समय मृत्यु के आने का ढंग है।
तुम जिस दिन पैदा हुए उसी दिन से मर रहे हो। हालांकि तुम इसको जीवन कहते हो। जिस दिन से पैदा हुए उस दिन से सिवाय मरने के और तुमने कुछ भी नहीं किया है। एक बात सतत हो रही है कि तुम मर रहे हो, मरते जा रहे हो। एक दिन बीता, एक दिन और मर गए। एक वर्ष बीता, एक वर्ष और मर गए। तुम हर वर्ष जन्म-दिन मनाते हो, उसे जन्म-दिन नहीं कहना चाहिए, उसे मृत्यु-दिन कहना चाहिए। क्योंकि जन्म तो उससे दूर होता जा रहा है, मृत्यु करीब आ रही है। एक वर्ष और मर जाता है, तुम उसको जन्म-दिन कहते हो? तुम एक वर्ष और मर चुके। अब तुम्हारी जिंदगी और थोड़ी बची। तुम्हारा और एक हिस्सा मर गया। अब तुम उतने जीवित नहीं हो जितने एक वर्ष पहले थे। जैसे ही बच्चा मां के पेट से पैदा हुआ, मरना शुरू हो गया। सत्तर साल लगेंगे मौत को आने में, धीरे-धीरे आती है, लेकिन समय मौत के आने का ढंग है। समय समझो कि मौत का वाहन है। समय के वाहन पर सवार होकर मौत आती है।

तो समय तो मौत की सेवा में संलग्न है। और जब तक तुम समय में जीते हो, तब
तक तुम मौत के अंतर्गत रहोगे, तब तक मौत का तुम पर कब्जा रहेगा।
समाधि का अर्थ होता है, समय के पार हो जाना। इसलिए सारे शास्त्र, सारे जगत के शास्त्र एक बात कहते हैं, समाधि है समय के पार हो जाना। एक ऐसी चैतन्य की दशा, जहां समय बिल्कुल मिट जाता है। समय होता ही नहीं, घड़ी चलती ही नहीं। न दिन होती न रात, न कुछ आता न कुछ जाता। कुछ हिलता भी नहीं, कंपन भी नहीं होता, सब ठहर जाता है।
जीसस से उनका एक शिष्य पूछता है, मरने के एक दिन पहले, कि आपके स्वर्ग
के राज्य में खास बात क्या होगी? और जीसस ने जो उत्तर दिया वह बड़ी हैरानी का है। शिष्य ने तो सोचा भी न होगा कि ऐसा उत्तर मिलेगा। शिष्य ने सोचा होगा कि जीसस कहेंगे कि बड़ा महासुख होगा, आनंद होगा, शराब के चश्मे बहेंगे, सुंदर अप्सराएं उपलब्ध होंगी, कल्पवृक्ष होंगे, उनके नीचे तुम बैठना और मजे करना। आदमी पूछता ही इसी तरह की बातों के लिए है। लेकिन जीसस ने जो उत्तर दिया वह बड़ा अदभुत था। जीसस ने कहा, देयर शैल बी टाइम नो लांगर। वहां समय नहीं होगा। यह भी कोई उत्तर हुआ! शिष्य सुनकर तो ऐसे ही रह गया होगा कि यह भी कोई बात हुई; समय नहीं होगा, इसके लिए इतनी मेहनत करो! समय नहीं होगा, इसमें ऐसा क्या गुण है!
लेकिन सारे जागरूक पुरुषों ने एक बात कही है कि समाधि कालातीत, समय के पार। जीसस का उत्तर बिल्कुल ही सौ प्रतिशत सही है। वहां समय नहीं होगा। और जहां समय नहीं है, वहां परमात्मा है। और जहां समय नहीं है, वहां आनंद है, सच्चिदानंद है। और जहां समय नहीं है, वहां अहंकार नहीं है। जहां समय नहीं है, वहां दुख नहीं है, क्योंकि वहां मृत्यु नहीं है। मृत्यु की छाया ही दुख है। जहां समय नहीं है, वहां कोई कंपन नहीं, कोई चिंता नहीं, वहां सब शांति है। वहां कोई अंधड़ नहीं चलते चिंताओं के। वहां परम मौन है। समय नहीं है, ऐसा कहकर जीसस ने समाधि का मौलिक लक्षण कह दिया; समाधि की परिभाषा कर दी। तो बुद्ध ने कहा, मृत्यु को जीतना हो तो समाधि के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है।
वह युवक भगवान के चरणों में ही रुक गया। उसने लौटकर भी वे पांच सौ गाड़ियां जो नदी-तट पर सामानों से भरी खड़ी थीं, उनकी तरफ फिर नहीं देखा। कैसी क्रांति हुई! अभी एक दिन पहले वे गाड़ियां ही सब कुछ थीं, उनमें भरा हुआ सामान ही सब कुछ था; रात सो भी नहीं पाता था, वही चिंता पकड़े रहती थी, कोई चोर चोरी न कर ले, कोई नौकर धोखा न दे जाए; रात में उठ-उठ आता था, देख-देख आता था, चक्कर मार आता था। जिनके पास है, वे कहां सो पाते हैं! जिनके पास नहीं है, वे चाहे शांति से सो भी जाएं; जिनके पास है, वे तो सो ही नहीं पाते। रात कई बार अपनी वसनी को पकड़ लेता होगा, फिर देख लेता होगा कि कोई चोरी तो नहीं हो गयी, कोई झंझट तो नहीं हो गयी। रातभर गणित बिठाता होगा कि कल कैसी बिक्री करनी, कहां बिक्री करनी; उन गाड़ियों में ही उसका सारा संसार था।
आज बात बदल गयी। बात बदलती है तो ऐसे ही बदलती है। आज सारी चाल बदल गयी, जीवन का ढंग बदल गया। अब तक उसने बुद्ध की तरफ न देखा था, अब जब बुद्ध की तरफ देखा तो गाड़ियों की तरफ न देखा। उसके नौकर-चाकर भी आए, उसके सेवक आए, उसके मुनीम आए। उन्होंने कहा, मालिक, आपको क्या हो गया है? आप लौट चलें, बाजार जाने का समय हो गया, ग्राहक प्रतीक्षा करते होंगे, धंधे के दिन हैं, आप यहां क्या कर रहे हैं? वह हंसता था। वह कहता था, तुम जाओ, तुम्हीं फिकर लो। तुम मुझे भूल जाओ, समझो कि मैं मर ही गया। समझो कि मैं नहीं हूं। तुम्हें जैसा करना हो कर लो, बांट लेना, मेरा अब कोई उस पर आग्रह नहीं रहा। खबर पहुंची होगी नौकर-चाकरों में कि मालिक मालूम होता है पागल हो गया, लगता है कि इस बुद्ध की बातों से सम्मोहित हो गया। किसके चक्कर में पड़ गया! बड़े चिंतित हुए होंगे, सब तरह समझाने-बुझाने का उपाय किया होगा। लेकिन जिसके द्वार पर मौत खड़ी हो, अब संसार का कोई तर्क उसे जंचता नहीं। सात दिन बाद मरना ही है, सात दिन बाद ये गाड़ियां पड़ी ही रह जाएंगी और सात दिन बाद इन गाड़ियों में भरे सामान का क्या होगा? तो अभी हो जाए।

जिसे मौत का ठीक-ठीक स्मरण हो जाता है उसके जीवन में क्रांति आती है। मौत बड़ी क्रांतिकारी घटना है। हमें तो याद नहीं आती मौत की। हम तो अगर कभी ज्योतिषी के पास जाते भी हैं तो यह नहीं पूछने जाते कि कब मरेंगे, यह पूछने जाते हैं कि कहीं मौत आसपास तो नहीं है! जरा दूर है, तो चलो! हम तो हाथ भी दिखाते हैं तो इसी आशा में कि लंबी उम्र। हमारी प्रार्थनाएं लंबे आयुष्य के लिए होती हैं। ताकि थोड़ी देर इन गाड़ियों में, इन सामानों में, इन महलों में, इस धन-संपत्ति में और थोड़े डूबे रहें। इस कीचड़ में थोड़े और डुबकियां लगा लें।
नहीं, उस युवक ने कहा कि तुम जाओ, तुम आओ मत, बात खतम हो गयी; मैं वही आदमी नहीं हूं जो तुम्हारा मालिक हुआ करता था। वह आदमी मर गया। जिसको मरना ही है, वह मर ही गया। यह दूसरा ही आदमी है।
वह दिनभर बुद्ध के चरणों में बैठा रहता। रात बुद्ध सो जाते तो भी उनके चरणों में बैठा रहता।
जिसकी मौत करीब आ रही है, उसके पास समय खोने को कहां है? जितना बुद्धत्व पी लो, उतना बेहतर। जिसकी मौत ने संदेश भेज दिया हो, अब सोने की भी फुर्सत कहां है? सो लेंगे फिर सात दिन के बाद जितना सोना होगा, अभी तो जाग लेना है। दिनभर बुद्ध को सुनता, रातभर बुद्ध को गुनता।
वह युवक बुद्ध के चरणों में ही रुक गया, और सात दिनों बाद जब मरा तो स्रोतापत्ति-फल को पाकर मरा।
स्रोतापत्ति-फल का अर्थ होता है, जो ध्यान की धारा में प्रविष्ट हो गया। जो उतर गया ध्यान की धारा में। जो जीवन के मूलस्रोत में उतर गया-- स्रोतापत्ति। जीवन का मूल स्रोत ध्यान है। हम ध्यान से आए हैं और ध्यान में ही हमें जाना है। हम समाधि से उत्पन्न हुए हैं, हम समाधि की तरंग हैं और हमें समाधि में ही लीन हो जाना है। हम जिस सागर से आए हैं, उसी सागर में हमें फिर वापस मिल जाना है। इस भावबोध को कहते हैं स्रोतापत्ति। कि मैं लहर मात्र हूं, मेरा अलग कुछ होना नहीं है, मैं सागर के साथ एक हूं। और जिस सागर से आना हुआ है, उसी में वापस लौट जाना है। इसलिए मैं व्यर्थ के उधेड़बुन में न पडूं, मैं कोई चिंताएं न लूं--मैं हूं ही नहीं तो चिंता कैसी! मेरा होना अलग है ही नहीं। यह जो विराट लीला चल रही है, यह जो विराट अस्तित्व घूम रहा है, मैं इसकी एक तरंग हूं; फिर कैसी चिंता!
चिंता तो तभी पैदा होती है जब मैं सोचता हूं, मैं अलग-थलग, मेरे ऊपर जिम्मेवारी, मैं करूं तो ऐसा, मैं न करूं तो वैसा न हो जाए; मैं ऐसा करूं तो जीतूं, ऐसा करूं तो हार जाऊं; ऐसा करूं तो सम्मान मिले, ऐसा करूं तो अपमान मिले; इसमें सफलता, इसमें विफलता; इसमें हार, इसमें जीत; तो हजार चिंताएं होती हैं। कैसी जीत, कैसी हार! इस विराट के साथ हम एक हैं, ऐसी प्रतीति जिसको हो गयी उसको कहते हैं--स्रोतापत्ति।
वह युवक मरने के पहले स्रोतापत्ति-फल को पाकर मरा। वह युवक धन्यभागी था!
मृत्यु के पहले ध्यान की धारा में जो प्रविष्ट हो जाते हैं, उनसे बड़ा
और कोई धन्यभाग नहीं। क्यों? क्योंकि मृत्यु के पहले जिन्होंने ध्यान को जान लिया, फिर उनकी मृत्यु होती ही नहीं। शरीर ही मरता है, अहंकार ही मरता है, मन मरता है, लेकिन वे नहीं मरते। जिन्होंने मृत्यु के पहले ध्यान नहीं जाना, उनकी मृत्यु होती है, क्योंकि वे शरीर के साथ अपने को एक समझे बैठे हैं। जब शरीर मरता है तो वे समझते हैं, हम मरे। वे मन के साथ अपना तादात्म्य किए बैठे हैं, जब मन बिखरने लगता है और मन सूखे पत्तों की तरह वृक्ष से गिरने लगता है, तब वे चीत्कार करते हैं कि हम गए। उनकी पीड़ा इतनी सघन हो जाती है कि वे मूर्च्छित हो जाते हैं।
लोग मूर्च्छित मरते हैं। शरीर को जाते देखकर, मन को जाते देखकर, उनका होश खो जाता है। पीड़ा इतनी सघन होती है इस टूटने की--इतने जुड़े थे; और इसी को जीवन जाना था, जीवन को जाते देखकर वे बेहोश हो जाते हैं--लोग बेहोश मरते हैं। इसलिए मरने का जो एक अमूल्य अनुभव है, वह चूक जाता है।
काश, कोई होश में मर सके तो पता चलता है कि जो तुम्हारे भीतर बसा है, वह
तो कभी मरता ही नहीं। देह मरती है, मन मरता है, तुम नहीं मरते। तुम शाश्वत

हो, तुम सदा से हो। जो सदा से है, उसी के अंग हो। तुम्हारी मृत्यु हो भी नहीं सकती, कोई उपाय नहीं है।
स्रोतापत्ति-फल को पाकर यह युवक मरा। शास्त्र कहते हैं, धन्यभागी था! क्योंकि मृत्यु के पहले ध्यान की धारा मिल जाए तो और क्या धन्यभाग! अभागे हैं वे, जो जीते तो हैं और ध्यान को कभी नहीं जान पाते। अभागे हैं वे, जो कभी स्रोतापत्ति को उपलब्ध नहीं होते। धन कमा लेते हैं, राज्य बना लेते हैं और भीतर दरिद्र के दरिद्र मर जाते हैं। मौत आती है तो बेहोश हो जाते हैं पीड़ा में, मौत को देख नहीं पाते। जिसने मौत को देख लिया, उसने जीवन के सार को देख लिया, क्योंकि मौत की स्थिति में जीवन की परिपूर्ण सार्थकता प्रगट होती है।
इसे ऐसा समझो, कि जैसे अंधेरी रात में तारे चमकते हैं, दिन में तो नहीं चमकते हैं। दिन में तुम आकाश की तरफ देखो, तारों का पता नहीं चलता है। तारे तो वहीं हैं, कहीं गए नहीं हैं--ऐसा मत सोचना कि तारे दिन में कहीं चले जाते हैं, रात फिर आ जाते हैं--तारे तो वहीं हैं, लेकिन दिन में दिखायी नहीं पड़ते, पृष्ठभूमि नहीं है। रोशनी को देखने के लिए अंधेरे की पृष्ठभूमि चाहिए। इसीलिए तो हम काले तख्ते पर सफेद खड़िया से लिखते हैं, ताकि दिखायी पड़ जाए। सफेद दीवाल पर नहीं लिखते; लिखेंगे तो सफेद दीवाल पर भी लिख जाएगा, लेकिन दिखायी न पड़ेगा।
जीवन में जीवन का पता नहीं चलता, मौत की अंधेरी रात जब सब तरफ से घेर लेती है तो जीवन का तारा चमकता है। धन्यभागी हैं जो होश से मरते हैं। क्योंकि मौत की काली पृष्ठभूमि में, मौत के ब्लैकबोर्ड पर उभरकर आ जाता है जीवन, जीवन की किरण बिल्कुल प्रगट होकर दिखायी पड़ती है। साफ-साफ दिखायी पड़ता है कि शरीर मरणधर्मा है, मन मरणधर्मा है, मैं नहीं। लेकिन इस मैं में अब कोई मैं-भाव भी नहीं होता। इसमें कोई अस्मिता नहीं होती, कोई अत्ता नहीं होती। इसलिए बुद्ध ने इस अवस्था को अनत्ता कहा है, अनात्मा कहा है। इसमें यह भी भाव नहीं होता कि मैं हूं। सिर्फ होना मात्र होता है। और होना इतना शुद्ध होता है कि उस पर कोई रेखा नहीं खींची जा सकती--क्या? कोई सीमा नहीं बनायी जा सकती है, कोई परिभाषा नहीं--अपरिभाष्य।
शास्त्र कहते हैं, सुबह का भूला सांझ को भी घर आ जाए तो भूला हुआ नहीं कहाता है। यह सात दिन पहले घर आ गया। देर से आया, खूब देर करके आया, लेकिन देर से भी कोई आ जाए तो भी आ गया। सुबह का भूला सांझ भी घर आ जाए तो भूला नहीं कहाता। आ तो गए, देर से ही सही! भटककर ही सही, लेकिन आ तो गए! समय के पूर्व आ गए।
उस युवक की मृत्यु एक दर्शन बन गयी, एक साक्षात्कार। उस युवक ने मृत्यु का भी उपयोग कर लिया और अधिक लोग तो जीवन का भी उपयोग नहीं कर पाते हैं। मूर्च्छित हो तो जीवन भी असार है, जाग्रत हो तो मृत्यु भी असार नहीं है। और यह सब घट गया केवल सात दिनों में।
तो ऐसा मत सोचना कि वर्षों मेहनत करें तब घटता है। और ऐसा भी मत सोचना
की सात दिन में ही घट जाएगा। समय से इसका कोई संबंध नहीं है। त्वरा, तेजी, सघनता की बात है। इंटेंसिटी। त्वरा हो तो एक क्षण में भी घट जाता है, और त्वरा न हो तो जन्मों-जन्मों में भी नहीं घटता है।
मेरे पास कभी कोई आ जाता है, पूछता है, ध्यान कितने दिन में लगेगा? मैं उससे कहता हूं, तुम पर निर्भर है। ध्यान पर निर्भर नहीं है। ध्यान कोई ऐसी जड़ बात थोड़े ही है कि इतने दिन में लगेगा। ध्यान तो तुम्हारी त्वरा पर निर्भर है। उससे मैं सदा ईसप की एक कहानी कहता हूं।
ईसप एक रास्ते से जा रहा है। बूढ़ा हो गया है। और एक युवक रास्ते पर आता है। वह भी उसके साथ हो लेता है। और वह युवक पूछता है कि नगर कितनी दूर है? मैं कितनी देर में पहुंच जाऊंगा। ईसप जैसे सुनता ही नहीं; जैसे बहरा हो। वह युवक जोर से पूछता है--सोचकर कि बूढ़ा शायद बहरा है--वह जोर से पूछता है कि आपने सुना नहीं, महानुभाव? मैं पूछता हूं, नगर कितनी दूर है? और हम कितनी देर में पहुंच जाएंगे? फिर भी ईसप ऐसे ही सुनता है जैसे अब भी नहीं सुना। यह देखकर कि यह महाबधिर है, वह युवक तो तेजी से आगे बढ़ जाता है। वह कोई पचास कदम आगे गया है कि ईसप ने चिल्लाया कि रुक भाई, एक घंटा लगेगा। वह

युवक बोला, अचानक आप जिंदगी में वापस लौट आए! आप कहां चले गए थे, मैं दो बार पूछा, चिल्लाकर पूछा। उसने कहा कि जब तक तुम्हारी चाल न देख लूं, कैसे कहूं? गांव की दूरी, गांव में कब तक पहुंचोगे, तुम्हारी चाल पर निर्भर है। अब मैंने तुम्हारी चाल देख ली--तेज है चाल--घंटेभर में पहुंच जाओगे। मेरी बात पूछते हो, तो मुझे तो तीन घंटे लगेंगे; बूढ़ा आदमी हूं! समय की बात नहीं है, त्वरा की बात है।
और यह सब घट गया केवल सात दिनों में।
त्वरा का प्रश्न है, समय का नहीं। समझ का प्रश्न है, समय का नहीं।
साधना का प्रश्न है, समय का नहीं। वह अपूर्व घटना कभी तो एक क्षण में घट जाती है और कभी जन्मों-जन्मों भी नहीं घटती है। सब व्यक्ति पर निर्भर है।
सब तुम पर निर्भर है। कितनी प्यास, कितना प्रयास, सब प्यास और प्रयास पर निर्भर है। कितना तुम अपने जीवन को दांव पर लगाते हो।
उस युवक ने पूरा लगा दिया होगा। अब बचाने को कोई अर्थ भी न था, बचाने में कोई अर्थ भी न था। सात दिन बाद जीवन हाथ से छूट ही जाएगा। उसने पूरा ही दांव पर लगा दिया होगा। हम लगाते भी हैं दांव पर तो बड़ी कंजूसी से लगाते हैं। हम कभी ध्यान भी करते हैं तो कुनकुने-कुनकुने। कभी प्रार्थना भी करते हैं तो ऐसे ही कर ली। प्राण नहीं रखते। उस पर सारा जीवन निर्भर है, ऐसा भाव नहीं करते। हमारे भाव में सघनता नहीं होती। कर लिया! जैसे कर्तव्य था, कर लिया!
मैंने सुना है, एक धनपति धर्म में जरा भी उत्सुक न था। उसकी पत्नी उत्सुक थी। और वह उसे बार-बार कहती कि कभी तो मंदिर चलो, कभी तो सत्संग करो। वह कहता, कर लेंगे जी! कर लेंगे, अभी बहुत समय पड़ा है, जल्दी क्या है? पत्नी सुनती, चुप रह जाती, उसकी आंखें गीली हो जातीं। क्योंकि रोज सत्संग में वह सुनती थी, समय कहां है! समय कहां पड़ा है! यह गया, जा ही रहा है, पड़ा कहां है, प्रतिपल हाथ से खाली होता जा रहा है।
और एक-एक बूंद करके सागर रिक्त हो जाता है, तो यह तो छोटी सी जिंदगी है। यह कब चुक जाएगी, पता नहीं! तुम्हें पता ही न पड़ेगा और चुक जाएगी। तुम ऐसे ही बैठे रहोगे और चुक जाएगी। मौत जिस दिन द्वार पर आती है तो सभी लोग चौंकते हैं, क्योंकि वे सोचते ही नहीं थे कि आने वाली है। जब भी मौत द्वार पर आती है तो ऐसा लगता है असमय आ गयी। अभी कहां आना था!
पत्नी रोती थी, लेकिन... । फिर पति बीमार पड़ा। तो पति ने कहा कि जल्दी
से वैद्य को बुलाओ, दवा की जरूरत है, मुझे बहुत घबड़ाहट हो रही है। पत्नी ने कहा, छोड़ो जी; बहुत समय पड़ा है, बुला लेंगे! पति ने कहा, तू सुनती है कि नहीं? अभी बुला! उसकी पत्नी ने कहा, लेकिन जल्दी क्या है? जब धर्म कभी, तो दवा अभी क्यों? क्योंकि मैं तो सत्संग में सुनती हूं कि धर्म दवा है। जीवन का उपचार है। अगर वैद्य अभी बुलाना है तो सदगुरु को अभी नहीं बुलाना है? तुम तय कर लो। यह जिंदगी हाथ से जाती लगती है तो वैद्य अभी चाहिए और जीवन का सर्वस्व हाथ से जा रहा है तो भी तुम--धर्म अभी नहीं! दवा अभी और धर्म अभी नहीं!
हमारे गणित ऐसे हैं। और अगर हम कभी कर भी लेते हैं धर्म के नाम पर कुछ,
तो इसी में कर लेते हैं कि शायद कुछ हो, कभी काम पड़ जाए, चलो कर लो। कौन जाने परमात्मा हो, याद कर लो! लेकिन जिसने यह सोचकर याद किया कि कौन जाने परमात्मा हो, याद कर लो, वह याद कर ही न पाएगा। क्योंकि याद ऐसी मुर्दा, मरी-मरी, नपुंसक--यदि परमात्मा हो, शायद हो!
एक नास्तिक को मैं भलीभांति जानता हूं। बड़ी किताबें लिखी हैं। कभी- कभी मेरे पास आते थे, तो वह कहते थे, और कुछ भी हो, मुझे कोई भरोसा नहीं दिला पाता कि ईश्वर है। कोई तर्क प्रमाणित नहीं होता। किसी तर्क से बात समझ में नहीं पड़ती।
फिर अचानक वह बीमार पड़े। हृदय का दौरा पड़ गया, उनके लड़के ने मुझे खबर
की कि पिताजी बहुत बीमार हैं, आपकी याद करते हैं। तो मैं भागा गया। कमरे में गया तो वह आंख बंद किए राम-राम जप रहे थे! जब मैंने उनके ओंठ हिलते देखे और राम-राम धीरे-धीरे उनको जपते देखा तो मैं बहुत चौंका। मैंने उनका सिर हिलाया, मैंने कहा, कर क्या रहे हो? मरते वक्त सब खराब किए ले रहे हो? यह

राम-राम! उन्होंने कहा, पता नहीं अब हो ही; कौन जाने, अब इस वक्त तो कर ही लूं! कौन जाने! मगर मैंने कहा, यह बेकार होगा। तुम अभी भी यह जान रहे हो कि है तो नहीं, मगर शायद!
शायद से जो बात शुरू होती है, उस पर कोई दांव थोड़े ही लगाता है। निश्चय
पर जो बात होती है, उस पर कोई दांव लगाता है। जो तुम्हारे प्राणों में गहरी प्रतिष्ठित हो जाती है, उस पर कोई दांव लगाता है। और जो दांव लगाता है, वही पाता है। अगर तुम चूकते हो तो याद रखना कि चूकते इसीलिए हो कि दांव नहीं लगाते हो।
मुझसे लोग आकर कहते हैं, हम ध्यान करते तो हैं लेकिन होता नहीं। ऐसा लगता है उनकी बात से जैसे कसूर ध्यान का है, कि लगाते तो हैं मगर लगता नहीं! जैसे ध्यान का ही कसूर होगा, उनका कसूर नहीं है।
अगर नहीं लगता तो बात साफ है कि तुम लगाते नहीं। तुम्हारे जीवन में अभी यह बात इतनी महत्वपूर्ण नहीं हो गयी है कि तुम सब दांव पर लगा दो। यह तुम्हारे जीवन में अभी जीवन-मरण का प्रश्न नहीं बना है। यह तुम्हारी मुमुक्षा नहीं है। शायद कुतूहल से तुम सोचते हो शायद होता हो तो देख लें, शायद कुछ शांति मिले, शायद कुछ आनंद मिले; मिल जाएगा तो फिर आगे बढ़ेंगे। लेकिन जो ऐसा सोचकर जाता है, उसे मिलता ही नहीं।
इस युवक में यह क्रांति इसलिए घट सकी, क्योंकि सात दिन बाद मौत खड़ी थी,
अब गंवाने को भी कुछ नहीं बचा था, कमाने को भी कुछ नहीं बचा था। उसने सब दांव पर लगा दिया--सर्वस्व, सौ प्रतिशत, उबल गया होगा। उस उबलने से ही वाष्पीभूत हो जाता है कोई।
उस युवक से ही भगवान ने ये गाथाएं कही थीं। ये गाथाएं समझने की कोशिश करना। समझना जैसे तुमसे ही कही हैं, क्योंकि मौत तो सभी की आनी है। और समझना कि ये जो योजनाएं इस युवक ने बनायीं, ये तुम भी बनाते हो। इस युवक को अपने से भिन्न मत मानना, यह तुम्हारा प्रतीक है। यही तुम कर रहे हो। बैलगाड़ियां न होंगी, बैलगाड़ियों में भरा सामान न होगा, तो गोदाम में भरा होगा। नदी-तट पर तुम न ठहरे होओगे, समय के तट पर तो ठहरे ही हो! शायद वे ही सुंदरियां तुम्हारे मन में न घूम रही होंगी जो उस युवक के मन में घूमती थीं, लेकिन कोई और सुंदरियां घूम रही होंगी। शायद वैसा ही महल तुम न बनाना चाहते होओ जैसा युवक बनाना चाहता था, लेकिन महल तो बनाना ही चाहते होओगे। इससे फर्क नहीं पड़ता।
यह कहानी तुम्हारी कहानी है। इसे तुम ऐसे समझना जैसे तुम ही हो वह युवक। और मैं तुमसे कहता हूं कि तुम ही हो वह युवक। और यह भी मत सोचना कि तुम्हारी उम्र ज्यादा हो गयी, अब तुम युवक कैसे हो सकते हो। कुछ फर्क नहीं पड़ता, कामना सदा जवान रहती है। कामना कभी बूढ़ी होती ही नहीं। बूढ़ी हो जाए तो बुद्धत्व करीब आ जाए। कामना सदा जवान रहती है, बूढ़े से बूढ़े आदमी की जवान रहती है। इसलिए यह जो कथा है, कहती है, वह युवक था। वासना सदा युवा है। मरते दम तक युवा रहती है, बूढ़ी होती ही नहीं।
मैंने सुना है, मुल्ला नसरुद्दीन एक गांव में से गुजर रहा है, और एक वेश्या को निकलते देखकर उसने सीटी बजायी। वेश्या ने भी कहा, शर्म नहीं आती, बाल सफेद हो गए। तो मुल्ला ने जल्दी से टोपी उठाकर बाल दिखाए, बाल काले थे, वेश्या भी हैरान हुई। उसने कहा कि कल ही तो मैंने देखे थे कि सफेद थे। तो तुमने रंग लिए? रंगने से क्या होगा? मुल्ला ने कहा, बाल मत देख, हृदय तो अभी भी काला है। बाल के सफेद होने से क्या होता है? हृदय अभी भी काला है।
वासना सदा जवान है।
मुल्ला बैठा है अपने छज्जे पर और जल्दी से नौकर को आवाज देता है कि फजलू, मेरे दांत ले आ, जल्दी कर! फजलू भागा दांत लाता है, कहता है, इतनी जल्दी क्या है, अभी कुछ खा-पी भी नहीं रहे हो! उसने कहा कि नहीं, एक सुंदर स्त्री निकलती थी, सीटी बजाना चाहता हूं। अब दांत भी नहीं रहे, अब ये दांत भी नकली हो गए हैं, मगर सीटी तो असली है।
आदमी के बूढ़े होने से कुछ बूढ़ा नहीं होता। वासना तो जवान ही बनी रहती है। अस्थिपंजर रह जाते हैं, फिर भी वासना जवान रहती है। मौत दरवाजे पर खड़ी

हो जाती है, फिर भी वासना जवान रहती है। इसलिए कथा कहती है, युवक। वह युवक था या नहीं, यह बात बड़ी नहीं है। उसकी उम्र कितनी थी यह कथा नहीं कहती है कुछ, कथा इतना ही कहती है, युवक था और वासनाओं में डूबा था।
तुम्हारी कथा है यह। ये ही तुम्हारी वासनाएं, भविष्य के सपने--ऐसा करेंगे, वैसा करेंगे। जब तक आदमी संन्यस्त न हो जाए तब तक शेखचिल्ली होता ही है। शेखचिल्ली का अर्थ ही यह होता है कि वह बस पानी के बबूले उठाता रहता है और सोचता है कि संसार निर्मित कर रहा है। बबूले फूटते भी हैं तो भी अनुभव से कुछ सीखता नहीं।
बुद्ध ने इस युवक को कहा कि सात दिन बचे हैं तेरी जिंदगी के और, अब तू सोच ले क्या करना है?
स्वभावतः, तुम कहोगे, हमारी जिंदगी के सात दिन तो नहीं बचे!
कौन जाने, सात भी न बचे हों! या सत्तर बचे हों, इससे क्या फर्क पड़ता है। इससे कुछ भेद नहीं पड़ता है कि तुम कितने दिन जीओगे, एक बात तय है कि मौत होने को है। इस जीवन में मौत के अतिरिक्त और कोई बात सुनिश्चित नहीं है। और सब चीजें अनिश्चित हैं। धन मिलेगा, नहीं मिलेगा; पद मिलेगा, नहीं मिलेगा; चुनाव जीतोगे कि हारोगे, सब अनिश्चित है, मगर मौत निश्चित है।
गरीब की होगी, अमीर की होगी; हारे की होगी, जीते की होगी, मौत निश्चित है। यह बड़ी अनूठी बात है कि इस जीवन में सिर्फ एक ही बात बिल्कुल निश्चित है और वह मौत है। और सब बातें अनिश्चित हैं। हों भी, न भी हों।
इस निश्चित मौत की याद दिलाने को बुद्ध कह रहे हैं इस कथा में, कि उस युवक को उन्होंने कहा कि तेरे केवल सात दिन बचे हैं। इससे तुम सात दिन का हिसाब मत रखना। उन्होंने सिर्फ इतनी बात कही कि युवक तेरी मौत निश्चित है। निश्चित का ख्याल करना, कि बुद्ध ने उसकी मौत निश्चित बता दी कि यह निश्चित हो रही है, यह होने वाली है, ये बस सात दिन बचे हैं।
तुम्हारी भी मौत निश्चित है! तब तुम इन सूत्रों को ठीक से समझ पाओगे।

यावं हि वनयो न छिज्जति अनुमत्तोपि नरस्स नारिसु।
पटिबद्धमनो नु गव सो बच्छो खीरपकोव मातरि।।

कहा उस युवक को कि "हे युवक! जब तक पुरुष की स्त्री के प्रति कामवासना अणुमात्र भी शेष रहती है, तब तक वह वैसे ही बंधा रहता है, जैसा दूध पीने वाला बछड़ा अपनी माता से बंधा रहता है।"
इस जगत में समस्त कामनाओं के मूल में कामवासना है। और सारी वासनाएं गौण हैं। धन की आकांक्षा गौण है। धन आदमी चाहता इसीलिए है कि धन के माध्यम से सुंदर स्त्री, सुंदर पुरुष पा सकेगा। पद भी चाहता इसीलिए है कि पद की आड़ में फिर वासना के खूब खेल खेले जा सकेंगे। आदमी तो स्वर्ग तक इसीलिए चाहता है कि अप्सराएं उपलब्ध होंगी और हूरें उपलब्ध होंगी और गिल्में उपलब्ध होंगे। अगर हम आदमी की सारी वासनाओें में गौर से झांके तो सारी वासनाओं के पीछे छिपी हुई हम कामवासना पाएंगे। कामवासना मूल वासना है, शेष वासनाएं उसी की शाखाएं-प्रशाखाएं हैं। स्वभावत, धनी हो तो ज्यादा स्त्रियां इकट्ठी कर सकता है। तुम पढ़ते ही हो कहानियां शास्त्रों में--राजाओं की हजारों स्त्रियां। गरीब आदमी तो एक ही स्त्री पाल ले तो मुश्किल में पड़ जाता है।
पुराने दिनों में, कितनी स्त्रियां हैं किसकी, इसी से उसके धन का हिसाब लगाया जाता था। इसलिए बढ़-चढ़कर भी संख्या लिखी है। कृष्ण की सोलह हजार स्त्रियां! यह संख्या जरा बढ़-चढ़कर लगती है, नहीं तो कृष्ण पागल हो गए होते। यह संख्या कुछ जंचती नहीं। एक स्त्री पागल कर देने को काफी है, सोलह हजार, थोड़ा सोचो तो! सोलह हजार स्त्रियों का तो हिसाब भी रखना मुश्किल हो जाएगा। दस-पांच साल बीत जाएंगे तब एकाध स्त्री का नंबर फिर आएगा। तब तक तो भूल ही चुके होओगे कि यह कौन है और कहां से आ गयी! जरा सोचो तो कि सोलह हजार स्त्रियों में घिरे कृष्ण! कितने ही पूर्ण अवतार रहे हों, पागलखाने में पहुंच गए होते। सोलह रही होंगी।

मगर क्यों सोलह हजार लिखी हैं? लिखी इसलिए हैं कि उन दिनों एक ही मापदंड था धनी का--कितनी स्त्रियां? जितनी ज्यादा हों, उतना धनी। स्त्री से धन नापा जाता था, स्त्री को धन कहा जाता था। एक स्त्री, तो आदमी गरीब। जरा पैसे वाला हुआ तो दस-पांच। और पैसे वाला हुआ तो सौ दो सौ। चाहे उन स्त्रियों से उसका संबंध भी न हो। चाहे उन स्त्रियों से उसका कोई नाता भी न हो। लेकिन स्त्रियां इकट्ठी कर लेना जरूरी था--जितना बड़ा रनिवास, उतना बड़ा साम्राज्य।
समय-समय पर आधार बदल जाते हैं। जैसे अमरीका में किसके पास कितनी कारें हैं, वह आदमी उतना धनी। तुम्हारे पास एक ही कार वाला गैरेज है, तुम गरीब आदमी हो। दो कार वाला गैरेज है, तुम जरा बड़े आदमी हो। किस ढंग की कार उपयोग करते हो? शेवरलेट, तुम गरीब आदमी; केडिलक, लिंकन, बड़े आदमी। समय-समय पर धाराएं बदल जाती हैं। लेकिन कोई न कोई मापदंड बना रहता है। अब अमरीका में स्त्री से भी ज्यादा बहुमूल्य लगता है कार हो गयी। अगर किसी आदमी से कहो कि एक सुंदर स्त्री चुननी है कि एक सुंदर कार, तो वह कहेगा, स्त्री तो फिर कभी चुन लेंगे, पहले कार। और कार है तो स्त्री चुनने में सुविधा होती है, यह बड़ा मजा है!
मैंने सुना, एक युवक अपनी प्रेयसी को लेकर घर आया। उसके बाप ने लड़की देखी तो वह जरा दुखी हुआ। ढंग-ढौल की नहीं थी, शकल भी आकर्षक नहीं थी, बिल्कुल घरेलू ढंग की थी। जब लड़की चली गयी तो उसने अपने बेटे से कहा कि मैं सोचता था कि तुझमें थोड़ी बुद्धि है, तू जरा ढंग से चुनेगा, सोचकर चुनेगा, यह कहां की लड़की चुन ली? उसने कहा, और क्या सोचते हो, वह पुराने ढंग की कार, फोर्ड का पुराना माडल, उसमें इससे बेहतर लड़की मिल सकती है?
अमरीका में अब किस युवक के पास कितनी कीमती कार है, उस पर निर्भर करता
है कि उसे कितनी सुंदर लड़की मिल सकेगी। हो सकता है कार के चुनाव में भी पीछे स्त्री का ही चुनाव हो। और इस बात को विज्ञापनदाता ठीक से समझते हैं। इसलिए कोई भी चीज बेचनी हो, सुंदर स्त्री को खड़ा करना पड़ता है।
देखते हैं, अब कार से कुछ लेना-देना नहीं, कार का विज्ञापन है और खड़ी
है एक सुंदर स्त्री उस पर हाथ रखे हुए, प्रसन्नचित्त! उसमें एक लुभावना इशारा है कि अगर ऐसी कार तुम्हारे पास हुई, तो ऐसी स्त्री हो सकेगी। ऐसी स्त्री चाहिए हो तो ऐसी कार होनी चाहिए। कुछ कहा नहीं है विज्ञापनदाता ने, लेकिन एक इशारा कर दिया, अचेतन में एक बात डाल दी। स्त्री के सौंदर्य का उपयोग कार को बेचने में कर लिया। अब तो कोई भी चीज बेचनी हो तो स्त्री के सौंदर्य का उपयोग करना पड़ता है। सिगरेट बेचनी हो तो, शराब बेचनी हो तो, कुछ भी बेचना हो। क्योंकि आदमी गहरे में सिर्फ स्त्री को ही खरीदना चाहता है, और कुछ खरीदना नहीं चाहता। इसलिए जो भी चीज बेचनी हो, स्त्री से जोड़ दो। किसी तरह स्त्री से जोड़ दो। स्त्री बिकती है।
यह अपमानजनक है बात। स्त्रियों को इसका विरोध भी करना चाहिए। ये विज्ञापन अशोभनीय हैं। ये विज्ञापन स्त्री को बाजार में बिकने वाली चीज बता रहे हैं। ये विज्ञापन स्त्री-जाति का सम्मान नहीं, अपमान है।
लेकिन गहरे में, सारी वासनाओं के गहरे में कामवासना है। कामवासना मौलिक वासना है, शेष वासनाएं अर्जित, सीखी हुई वासनाएं हैं। कहीं धन बहुत ज्यादा प्रभावशाली होता है--कहीं धन, कहीं पद, लेकिन कामवासना सभी संस्कृतियों में, सभी सभ्यताओं में, सभी कालों में प्रभावशाली होती है। तो बुद्ध उस युवक को पहली बात कहते हैं, "जब तक पुरुष की स्त्री के प्रति कामवासना अणुमात्र भी शेष रहती है, तब तक वह वैसे ही बंधा रहता है, जैसा दूध पीने वाला बछड़ा अपनी माता से बंधा रहता है।"
और भी बात ख्याल रख लेना। वह युवक सात दिन बाद मरने को है। जीवन में जो सबसे ब.ड़ा द्वंद्व है, वह कामवासना और मृत्यु का है। इसलिए बुद्ध का यह सूत्र बड़ा अर्थपूर्ण है; बड़ा अर्थगर्भित है।
ख्याल करो, जन्म होता है कामवासना से। तो जन्म तो जुड़ा है कामवासना से। और अब मृत्यु हो रही है, दूसरे छोर पर पहुंच गए हैं। तो काम और मृत्यु विपरीत हैं। अगर तुम मरते समय भी कामवासना से भरे रहे तो तुम मृत्यु को तो देख ही न पाओगे, नए जन्म का आयोजन कर लोगे, क्योंकि कामवासना नया जन्म लाती

है। मरते वक्त भी आदमी अगर कामवासना से भरा रहा, तो मरते वक्त भी उसकी प्रगाढ़ आकांक्षा यही है कि जल्दी से जन्म ले लूं, जल्दी से जीवित हो जाऊं, जो-जो नहीं कर पाया फिर कर लूं। और इस तरह बार-बार जन्म होता रहेगा, जब तक जन्म की आकांक्षा नहीं मिट जाती। और जन्म की आकांक्षा तभी मिटेगी जब कामवासना अणुमात्र भी न रह जाए। फिर तुम मृत्यु को सीधा देख पाओगे। फिर तुम नए जन्म के बीज न बोओगे। फिर ही आवागमन से मुक्ति संभव है।
"शरद ऋतु के कुमुद को जिस तरह मनुष्य हाथ से सहज काट देता है, उसी तरह आत्मस्नेह को काट डाल। सुगत बुद्ध द्वारा उपदिष्ट निर्वाण के शांतिमार्ग को बढ़ाता जा।"

उच्छिंद सिनेहमत्तनो कुमुदं सारदिकं व पाणिना।
संति मग्गमेव बूहय निब्बानं सुगतेन देसितं।।

जैसे शरद ऋतु का कमल होता है--सुंदर, कोमल--लेकिन एक झटके में हाथ से टूट जाता है। उसकी कोई मजबूती नहीं होती। दिखता बहुत सुंदर है, लेकिन एक झटके में टूट जाता है। ऐसा ही बुद्ध कहते हैं, जो आदमी के जीवन में वासना का सूत्र है, वह बड़ा कोमल है, सुंदर है, प्यारा है, मगर एक झटके में टूट जाता है। झटका देने की हिम्मत होनी चाहिए। और मौत जब पास खड़ी हो तो झटका देना आसान होता है। मौत जब पास खड़ी हो, तो झटका मौत ही दे रही है, तुम जरा मौत का सहारा ले लो, तो यह कामवासना का सुंदर कमल मुर्झा जाए।
"शरद ऋतु के कुमुद को जिस तरह मनुष्य हाथ से सहज काट देता है, उसी तरह आत्मस्नेह को काट डाल।"
अब यह सोचना, यह कामवासना के कारण ही हम अपने प्रेम में पड़े हैं। अपने प्रेम में हम इसीलिए पड़े हैं कि दूसरे से प्रेम में पड़े हैं। और जब तक हमारा दूसरे से प्रेम भरा नहीं, पूरा नहीं हुआ, हम जागे नहीं, तब तक अपने से प्रेम जारी रहता है। स्वार्थ की सारी यात्रा दूसरे को भोगने की यात्रा है। और बुद्ध कहते हैं--उच्छिंद सिनेहमत्तनो--यह जो स्वयं की अत्ता से, अहंकार से, मैं, इससे जो बहुत तेरा प्रेम है, इसको उखाड़ डाल। इस अहंकार से जो तेरा तादात्म्य है, इसको उखाड़ डाल। मौत करीब आ रही है। अगर मौत के पहले तूने अपने अहंकार को उखाड़ डाला और अपने प्रति सारा प्रेम छोड़ दिया, तो फिर तेरा कोई जन्म न होगा। जन्म होता है अपने प्रति आसक्ति के कारण।
"सुगत द्वारा उपदिष्ट निर्वाण के शांतिमार्ग को बढ़ाता जा।"
उठा कदम एक-एक! लंबी यात्रा है। लेकिन सुगत द्वारा उपदिष्ट मार्ग... सुगत बुद्ध का एक नाम है। बुद्ध को जो नाम हमने दिए हैं वे सब बड़े अपूर्व हैं। उनका एक-एक का अर्थ है। सुगत का अर्थ होता है, जो ठीक से गए। गत--गए, सुगत--ठीक से गए। जो इस तरह ठीक से गए कि फिर नहीं आए; जो दुबारा नहीं आए, उनको हम सुगत कहते हैं। जो इस संसार में दुबारा नहीं आते। जो ऐसे चले जाते हैं कि फिर आने का कोई उपाय नहीं रह जाता। जो अपने पीछे कोई सूत्र नहीं छोड़ जाते। जिनकी कोई भी जड़ नहीं बचती। जो गए सो गए। सुगत प्यारा शब्द है। जो सुगत हो गया, वह निर्वाण को उपलब्ध हो गया। यह बुद्ध का एक नाम है।
बुद्ध कहते हैं, "सुगत के द्वारा उपदिष्ट निर्वाण के शांतिमार्ग को बढ़ाता जा।"
बुद्ध कहते हैं, मैं तो चला ही गया, इसलिए मैं तुझे सजग करता हूं, जगाता हूं। मैंने यह कमल आत्ममोह का तोड़ डाला एक झटके से। और मैंने भी जब तोड़ा था तो मौत ही मेरे सामने खड़ी हुई थी। मेरी भी मौत न थी वह, किसी दूसरे को मरा हुआ देखा था और मेरे मन में प्रश्न उठा था कि क्या सभी को मर जाना होगा, यह आदमी मर गया! और मेरे सारथि ने कहा था, हां, प्रभु! सभी को मर जाना होगा। मैंने पूछा था, क्या मैं भी मर जाऊंगा? और मेरे सारथि ने कहा था, कैसे कहूं, किस मुंह से कहूं, लेकिन झूठ तो बोल भी नहीं सकता, आपको भी मर जाना होगा। तब मैंने अपने रथ को, जो युवक-महोत्सव में भाग लेने जा रहा था, वापस लौटा लिया था। उस रात मैं घर से भाग गया था। क्योंकि जब मरना ही है, तो फिर क्या युवक-महोत्सव! फिर क्या राग-रंग!

वहां नगर के सारे युवक और युवतियां इकट्ठे हुए थे, वह वर्ष का युवकों
का उत्सव था, उस दिन रातभर पीना-पिलाना चलता था, नाच-गान चलता था, वह लौट आए थे। वह उसी दिन बूढ़े हो गए। उसी दिन मौत हो गयी।
तो बुद्ध ने कहा, मैं तो तोड़ चुका इस कमल को, बहुत सुंदर था, लेकिन मजबूत नहीं है। जरा हिम्मत हो तो टूट जाता है। और जब मौत पास खड़ी हो--और तेरे तो इतने पास खड़ी है, युवक! मैंने तो दूसरे की मौत में अपनी मौत देखी थी, तेरी मौत तो बिल्कुल पास खड़ी है, तेरी ही मौत खड़ी है--तू तोड़ डाल इस आत्ममोह को! तू भी ठीक से गया हुआ हो जा! तू भी ऐसा जा कि फिर न लौटे!
"यहां वर्षा ऋतु में बसूंगा, यहां हेमंत में बसूंगा, यहां ग्रीष्म में बसूंगा, मूर्ख इस प्रकार सोचता रहता है। किंतु वह जीवन के अंतराय (विघ्न) को नहीं बूझता है।"

इध वस्सं वसिस्सामि इध हेमंत गिम्हसु।
इति बालो विचिंतेति अंतरायं न बुज्झति।।

पागल हैं, मूढ़ हैं वे, जो सोचते हैं, ऐसा भवन बनाएंगे; वसंत में इस भवन में रहेंगे, हेमंत में इस भवन में रहेंगे; ग्रीष्मकाल यहां बिताएंगे, शीतकाल वहां बिताएंगे, वर्षा वहां रहेंगे; मूढ़ हैं वे लोग जो समय की इस रेत पर भवन बनाने की सोचते हैं। इस समय की रेत पर कोई भवन कभी बन नहीं पाता, सब भवन गिर जाते हैं। और उन्हें बनाने में जीवन व्यर्थ चला जाता है। जिस जीवन से कुछ सार्थक मिल सकता था, वह जीवन ऐसे ही खो जाता है। नकार होकर खो जाता है। शून्य मात्र होकर रह जाता है। संपदा बिना पाए लोग मर जाते हैं।
और संपदा एक ही है--सुगत हो जाना। मौत खड़ी है अंतराय बनकर, मौत तुम्हारी किसी योजना को पूरी न होने देगी।
अंतराय शब्द बड़ा महत्वपूर्ण है, जैनों और बौद्धों दोनों ने इस शब्द
का उपयोग किया है। अंतराय का अर्थ होता है, जो बीच में खड़ा है। जो तुम्हारी किसी योजना को पूरी न होने देगा। तुम धन कमाओ, पहले तो कमाने न देगा, अगर किसी तरह कमा लिया तो भोगने न देगा। कोई उपाय नहीं है धन के द्वारा सुख पाने का; नहीं मिले तो दुख और मिल जाए तो दुख। मृत्यु सबसे बड़ा अंतराय है। वह हर जगह खड़ा है। तुम कुछ भी करो, वह सभी चीजों को मटियामेट कर देता है। मूढ़ हैं वे, जो जीवन में खड़े अंतराय को नहीं देखते हैं।
"सोए गांव को जिस तरह बढ़ी हुई बाढ़ बहा ले जाती है, उसी तरह पुत्र और पशु में लिप्त पुरुष को मृत्यु ले जाती है।"
तं पुत्तपसुसंपत्त व्यासत्तमनसं नरं।
सुत्तं गामं महोघोव मच्चु आदाय गच्छति।।

जैसे सारा गांव सोया पड़ा हो और नदी में बाढ़ आ जाए, बड़ी बाढ़ आ जाए और सारे सोए गांव को बहाकर ले जाए, ऐसे ही सोए हुए लोग कामवासनाओं में, इच्छाओं में, तृष्णाओं में, मृत्यु की बाढ़ में बह जाते हैं।
"सोए गांव को जिस तरह बाढ़ बहा ले जाए, ऐसे ही पुत्र, धन, पशु में लिप्त पुरुष को मृत्यु ले जाती है।"
जागो! तंद्रा छोड़ो! तृष्णा छूटे तो तंद्रा छूटती है। तृष्णा की शराब
ही तुम्हें बेहोश बनाए हुए है। तुम लड़खड़ाकर चल रहे हो। तुम्हें समझ ही नहीं आ रहा, तुम कहां जा रहे हो? तुम्हें समझ नहीं आ रहा, तुम क्यों जा रहे हो? तुम रोज अपने आसपास मौत घटती देखते हो, लेकिन तुम्हें अपनी मौत की याद नहीं आती। जब भी कोई अर्थी निकले, ख्याल रखना, तुम्हारी ही अर्थी निकलती है।
"जब मृत्यु आती है तब पुत्र रक्षा नहीं कर सकते, न पिता और न बंधु लोग ही। जब वह आती है तब जाति वाले भी रक्षक नहीं हो सकते हैं।"

न संति पुत्ता ताणाय न पिता नापि बंधवा।
नत्थिांतिसु ताणता।।

कोई भी मौत में सहयोगी न होगा। बेटा बाप का सहयोग न करेगा, पत्नी पति
का सहयोग न करेगी, पति पत्नी का सहयोग न करेगा, मौत में कोई अपना नहीं। तो फिर कोई अपना हो कैसे सकता है! कहावत है कि दुख में ही मित्र पहचाना जाता है। तो असली दुख तो एक है, मौत। और वहां कोई मित्र सिद्ध नहीं होता, सो पहचान लिए सब मित्र! ये सब मैत्री ऊपर-ऊपर है, ये सुख-सुविधा की बातें हैं, जब तुम मरोगे तो अकेले जाओगे, कोई साथ न जाएगा। कोई न कहेगा कि हम साथ आते हैं, पुरानी मैत्री है, पुराना प्रेम है।
उपनिषद कहते हैं, कोई दूसरे को थोड़े ही प्रेम करता है, लोग अपने को ही प्रेम करते हैं। पति पत्नी को इसलिए प्रेम करता है कि पति अपने को प्रेम करता है और पत्नी सुख देती है, सुविधा देती है। पत्नी मर जाएगी तो पति दूसरी पत्नी का विचार करने लगेगा। क्यों मरेगा पत्नी के साथ! पत्नी के लिए थोड़े ही कोई प्रेम था, प्रेम तो अपने लिए था; पत्नी का तो उपयोग था।
यहां हम सब एक-दूसरे का उपयोग कर रहे हैं। कोई तुम्हारे लिए यहां नहीं
जी रहा है। तुम बिल्कुल अकेले हो। जिसे यह बात समझ में आ जाती है कि मैं बिल्कुल अकेला हूं, यहां कोई संगी नहीं, कोई साथी नहीं, क्योंकि मौत तो सब संगी-साथी छीन लेगी। मौत ही जब तुम्हें अकेला कर देगी तो फिर जीवन के संग-साथ का कितना मूल्य है! दो घड़ी साथ चल लिए थे, रास्ते पर संयोग से मिलना हो गया था--नदी-नाव-संयोग। संयोग की बात थी कि तुम एक स्त्री के प्रेम में पड़ गए; संयोग की ही बात थी कि तुम एक बस में सफर करते थे, वह स्त्री मिल गयी; संयोग की बात थी कि तुम्हारे पड़ोस में रहती थी, संयोग की बात थी कि एक ही स्कूल में पढ़ने चले गए थे, संयोग की बात थी प्रेम हो गया, संयोग की बात थी तुम एक-दूसरे से बंध गए और एक-दूसरे के सुख-दुख के साथी अपने को मानने लगे। एक दिन संयोग टूट जाएगा। जैसे रास्ते पर चलते वक्त कोई मिल जाता है, दो घड़ी साथ चल लेते हैं, फिर रास्ते अलग हो जाते हैं।
मौत सबके रास्ते अलग कर देती है, मौत बड़ी उदघाटक है। मौत चीजों को साफ-साफ कर देती है। जैसी असलियत है वैसा प्रगट कर देती है। हम अकेले हैं, यहां अकेलापन मिटता ही नहीं, न प्रेम से, न मैत्री से, किसी चीज से नहीं मिटता; हम अकेले ही बने रहते हैं। हम चेष्टा कर लेते हैं मिटाने की, अकेलेपन को भुलाने की। लेकिन तुमने कभी ख्याल नहीं किया! कभी तुम्हें याद नहीं आती किसी क्षण में कि हम बिल्कुल अकेले हैं! पत्नी पास बैठी है और तुम अकेले हो। बेटा पास खेल रहा है और तुम अकेले हो। पिता पास बैठे हैं और तुम अकेले हो। परिवार में बैठे-बैठे कभी तुम्हें यह याद आयी या नहीं कि तुम बिल्कुल अकेले हो, कौन किसका साथी है!
और इसका यह मतलब नहीं है कि बुद्ध यह कह रहे हैं कि पत्नी का कोई दोष
है कि तुम्हें साथ नहीं दे रही है। पत्नी भी अकेली है। बुद्ध यह भी नहीं कह रहे हैं कि इसमें किसी का दोष है। ऐसा मत करना जाकर घर कि अपनी पत्नी को कहो कि तू मुझे प्रेम नहीं करती है, मैं अकेला हूं। अपने बेटे से कहो कि तू मुझे ठीक से प्रेम कर, क्योंकि मैं अकेला हूं।
नहीं, वे लाख उपाय करें तो भी तुम अकेले हो। अकेला होना नियति है। इसे बदला नहीं जा सकता। इसे हम भुला सकते हैं, छिपा सकते हैं, मगर इससे छुटकारे का कोई उपाय नहीं। यह स्वाभाविक है। मृत्यु इस अकेलेपन को दिखा देती है। बुद्ध कहते हैं, कोई बचाएगा नहीं, कोई साथ आएगा नहीं, तो इन पर बहुत ज्यादा दारोमदार मत रखो, अभी से अकेले हो जाओ। जो मौत करेगी, उसे तुम अपने हाथ से कर दो। फिर मौत को कुछ भी न बचेगा तुमसे छीनने को। जो मौत छीनेगी, तुम स्वयं दे डालो। यही त्याग का अर्थ है। जो-जो मौत छीन लेगी, तुम स्वयं कह दो कि मेरा नहीं है। मौत छीनेगी तो अपमान होगा। तुम स्वयं दे डालो तो सम्मान है। संसारी और संन्यासी में इतना ही फर्क है। संसारी पकड़े रहता है, मौत उससे जबरदस्ती छीनती है। और संन्यासी भेंट कर देता है।
मगर दोनों में बड़ा फर्क हो गया। जिसने भेंट किया, उस पर मौत का बस नहीं चलता। और जिससे छीना-झपटी करनी पड़ी मौत को, उस पर बस चल जाता है।
"इस बात को समझकर पंडित और शीलवान पुरुष को निर्वाण की ओर जाने वाले मार्ग की खोज में और सफाई में तुरंत चल देना चाहिए।"

पंडितो सीलसंवुतो।
निब्बान-गमनं मग्गं खिप्पमेव विसोधये।।

बुद्ध कहते हैं, अब तू जाता है एक लंबी यात्रा पर, अकेला रहेगा, अभी से बीज बो डाल इस बात के कि खोजने योग्य तो निर्वाण है, कि खोजने योग्य तो अपने भीतर का अंतस्तल है; कि खोजने योग्य तो एक ही बात है, वह बात है सब भांति जीवन की वासना से मुक्त हो जाना, सब तृष्णा से मुक्त हो जाना। इस बात को समझकर पंडित और शीलवान पुरुष को निर्वाण की ओर जाने वाले मार्ग की खोज में लग जाना चाहिए और तुरंत अपने भीतर सफाई करने लगना चाहिए, ताकि उस मार्ग के संबंध में समझ गहरी हो सके।
मार्ग तो है, लेकिन हमारे मन साफ-सुथरे नहीं हैं, इसलिए दिखायी नहीं पड़ता।

खिप्पमेव विसोधये।

उसका विसोधन करना होगा, खोजना होगा, साफ-सुथरा करना होगा। शायद जन्मों-जन्मों की तृष्णा के कारण रास्ता टूट-फूट गया है। शायद जन्मों- जन्मों की वासना के कारण कूड़ा-करकट से रास्ता दब गया है। शायद जन्मों- जन्मों से तुम उस अपने भीतर के मार्ग पर गए नहीं, अवरुद्ध हो गया है, झाड़-झंखाड़ ऊग गए हैं, उस रास्ते को साफ करना चाहिए।
ध्यान उस रास्ते को साफ करने की विधि है। और जब रास्ता साफ हो जाता है
और तुम ध्यान के मार्ग से अपने भीतर अपने आखिरी केंद्र पर पहुंच जाते हो जिसके पार कुछ भी नहीं है, तो समाधि। ध्यान है मार्ग, समाधि है मंजिल। मृत्यु को देखकर व्यक्ति को ध्यान में लग जाना चाहिए और समाधि को पाने की एक ही अभीप्सा बचे; सब उस पर दांव लगा देना चाहिए। धन्यभागी हैं वे, जो ध्यान की दिशा में चल पड़े, जो ध्यान की दिशा में उन्मुख हो गए! और उनके भाग्य का तो कहना क्या, जो समाधि को उपलब्ध हो जाते हैं!
ये सूत्र तुमसे कहे गए हैं। ये सूत्र एक-एक तुमसे ही कहे गए हैं! यह संदर्भ तुम्हारा संदर्भ है। ख्याल रखना, ऐसी घटना घटी या नहीं घटी, इसका कोई मूल्य नहीं है। मेरा इतिहास में कोई रस नहीं है। ऐसी घटना घटी या नहीं घटी, कुछ पागल इसी में लगे रहते हैं। इसी फिक्र में लगे रहते हैं कि सच में ऐसा हुआ कि एक युवक घाट पर पांच सौ बैलगाड़ियां लिए वासनाओं में उलझा था? सच में ऐसा हुआ, कब हुआ? किस तिथि में हुआ? फिर बुद्ध ने कैसे उसके विचार पढ़े? ऐसा हुआ? ऐसा हो सकता है? फिर सात दिन में वह समाधि को उपलब्ध हो गया, यह बात जंचती नहीं। इतनी वासनाओं में उलझा हुआ आदमी एकदम से रूपांतरित हो गया, यह बात हो कैसे सकती है?
बहुत ऐसे लोग हैं जो इतिहास का विचार करते हैं, संभावना का विचार करते हैं, वे चूक जाते। ये कथाएं इतिहास नहीं हैं, ये कथाएं पुराण हैं। पुराण और इतिहास में फर्क है। इतिहास का मतलब होता है, जो हुआ; पुराण का अर्थ होता है, जो अभी भी हो रहा है। फर्क समझ लेना--इतिहास का मतलब है जो होकर चुक गया, पुराण का मतलब है जो सदा हो रहा है। यह कथा पुराण है।
इस देश में हमने इतिहास तो लिखा ही नहीं। हमने इतिहास की बहुत फिकर नहीं की। इतिहास तो दो कौड़ी की बात है। इससे क्या मूल्य है कि किसी सुबह, फलां तिथि में, सोमवार के दिन, फलां वर्ष में, फलां संवत में, फलां व्यक्ति के साथ यह घटना घटी या नहीं घटी? इसका कोई मूल्य नहीं है। श्रावस्ती रही हो, न रही हो; नदी-तट रहा हो, न रहा हो; यह युवक वहां ठहरा हो, न ठहरा हो; इससे कुछ अंतर नहीं है। समय की नगरी के तट पर हम सब ठहरे हैं। समय की धार बही जा रही है। और हम रेत पर अपने-अपने भवन बनाने की योजनाएं कर रहे हैं।
और सदा इस जगत में बुद्धपुरुष हैं, जो तुम्हें चेता रहे हैं, जगा रहे हैं। सदा बुद्धपुरुष हैं, जो तुम्हारे मन को पढ़ने में समर्थ हैं। सदा बुद्धपुरुष हैं, जो तुम्हें एक ही बात याद दिला रहे हैं कि मौत आती है, मौत आ रही है, यह मौत आ गयी, बस थोड़ी दूर और; अभी कुछ कर लो, देर तो हो चुकी है, लेकिन अभी भी कुछ कर लो तो बहुत देर नहीं हुई है।

इसे मैं कहता हूं पुराण। पुराण का शाश्वत मूल्य है। इतिहास का कोई बड़ा मूल्य नहीं है। इतिहास तो कभी घटता है, मगर पुराण सदा घटता रहता है। पुराण का अर्थ है--पहले भी घटा, अभी भी घट रहा है, आगे भी घटेगा। इस पुराण का मतलब समझ लेना। जो कभी चुकता नहीं, पुरता नहीं, पुराण। घटता ही रहता, होता ही रहता। सदा ऐसा हुआ है, सदा ऐसा हो रहा है और सदा ऐसा होता रहेगा। इतिहास समय में घटता है, पुराण शाश्वत की तरफ इंगित करता है।
जिस दिन तुम इन सूत्र-संदर्भों को इस भाव में समझोगे, तुम पाओगे, ये तुम्हारे लिए सीधे-सीधे दिए गए सूत्र हैं--ये तुम्हारे लिए हैं। यह तुम्हारी बीमारी का उपचार है। यह औषधि तुम्हारे लिए है।
नहीं तो अक्सर ऐसा होता है, किसी और को कहा बुद्ध ने, ढाई हजार साल पहले कहा बुद्ध ने, अब तो संगत भी नहीं है। फिर किसी को कहा था, उसके लिए संगत रहा होगा।
बुद्धपुरुष जो कहते हैं, वह एक गहरे अर्थ में सदा ही संगत होता है। परिस्थिति ऊपर से बदल जाती है, भीतर से आदमी नहीं बदलता। आदमी वही का वही है--वैसा ही रुग्ण, वैसा ही क्रुद्ध, वैसा ही कामी, वैसा ही लोभी, वैसा ही शेखचिल्ली। कोई फर्क नहीं हुआ। अगर बुद्ध आज फिर पैदा हों पच्चीस सौ साल के बाद, तो तुम्हें देखकर उन्हें पहचानने में जरा भी अड़चन न होगी, हालांकि तुम्हारे सामान देखकर अड़चन होगी। कार उन्होंने नहीं देखी थी, रेडियो उन्होंने नहीं देखा था, और टेलीविजन नहीं देखा था। तुम्हारा घर देखकर चौंकेंगे, तुम्हें देखकर जरा भी नहीं चौंकेंगे।
फर्क समझ लेना! तुम्हारा घर देखेंगे तो जरूर चौंक जाएंगे, रेडियो और टेलीविजन और बिजली और पंखा और फ्रिज और कार और सब देखकर चौंक जाएंगे, एक-एक चीज को पूछने लगेंगे, यह क्या है? यह कैसे हुई? यह कब हुई? यह हो भी कैसे सकती है! उन्होंने बैलगाड़ियां देखी थीं, हाथ से झलते पंखे देखे थे, बिजली का कोई पता न था, फ्रिज तो होते न थे, उन्होंने दूसरे तरह की दुनिया देखी थी। लेकिन आदमी... जब वह तुम्हारी तरफ देखेंगे, तो उन्हें जरा भी विस्मय न होगा, तुम वही के वही, वही युवक, श्रावस्ती के बाहर ठहरा, पांच सौ बैलगाड़ियों में सामान भरे। सोच रहा है, ऐसे महल बनाऊंगा, ऐसी सुंदरियां पालूंगा, ऐसी-ऐसी योजनाएं, ऐसी-ऐसी कामनाएं पूरी करूंगा। सालभर और ऐसा धंधा चल जाए, तो लखपति हो जाऊंगा।... तुम्हें देखकर जरा भी न चौंकेंगे। निश्चित ही वह युवक अगर सोचता तो सोचता, कब मेरे पास हजार बैलगाड़ियां
हो जाएं। स्वभावतः। तुम बैलगाड़ियों की सोचोगे ही नहीं। बैलगाड़ी की दुनिया गयी। लेकिन आदमी? आदमी वही का वही। सिक्के बदल जाते हैं, लोभ नहीं बदला। वह युवक और तरह के सिक्के गिनता था, तुम और तरह के नोट गिनोगे, मगर गिनने वाला मन नहीं बदला। संग्रह करने वाला मन नहीं बदला। आदमी नहीं बदला है।
आदमी तो बदलता ही एक चीज से है, वह है ध्यान। समय से नहीं बदलता। समय
तो घूमता चला जाता है, आदमी वही का वही, चीजें बदल जाती हैं। वासना के विषय बदल जाते हैं, लेकिन वासना नहीं बदलती।
तुम्हें देखकर बुद्ध को जरा भी अड़चन न होगी। तुम्हें देखकर वह तत्क्षण पहचान लेंगे अपने पुराने परिचितों को। कोई भेद नहीं होगा। आदमी ठीक वैसा का वैसा है।
एक कहावत है कि सूरज के तले कुछ भी नया नहीं। और दूसरी कहावत है कि सूरज के तले सब कुछ नया है। दोनों कहावतें सही हैं। जहां तक बाहर की बातों का संबंध है, सूरज के तले सब कुछ नया है, कुछ भी पुराना नहीं है। जहां तक भीतर की बातों का संबंध है, सूरज के तले सब कुछ पुराना है, कुछ भी नया नहीं है। घर बदल गए, रास्ते बदल गए, साज-सामग्री बदल गयी, आदमी वही का वही है। परिस्थिति बदल गयी, मनःस्थिति वही की वही है।
इसलिए ये जो संदेश हैं, ये कभी भी बासे नहीं पड़ते, पुराने नहीं पड़ते। इन्हें पुनरुज्जीवित किया जा सकता है। इनमें से फिर तुम्हारे लिए ज्योति जल सकती है, फिर दीया प्रगट हो सकता है। इनसे तुम्हें फिर राह मिल सकती है।
अपनी राह खोजो इन सूत्रों के सहारे। सुगत ने ठीक ही कहा है। जो ठीक से
जा चुके, वही ठीक कह सकते हैं। जो उलझे हैं इस संसार में, वे तो जो भी

कहेंगे वह ठीक नहीं हो सकता। रुग्ण स्वयं हैं, उनका स्वयं का उपचार नहीं हुआ। जो ठीक से इस संसार से मुक्त हो चुके हैं, जो इस संसार पर तैर गए कमलवत, जिनका अब आने का कोई उपाय नहीं रहा है, जिनकी आखिरी जाने की विदा आ गयी, जो सागर के तट पर खड़े हैं और सागर में उतरने को हैं--सुगत--और फिर कभी न लौटेंगे, उनकी बात ध्यानपूर्वक सुनना। उससे तुम्हारे जीवन में क्रांति आ सकती है। तुम्हारा जीवन भी सांसारिक न होकर संन्यास का जीवन हो सकता है। और यह क्रांति भीतरी है, ख्याल रखना। तुम चाहे घर में रहो, दुकान में रहो, इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता। तुम्हें इतना दिखायी पड़ जाए कि इस जीवन में कुछ पाने योग्य नहीं, पाने योग्य कहीं भीतर है। और तुम उस भीतर की शोध में लग जाओ--विसोधये।
और यह जो मार्ग बुद्ध ने कहा--एस मग्गो विसुद्धिया--यह मार्ग है विसोधन का, शुद्धि का।
आज इतना ही।

एस धम्मो सनंतनो, भाग 9
इन्कानवेवां प्रवचन

सत्य अनुभव है अंतश्चक्षु का

पहला प्रश्नः सत्य क्या है?

इसका उत्तर नहीं हो सकेगा। इसका उत्तर हो ही नहीं सकता।
सत्य कैसे पाया जा सकता है, इसका तो उत्तर हो सकता है; विधि बतायी जा सकती है; लेकिन सत्य क्या है, उसे बताने का कोई उपाय नहीं। सत्य को तो स्वयं ही जानना होता है, दूसरा न बता सकेगा। और दूसरे का बताया गया सत्य न होगा। ऐसा नहीं कि दूसरे ने नहीं जाना है। सत्य जाना तो जा सकता है, लेकिन जनाया नहीं जा सकता।
प्रश्न महत्वपूर्ण है। लेकिन उत्तर की अपेक्षा न करो। उत्तर तुम्हें खोजना होगा। उत्तर मुझसे न मिल सकेगा। मेरी तरफ से इशारे हो सकते हैं कि ऐसे चलो, ऐसे जीओ, तो एक दिन सत्य मिलेगा। लेकिन सत्य क्या होगा, कैसा होगा, जब मिलेगा तो कैसा स्वाद आएगा, यह तो स्वाद आएगा तभी पता चलेगा।
हम होशियार लोग हैं, हम गणित लगाकर चलते हैं, हम पहले पूछते हैं सत्य क्या है, ठीक पता चल जाए तो फिर हम खोज करें। इसीलिए तो बहुत कम लोग सत्य की खोज करते हैं।
सत्य की खोज का अर्थ हुआ, अज्ञात में जाना है, अंधेरे में उतरना है, अनजान, अपरिचित से दोस्ती करनी है। सत्य है भी, इसका भी कोई भरोसा नहीं दिला सकता तुम्हें। अगर तुमने जिद्द की हो, अगर तुम तर्क में कुशल और पटु हो, तो कोई यह भी नहीं सिद्ध कर सकता कि सत्य है। तुममें श्रद्धा हो, स्वीकार हो, तो तुम यह बात मानकर चल सकते हो कि सत्य है। कैसे तुम मानोगे? क्योंकि आज तक किसी ने नहीं कहा कि सत्य क्या है।
जीसस को पूछा है सूली लगाने के पहले पांटियस पायलट ने--रोमन गवर्नर ने--जिसकी आज्ञा से जीसस को सूली हुई, सूली की सजा देने के बाद, सजा सुनाने के बाद पायलट ने जीसस की तरफ देखा और कहा कि एक प्रश्न मुझे भी पूछना है, मेरा निजी प्रश्न, सत्य क्या है? और जीसस जो जीवनभर बोलते रहे थे, जब भी किसी ने कुछ पूछा था तो उत्तर दिया था, कहते हैं, चुप खड़े रह गये। पायलट की आंखों में झांका, लेकिन चुप रहे, बोले कुछ भी नहीं। बिना बोले सूली पर चढ़ गये। क्यों नहीं बोले? न बोलने का कारण है। जो प्रश्न पूछा था, उसका शब्दों में उत्तर नहीं हो सकता।
लाओत्सू ने कहा है, जो कहा जा सके वह सत्य न होगा। सत्य तो कहा ही नहीं
जा सकता। और जो भी कहा जा सकेगा, कहने के कारण ही असत्य हो जाएगा।
जापान में एक बहुत बड़ा झेन फकीर हुआ--लिंग शू। सम्राट ने उसे बुलवाया
था प्रवचन देने को। आया, सम्राट का निमंत्रण था, तो जरूर आया। सम्राट ने खड़े होकर प्रार्थना की, सत्य क्या है?
लिंग शू खड़ा हुआ मंच पर, उसने जोर से सामने रखी टेबल पीटी, सन्नाटा छा गया। सब लोग उत्सुक होकर बैठ गये। सबकी रीढ़ें सीधी हो गयीं। सम्राट भी बैठ गया कि शायद अब कोई महत्वपूर्ण बात कहने को है लिंग शू। और लिंग शू ने सन्नाटा न छोड़ा। क्षणभर रहा और बोला, प्रवचन पूरा हो गया। उतरा मंच से, बाहर चला गया।
सम्राट ने अपने वजीरों से कहा, यह किस तरह का प्रवचन हुआ? हम तो वर्षों प्रतीक्षा किये लिंग शू की--अब आता, अब आता, अब पहाड़ों से उतरता है; हम राह देखते-देखते थक गये और यह आदमी आया और टेबल पीटकर बोलता है, प्रवचन पूरा हो गया! यह बोला तो एक भी शब्द नहीं।
उस मौन में कुछ कहा लिंग शू ने। उस मौन में ही कहा जा सकता है। जैसे जीसस ने पांटियस पायलट की आंखों में झांककर देखा और कुछ भी न कहा। लिंग शू ने और भी बड़ी करुणा की, उसने टेबल पीटी, ताकि कोई झपकी खा रहा हो, सोया हो, तो जग जाए। फिर क्षणभर को सन्नाटा रहा।
बुद्ध एक सुबह कमल का फूल हाथ में लिये हुए आए और उस दिन बोले नहीं-- रोज बोलते थे। प्रतीक्षा में बैठे हैं शिष्य, भिक्षु, श्रावक। फिर

प्रतीक्षा भारी होने लगी, क्योंकि बुद्ध हैं कि उस कमल के फूल को देखे चले जाते हैं और बोलते कुछ भी नहीं। आधी घड़ी बीती, घड़ी बीती, फिर तो लोग घबड़ाने लगे कि यह क्या हो रहा है, ऐसा कभी न हुआ था।
और तब एक शिष्य महाकाश्यप हंसने लगा, खिलखिलाकर हंसने लगा--उसे कभी किसी ने हंसते भी न देखा था, वह तब तक जाहिर भी नहीं था, तब तक किसी को उसका पता भी नहीं था--उसकी हंसी की आवाज उस सन्नाटे में गूंजी, बुद्ध ने आंखें उठायीं, महाकाश्यप को अपने पास बुलाया, फूल उसे दे दिया और समूह से कहा, जो मैं कहकर कह सकता था, तुमसे कह दिया; और जो कहकर नहीं कहा जा सकता, वह मैं महाकाश्यप को देता हूं। वह सत्य का दान था।
फिर सदियां बीत गयी हैं, पच्चीस सौ साल बीत गये, बौद्ध चिंतक, मनीषी इस
पर विचार करते रहे हैं, ध्यान करते रहे हैं, कि क्या दिया बुद्ध ने महाकाश्यप को? क्या मिला महाकाश्यप को? क्यों महाकाश्यप हंसा? तब तक नहीं हंसा था, उसके पहले तक उसके बाबत कोई उल्लेख बौद्ध ग्रंथों में नहीं है, फिर उसके बाद भी कोई उल्लेख नहीं है। महाकाश्यप हंसा लोगों की चित्तदशा देखकर कि लोग शब्द में प्रतीक्षा कर रहे हैं और आज बुद्ध मौन में दिये दे रहे हैं।
जिस लिंग शू की मैंने तुमसे कहानी कही, वह मरणशय्या पर पड़ा था। शिष्य इकट्ठे हो गये थे। हजारों बार उन्होंने कोशिश की थी जान लें कि सत्य क्या है, धर्म क्या है, बुद्धत्व क्या है, निर्वाण क्या है, और लिंग शू हमेशा मुस्कुराकर चुप रह जाता था। सोचा कि शायद मरते समय कुछ कह दे, जाते-जाते शायद कोई कुंजी दे दे। तो शिष्यों ने पूछा कि हम एक ही प्रश्न पूछने आए हैं, विदा के पहले उत्तर दे जाएं। पूछा लिंग शू ने, क्या है प्रश्न? वही तो अटकी थी मन में बात शिष्यों के, सभी ने कहा, एक ही, हम सबका एक ही प्रश्न है, अलग-अलग भी प्रश्न नहीं--सत्य क्या है? लिंग शू ने आंखें बंद कर लीं, सन्नाटा रहा।
यही तो सदा का मामला था। मरते वक्त भी अपनी आदत से लिंग शू बाज न आया। यही उसकी जिंदगीभर की व्यवस्था थी। पूछो सत्य कि चुप हो जाता। और कुछ भी पूछो तो खूब बोलता, लेकिन जैसे ही तुम सत्य की बात के करीब आते कि जैसे उसकी जबान को लकवा लग जाता। चुप ही चल दिया लिंग शू, आंख बंद रही सो बंद ही रही, फिर न खुली।
उसके निर्वाण के बाद उसके शिष्यों ने उसका एक स्मारक बनाना चाहा। उस
पर वे उसका जीवन लिखना चाहते थे। लेकिन क्या लिखें! उसका जीवन मौन की एक लंबी कथा थी। नहीं कि उसने कुछ न कहा था, रोज बोलता था, लेकिन जो लोग पूछते थे, वह नहीं बोलता था, कुछ और बोलता था। लोग पूछते हैं, स्वास्थ्य क्या है? और लिंग शू बोलता था, औषधि क्या है बीमारी को दूर करने की।
लिंग शू की पकड़ बड़ी वैज्ञानिक थी। तुम बीमार हो, औषधि की पूछो, स्वास्थ्य की पूछने से क्या होगा! अभी तुम बीमार हो, तुम स्वास्थ्य का अनुभव भी नहीं कर सकोगे। कोई लाख सिर पटके और समझाए, तुम तक बात नहीं पहुंचेगी, नहीं पहुंचेगी। तो औषधि की बात समझायी जा सकती है, औषधि खोजो, सत्य की बात मत पूछो। औषधि ले लो, बीमारी कट जाए, तो जो बच रहेगा वही स्वास्थ्य है, वही सत्य है।
जिस दिन तुम शांत हो जाओगे, उस दिन तुम्हारे भीतर जो मौजूद होगा, वही सत्य है। जिस दिन तुम निर्विचार हो जाओगे, कोई विचार की तरंग न होगी, उस दिन तुम्हारे भीतर जो निर्धूम ज्योति जलेगी, वही सत्य है। जिस क्षण तुम्हारे जीवन से सारी वासना विदा हो जाएगी, उस दिन निर्वासना में तुम्हारे भीतर जो प्रकाश और आलोक होगा, वही सत्य है। जिस दिन तुम जानोगे कि न मैं देह हूं, जिस दिन तुम जानोगे कि न मैं मन हूं, उस दिन तुम जो जानोगे, वही तुम हो, वही सत्य है।
लेकिन उसे कैसे कोई कहे! लिंग शू ने बातें तो बहुत कही थीं, लेकिन उन बातों में उसके जीवन का असली स्वर न था। असली स्वर तो मौन था।
शिष्यों ने जब स्मारक बनाया तो वे चाहते थे, कुछ ऐसी बात लिखी जाए स्मारक पर, संक्षिप्त शब्दों में, ताकि लिंग शू के पूरे जीवन के संबंध में इशारा हो जाए। वे कुछ सोच न सके। उन्होंने बहुत सिर मारा, लेकिन वह आदमी

असली बातों पर मौन ही रहा था, व्यर्थ की बातों पर उन्हें लगता था बोला, सार्थक बातों पर चुप रहा। हमने कुछ पूछा, इसने कुछ कहा। तो इसके बाबत लिखें क्या? इसने जो कहा था, वह लिखें? वह जंचता नहीं, क्योंकि वह इसके जीवन का असली स्वर न था। जो इसने नहीं कहा, उसको कैसे लिखें? वही इसका असली स्वर था।
तो वे एक दूसरे सदगुरु के पास गये पूछने कि हम क्या लिखें? लिंग शू की कब्र तैयार हो गयी--संगमरमर की प्यारी कब्र बनायी है--उसकी कब्र पर कुछ लिखना है, जो इंगित दे, सदियों तक इशारा करे। जिस सदगुरु से उन्होंने पूछा, उसका नाम था, यून मैन। यून मैन अधिकतर एक ही शब्द में बोलता था। जैसे लिंग शू चुप रहता था, मौन हो जाता था, यून मैन जब कोई कुछ पूछता था तो अक्सर एक ही शब्द में उत्तर देता था। समझो तो ठीक, न समझो तो ठीक। जब शिष्यों ने यून मैन से पूछा तो यून मैन थोड़ी देर चुप रहा और फिर जोर से बोला--सदगुरु! मास्टर! बस इतना लिख दो।
और लिंग शू की कब्र पर अभी भी लिखा हुआ है--सदगुरु। कुछ और नहीं लिखा है। बड़ी अजीब बात यून मैन ने कही कि सदगुरु। क्योंकि सत्य को कभी नहीं बोला, इसलिए सदगुरु। सत्य तक पहुंचने का मार्ग जरूर बताया, लेकिन सत्य क्या है, कभी नहीं बताया, इसलिए सदगुरु। असदगुरु वही है जो तुम्हें सत्य क्या है, यह तो बताए; और सत्य तक कैसे पहुंचा जाए, यह कभी न बताए। और जो तुम्हें यह न बताए कि सत्य तक कैसे पहुंचा जाए, उसकी सत्य के संबंध में की गयी परिभाषाएं दो कौड़ी की हैं। स्वप्नजाल हैं।
तुम्हारा प्रश्न तो महत्वपूर्ण है कि सत्य क्या है, लेकिन तुम जरा और दूसरी दिशा से पूछो। तुम यह पूछो कि सत्य को कैसे पाया जाता है? जरा व्यावहारिक बनो। जमीन पर आओ, आकाश में न उड़ो। तुम जहां हो वहां से बात शुरू करो। अंधा आदमी पूछता है, प्रकाश क्या है? अंधे आदमी को पूछना चाहिए, मैं अंधा हूं, मेरी आंखें कैसे ठीक हों? बहरा आदमी पूछता है, ध्वनि क्या है? बहरे आदमी को पूछना चाहिए, मेरे कान कैसे ठीक हों?
तुम मत पूछो सत्य की बात, तुम इतना ही पूछो कि हमारी आंख कैसे ठीक हो जाएं? आंख पर जाली जमी है, जन्मों-जन्मों की जाली जमी है वासना की, विचार की, विकृति की, उसके कारण कुछ भी दिखायी नहीं पड़ता। इसलिए सवाल उठता है कि सत्य क्या है? अंधे को सवाल उठता है कि प्रकाश क्या है? और ऊपर से देखोगे तो सवाल में कुछ भूल भी नहीं मालूम पड़ती, लेकिन क्या यह उचित सवाल है? और क्या तुम प्रकाश की व्याख्या करोगे अंधे के सामने? और क्या तुम सोचते हो कि अंधा इससे कुछ समझ पाएगा? तुम प्रकाश का गुणगान करोगे, स्तुति गाओगे? तुम प्रकाश के रंगों और प्रकाश के अदभुत अनुभव की चर्चा में उतरोगे? गीत रचोगे, गुनगुनाओगे?
सब व्यर्थ होगा, क्योंकि अंधे को तुम्हारी कोई बात समझ न आएगी। जिसने प्रकाश जाना नहीं, उसे प्रकाश के संबंध में कुछ भी कहा गया हो, समझ में न आएगा। खतरा यह है कि कहीं कुछ का कुछ समझ में न आ जाए। गलत प्रश्न पूछने में बड़े से बड़ा खतरा यही है कि कहीं कुछ का कुछ समझ में न आ जाए।
रामकृष्ण कहते थे, एक आदमी था, अंधा आदमी, उसके मित्रों ने उसे भोज दिया। खीर बनी। उस अंधे आदमी को पहली दफे ही खीर खाने को मिली। गरीब आदमी था, खीर उसे खूब रुची। उसने और-और मांगी। फिर वह पूछने लगा, जरा इस खीर के संबंध में मुझे कुछ बताओ। पास में बैठे किसी तथाकथित बुद्धिमान ने कहा, खीर बिल्कुल सफेद होती है, रंग इसका सफेद है। उस अंधे ने कहा, मेरे साथ मजाक न करो, जानते हो कि मैं अंधा हूं, जन्म-अंधा हूं, सफेद, सफेद यानी क्या? मगर पास में बैठा हुआ आदमी भी पूरा पंडित था, उसने सफेद को समझाने की कोशिश की। उसने कहा, कभी बगुले देखे? बगुले जैसे सफेद होते हैं, उसी का नाम सफेद है। उस अंधे ने कहा, एक पहेली को सुलझाने के लिए तुम दूसरी पहेली बता रहे हो। बगुले, बगुले क्या? कभी देखे नहीं।
मगर पंडित भी पंडित ही था। उसने भी जिद्द कर ली थी कि समझाकर ही रहेगा। उसने कहा, बगुले नहीं देखे! चलो यह मेरा हाथ है, इस पर हाथ फेरो, ऐसी बगुले की गर्दन होती है। अपने हाथ को बगुले की गर्दन जैसा टेढ़ा करके उसने हाथ फिरवा दिया। अंधा बड़ा खुश हुआ, बड़ा आनंदित हुआ। उसने कहा, खूब-खूब

धन्यवाद तुम्हारा, अब मैं समझ गया कि खीर कैसी होती है; तिरछे हाथ की तरह खीर होती है। मैं समझ गया, अब मेरी बात समझ में आ गयी। कोई मुझे समझाए तो मैं समझ जाता हूं, लेकिन समझाते ही नहीं लोग! लोग टाल ही जाते हैं! तब उस पंडित को समझ में आया कि यह समझाना न हुआ, यह तो और हानि की बात हो गयी, यह तो कुछ का कुछ समझ गया!
सत्य को जो जानते हैं, वे कभी न कहेंगे, क्योंकि तुम कुछ का कुछ समझोगे।
बुद्ध के पास एक बार लोग एक अंधे को ले आए थे। क्योंकि अंधा बड़ा जिद्दी था और कहता था कि प्रकाश है ही नहीं। और कहता था, ऐसा भी नहीं है कि मैंने अपने मन को अवरुद्ध कर रखा है। मैं बहुत मुक्त-मन व्यक्ति हूं। लेकिन प्रकाश है ही नहीं और लोग व्यर्थ की झूठी बातें और कपोल-कल्पनाओं में पड़े हैं। अगर प्रकाश है तो मैं छूकर देखना चाहता हूं। स्वभावतः, अंधा छूकर चीजों को देखता है, टटोलकर देखता है। तो वह कहता है, प्रकाश अगर है तो ले आओ, मैं छूकर देख लूं; छू लूं तो मैं मान लूं।
अब प्रकाश को कैसे छुओगे! लेकिन अगर प्रकाश को न छुओ तो क्या इससे यह सिद्ध होता है कि प्रकाश नहीं है? लेकिन अंधे की बात में भी बल है। उसके पास स्पर्श की ही तो इंद्रिय है जिससे वह पहचानता है।
वह कहता है, चलो, स्पर्श न करवा सको, जरा प्रकाश को बजाओ, तो मैं सुन लूं, मेरे कान ठीक हैं। चलो, यह भी न कर सको तो प्रकाश को मेरे मुंह में रख दो, मैं जरा उसका स्वाद ले लूं, मेरी जिह्वा भी ठीक है। यह भी नहीं होता! तो जरा प्रकाश को मेरे नासापुट के पास ले आओ, मुझे गंध बिल्कुल ठीक से आती है, मैं उसकी गंध ले लूं। कुछ तो प्रमाण दो! कुछ तो ऐसा प्रमाण दो जो मेरी सीमा और समझ के भीतर पड़ता है।
लेकिन प्रकाश को न सूंघा जा सकता है, प्रकाश में कोई गंध होती ही नहीं। न प्रकाश को छुआ जा सकता, क्योंकि प्रकाश का कोई रूप नहीं होता, कोई देह नहीं होती, कोई काया नहीं होती। न प्रकाश को चखा जा सकता, क्योंकि प्रकाश में कोई स्वाद नहीं होता। न प्रकाश को बजाया जा सकता, प्रकाश में कोई ध्वनि नहीं होती।
तो अंधा खिलखिलाकर हंसता और वह कहता, फिर क्यों व्यर्थ की बातें करते हो? प्रकाश है ही नहीं। और मैं ही अंधा नहीं हूं, तुम सब अंधे हो। फर्क सिर्फ इतना है कि मैं ईमानदार अंधा हूं, तुम बेईमान अंधे हो। तुम उस प्रकाश की बातें कर रहे हो जो नहीं है, और मैं उसको स्वीकार नहीं करता। यही तो नास्तिक कहता है आस्तिक से कि मैं ईमानदार आदमी हूं, तुम बेईमान। तुम उस ईश्वर की बातें कर रहे हो जो है नहीं, मैं कैसे मानूं! यही तो गैर-ध्यानी कहता है ध्यानी से कि तुम किस आनंद की बातें कर रहे हो, यह है ही नहीं! हो तो रख दो मेरे सामने। बिछा दो टेबल पर तो मैं परीक्षण कर लूं। यही तो मार्क्स ने कहा है।
मार्क्स ने कहा है, जब तक ईश्वर प्रयोगशाला में परीक्षित न हो, तब तक स्वीकार नहीं होगा। जब हम टेस्ट-ट्यूब में रखकर ईश्वर की परीक्षा कर लेंगे, एसिड डालकर और हजार तरह के उपाय करके, तब हम स्वीकार करेंगे।
जो तुम्हारे टेस्ट-ट्यूब में समा जाएगा, वह ईश्वर होगा! जो तुम्हारी टेबल पर लेट जाएगा और तुम उसके अंग-अंग खंडित करोगे, विश्लेषण करोगे, और तय करोगे कि कौन है, वह ईश्वर होगा!
नास्तिक यही तो कहता है कि मुझमें और तुममें इतना ही फर्क है--यह फर्क नहीं है कि ईश्वर है--फर्क इतना है कि मैं ईमानदार, मैं वही कहता हूं जो मुझे दिखायी पड़ता है, तुम उसकी बातें करते हो जो दिखायी नहीं पड़ता। तुम अदृश्य के संबंध में नाहक अटकलें लगाते हो।
यही उस अंधे ने बुद्ध से कहा था। बुद्ध ने कहा कि मैं तेरी बात समझता हूं, मुझे तेरी बात में जरा भी विरोध नहीं है। लेकिन उन्होंने जो लोग उस अंधे को लेकर आए थे, उनसे कहा कि तुम्हारी बात गलत है, तुम इसे समझाने की कोशिश मत करो। मैं एक बड़े चिकित्सक को जानता हूं जो आंखें ठीक कर सकता है, तुम इसे चिकित्सक के पास ले जाओ।

छह महीने की औषधि से उस आदमी की आंखों की जाली कट गयी। वह अंधा नहीं था--अंधा कोई भी नहीं है, सिर्फ आंखों पर जाली है--उसकी आंखों की जाली कट गयी। वह नाचता हुआ आया। वह बुद्ध के चरणों में गिर पड़ा। उसने कहा, अब मैं जानता हूं कि प्रकाश है और मुझे क्षमा कर दें, मैंने जो विवाद किया था वह व्यर्थ था, मुझे क्षमा कर दें। मैं अंधा था। सिर्फ अंधा था मैं और अपने अंधेपन को भी पकड़कर बैठा था। मैंने जो विवाद किया था वह ठीक नहीं था। प्रकाश है। और अब मैं जानता हूं कि मैं भी अगर किसी को चाहूं कि प्रकाश स्पर्श कर ले, स्वाद ले ले, ध्वनि सुन ले, गंध ले ले, तो मैं भी यह न कर पाऊंगा, और फिर भी प्रकाश है।
प्रकाश का पता ही तब चलता है जब आंख खुलती है। प्रकाश आंख का अनुभव है,
और सत्य तुम्हारी अंतर्दृष्टि का। प्रकाश बाहर की आंख का अनुभव है, सत्य तुम्हारी भीतर की आंख का। अंतश्च्रु खुलें, तो सत्य का पता चलता है।
तुम ऐसे प्रश्न मत पूछो कि सत्य क्या है? ऐसा ही पूछो कि अंतश्च्रु कैसे खुलें? उसी की तो बात चल रही है रोज। हजार-हजार उपाय और विधियों से उसी की बात चल रही है कि अंतश्च्रु कैसे खुलें?
ध्यान अंतश्च्रु को खोलने की औषधि है। तुम ध्यान में लगो, तुम सत्य की व्यर्थ की बातों में मत पड़ो, अन्यथा दार्शनिक हो जाओगे। आस्तिक हो जाओगे, नास्तिक हो जाओगे, विवादी हो जाओगे, तार्किक हो जाओगे, पंडित हो जाओगे, लेकिन कभी ज्ञानी न हो सकोगे। ध्यान के अतिरिक्त कोई कभी ज्ञानी नहीं हुआ है।

दूसरा प्रश्नः मेरे प्यारे प्रभु, मेरी बूढ़ी मां पिछले पचास वर्षों
से जैन-साधना नियमित रूप से करती हैं, पर मृत्युशय्या पर उसकी जीवेषणा देखकर आज कुंडलिनी ध्यान में आपसे एक ही प्रार्थना रही कि प्रभु, मृत्यु से पहले मृत्यु की पहचान करने में सहायता दें।

पूछा है ईश्वर समर्पण ने।
समझने की बात है। जीवेषणा मृत्यु के समय बहुत घनी हो जाती है। स्वभावतः। जब जीवन हाथ से छूटने लगता है तो हम जीवन को और कसकर पकड़ना चाहते हैं। जब जीवन हाथ में होता है तब पकड़ने की कोई जरूरत ही नहीं होती है। जो तुम्हारे पास है उसे तुम थोड़े ही पकड़ते हो, जो जाने लगा, उसे तुम पकड़ते हो। जो तुम्हारे पास है ही, तुम पकड़ो या न पकड़ो, उसकी कौन चिंता करता है! लेकिन जिस दिन तुम पाते हो कि छोड़कर जाने लगा, उस दिन तुम पकड़ते हो, उस दिन तुम दीवाने हो जाते हो। मृत्यु के क्षण में जीवेषणा बहुत गहरी हो जाती है, आत्यंतिक हो जाती है, चरम हो जाती है।
जीवनभर शायद जीवन में बहुत रस न लिया हो, जीवनभर चाहे साधु जैसे कोई जीआ हो, लेकिन मरते क्षण में असली पहचान होती है। मरते क्षण में कसौटी है। मरते वक्त पता चलता है कि इस आदमी की जीवेषणा थी या नहीं। मरते वक्त जो जीवन को बिना पकड़े, प्रसन्न भाव से, जरा भी रोता हुआ नहीं, जरा भी चीखता- पुकारता नहीं, सहजभाव से मृत्यु में लीन हो जाता है, जरा भी शिकायत नहीं, वही समझो कि जीवेषणा से मुक्त हुआ।
मगर जीवेषणा की कसौटी आती तभी है जब मौत आती है। बुढ़ापे में आदमी ज्यादा जीवन में उत्सुक हो जाता है, क्योंकि पैर डगमगाने लगते हैं, मौत करीब आने लगती है। अब तो अगर पकड़कर नहीं रखा जीवन को तो यह गया। तो यह पंछी कभी भी उड़ जाने को तैयार है! तो सब द्वार-दरवाजे आदमी बंद कर लेता है--और थोड़ी देर जी लें। पहले तो जीवन ऐसे लुटाया कि कभी फिकर नहीं की बहुत। लोगों से पूछो, जिंदगी में तो लोगों के पास समय काटने के लिए उपाय नहीं हैं! लोग कहते हैं, समय काट रहे हैं। कोई ताश खेल रहा है, कोई शराब पी रहा है, कोई जुआ खेल रहा है, कोई होटल में बैठा है, कोई क्लबघर में बैठा है। उनसे पूछो, क्या कर रहे हो? वे कहते हैं, समय काट रहे हैं। जैसे समय जरूरत से ज्यादा है, तो काट रहे हैं उसे, क्या करें!
यही आदमी मौत के वक्त चीखेगा-चिल्लाएगा कि और चौबीस घंटे मिल जाते, एक रात और पूर्णिमा का चांद देख लेता, एक रात और कर लेता प्रेम, एक रात और रह

लेता अपने प्रियजनों के बीच, एक बार और सूरज ऊग जाता, एक वसंत और देख लेता, एक बार और देखता खिलते फूल, एक बार और सुनता गीत गाते पक्षी--पकड़ता है! अब सब जा रहा है, अब नहीं सूझता उसे कि क्या करे; पहले समय काटता था!
तुम सोचते हो, तुम समय काट रहे हो; तुम गलती में हो, समय तुम्हें काट रहा है। तुम समय को क्या काटोगे? तुम समय को कैसे काटोगे? आदमी के पास कोई आरा नहीं है जिससे समय काटा जा सके। समय इतना सूक्ष्म है, कोई आरा उसे नहीं काटता है। समय का आरा तुम्हें काटता जाता है। जब तुम ताश खेलते हो और कहते हो, समय काट रहे हैं, तो समय हंसता है। समय तुम्हें काट रहा है, समय तुम्हारी मौत को करीब ला रहा है। जिस दिन मौत द्वार पर खड़ी हो जाएगी, उस दिन मुश्किल में पड़ोगे।
एक सूफी कथा है। एक लकड़हारा सत्तर साल का हो गया है, लकड़ियां ढोते- ढोते जिंदगी बीत गयी, कई बार सोचा कि मर क्यों न जाऊं! कई बार परमात्मा से प्रार्थना की कि हे प्रभु, मेरी मौत क्यों नहीं भेज देता, सार क्या है इस जीवन में! रोज लकड़ी काटना, रोज लकड़ी बेचना, थक गया हूं! किसी तरह रोजी-रोटी जुटा पाता हूं। फिर भी पूरा पेट नहीं भरता। एक जून मिल जाए तो बहुत। कभी- कभी दोनों जून भी उपवास हो जाता है। कभी वर्षा ज्यादा दिन हो जाती है, लकड़ी नहीं काटने जा पाता। फिर बूढ़ा भी हो गया हूं, कभी बीमार हो जाता हूं, और लकड़ी काटने से मिलता कितना है!
एक दिन लौटता था थका-मांदा, खांसता-खंखारता, अपने गट्ठर को लिये। और बीच में एकदम ऐसा उसे लगा कि अब बिल्कुल व्यर्थ है, मेरा जीवन यह अब मैं क्यों ढो रहा हूं! उसने गट्ठर नीचे पटक दिया, आकाश की तरफ हाथ जोड़कर कहा कि मृत्यु, तू सब को आती है और मुझे नहीं आती! हे यमदूत, तुम मुझे क्या भूल ही गये हो, उठा लो अब!
संयोग की बात, ऐसा अक्सर तो होता नहीं, उस दिन हो गया, यमदूत पास से ही गुजरते थे--किसी को लेने जा रहे होंगे--सोचा कि बूढ़ा बड़े हृदय से कातर होकर पुकार रहा है, तो यमदूत आ गये। उन्होंने उसके कंधे पर हाथ रखा और बोले क्या भाई, क्या काम है? बूढ़े ने देखा, मौत सामने खड़ी है, प्राण कंप गये! कई दफे जिंदगी में बुलायी थी मौत--बुलाने का एक मजा है, जब तक आए न। अब मौत सामने खड़ी थी तो प्राण कंप गये, भूल ही गया मरने इत्यादि की बातें। बोला, कुछ नहीं, और कुछ नहीं, गट्ठर मेरा नीचे गिर गया है। यहां कोई उठाने वाला न दिखा इसलिए आपको बुलाया, जरा उठा दें और नमस्कार, कोई आने की जरूरत नहीं है! और ऐसे तो हम जिंदगीभर कहते रहे, मुझे मरना नहीं है। यह सिर्फ गट्ठर मेरा उठाकर मेरे सिर पर रख दें।
जिस गट्ठर से परेशान था, उसी को यमदूत से उठवाकर सिर पर रख लिया। उस दिन उस बूढ़े की पुलक देखते जब वह घर की तरफ आया! जवान हो गया था फिर से, बड़ा प्रसन्न था। बड़ा प्रसन्न था कि बच गये मौत से।
मौत के क्षण में जीवेषणा प्रगाढ़ हो जाती है।
ईश्वर भाई ने पूछा कि "मां पचास वर्षों से जैन-साधना करती थी।"
अब यह भी सोचना चाहिए कि जो पचास साल से जैन-साधना चलती थी, वह भी किसलिए चलती थी? वह भी जीवेषणा हो सकती है। होगी ही, तभी तो मौत के क्षण में जीवेषणा प्रगाढ़ हो गयी। आदमी धर्म की साधना भी किसलिए करता है, इसलिए करता है कि और बड़ा जीवन मिले, और अच्छा जीवन मिले, स्वर्ग का जीवन मिले। मगर है जीवेषणा।
तुम्हारे तथाकथित मुनि और तुम्हारे तथाकथित साधु-संन्यासी और महात्मा, अगर तुम उनके भीतर गौर से झांककर देखोगे तो तुमसे ज्यादा लोभी हैं। तुम तो क्षणभंगुर में अपना किसी तरह गुजारे ले रहे हो, मगर वे शाश्वत की मांग कर रहे हैं। वे कहते हैं, क्षणभंगुर से हमारी तृप्ति नहीं है, हमें तो शाश्वत मिलेगा तो हम तृप्त होंगे। क्या रखा है इन मकानों में मिट्टी- पत्थर के! हमें तो स्वर्ग के मकान चाहिए, सोने-चांदी के। क्या रखा है इस संसार के मोह में! हमें तो स्वर्ग चाहिए, वैकुंठ चाहिए, हमें तो स्वर्ग-सुख चाहिए, हमें तो कल्पतरु चाहिए जिनके नीचे बैठें और वासनाएं तृप्त हो जाएं।

तुम्हारे सारे शास्त्र जीवेषणाओं से भरे हैं। तुम्हारी सारी प्रार्थनाएं जीवेषणाओं से भरी हैं। तुम वेद और कुरान को उठाकर देखो, तो तुम यही पाओगे, कि आदमी यहां भी मांग रहा है, वहां भी मांग रहा है। और तुम्हारे मुनि, साधु, संन्यासी तुम्हें क्या समझा रहे हैं? वे यही समझा रहे हैं कि तुम यहां व्यर्थ समय खराब मत करो, इसी समय को ठीक से लगा दो, तो बड़ा सुखद जीवन मिल सकता है--परलोक में।
तो ईश्वर भाई कहते हैं कि "मेरी मां पचास वर्षों से जैन-साधना नियमित रूप से करती है।"
उस साधना में भी और अच्छे जीवन को पाने की वासना रही होगी। वह साधना जीवेषणा से मुक्त कराने वाली साधना नहीं है। जीवेषणा को और अच्छे तल पर स्थापित कराने वाली साधना है। मैं साधक उसे कहता हूं, जो जीवेषणा की व्यर्थता समझने की चेष्टा करता है।
फर्क समझ लेना। एक आदमी इस जीवन से ऊब गया है तो कोई दूसरे जीवन की मांग कर रहा है, लेकिन क्या फर्क पड़ता है? यहां से ऊब गया तो वहां जीवन मांग रहा है, कोई फर्क नहीं पड़ता, कोई भेद नहीं है। मरते वक्त कसौटी हो जाएगी। मरते वक्त सब साफ हो जाएगा।
तो पचास वर्ष से जो जैन-साधना की थी, उसकी अब चरम कसौटी है। अब मां बूढ़ी हो गयी, बिस्तर पर पड़ी है, अब उठ नहीं सकती है, बैठ नहीं सकती, अब मौत करीब है और अब तुम पाओगे कि वह जीवन को बड़े कसकर पकड़ रही है। शायद साधारण व्यक्ति से भी ज्यादा कसकर पकड़ेगी। क्योंकि पचास साल साधना में जितना जीवन गंवाया, वह भी बदला लेगा। पचास साल व्रत-उपवास किये, वह भी बदला लेगा। पचास साल तक तो कभी ठीक से भोगा नहीं, जब नाचना था तब मंदिर गये, जब भोगना था तब शास्त्र पढ़ा, वह जो पचास साल तक चूके, अब मौत सामने खड़ी है, अब यह मौत कंपा रही है, अब भरोसा नहीं आता कि इस मौत के पार कुछ भी है। अब संदेह पैदा होता है। संदेह होगा ही। मौत जीवन के आखिरी कोने को छू लेती है और डांवाडोल कर देती है, सब श्रद्धाएं और विश्वास ऊपर-ऊपर हैं, उखड़ जाते हैं, भीतर का संदेह सामने आ जाता है। अब डर लगता है कि कहीं मैंने जीवन व्यर्थ तो नहीं गंवा दिया।
एक बहुत बड़े साधु थे, महात्मा भगवानदीन। मरते समय मैं उनके पास मौजूद था। मैं चकित हुआ! मेरी तो तब कोई उम्र न थी, वे मरणासन्न थे, मैं उनके पास गया था, उनसे मेरा लगाव था। मरने के पहले बड़े खांसी का जोर से आक्रमण हुआ। दमे की बीमारी थी, हड्डी-हड्डी हो गये थे। जैसे ही आक्रमण खांसी का बंद हुआ, उन्होंने आंख खोली--आखिरी ज्योति, वह मैं देख सका उनकी आंख में, दीया आखिरी है, बुझता है, अब बुझा, तब बुझा--वह कुछ कहना चाहते हैं; तो मैं उनके पास सरक आया। मैंने कहा, आप कुछ कहना चाहते हों तो कह दें; कुछ करना हो, कोई बात हो, तो आप बात दें। उन्होंने कहा, इतना ही कहना है कि मेरा जीवन व्यर्थ गया। जो मैंने साधनाएं कीं और जो मैंने तपश्चर्याएं कीं, वे सब व्यर्थ गयीं। न कोई आत्मा है और न कोई परमात्मा है। ऐसा कहकर वे मर गये। बड़े दुखी मरे। बड़े परेशान मरे। जैन थे। और बड़ी उनकी प्रसिद्धि थी, महात्मा गांधी ने उनको महात्मा की उपाधि दी थी--महात्मा भगवानदीन। महात्मा गांधी ने किसी को कभी महात्मा नहीं कहा, सिवाय भगवानदीन के।
यह मामला क्या हुआ! अब मेरी कठिनाई यह है कि मेरे पास कोई गवाही भी नहीं है, क्योंकि मैं अकेला ही था वहां मौजूद। लेकिन उनका चित्र मेरे मन से कभी भूला नहीं। यह जीवनभर की पीड़ा उन्होंने कह दी। जीवनभर अपने को सताया था, सब तरह से सताया था, सब तरह से अपने को गलाया था, उस सबने बदला ले लिया है। मौत सामने खड़ी है, सब अस्तव्यस्त हो गया, सब बनाया हुआ घर गिर गया। वह मुझसे अपना आखिरी वक्तव्य कह गये। यह उनका टेस्टामेंट है। मगर यह टेस्टामेंट उनके संबंध में नहीं है, यह टेस्टामेंट उन्होंने जो जिंदगीभर अपने को सताने की प्रक्रिया की, उसके संबंध में है।
ठीक वैसी ही दशा में ईश्वर भाई की मां होंगी। जीवेषणा के कारण ही हम
सब साधनाएं करते रहते हैं। और असली साधना एक ही है, वह है--समझ। समझने की कोशिश करो, कुछ करना नहीं है। न उपवास करना है, न शरीर को गलाना है, न सताना है, न नंगे खड़े होना है, न धूप-ताप सहनी है, यह सब व्यर्थ की बातों में कुछ

सार नहीं है। यह दुष्टता अपने पर बंद करो। इतना ही समझने की कोशिश करो कि यह जीवन क्या है, और यह मेरे भीतर जो जीवन की इतनी प्रगाढ़ वासना है, यह क्या है, इस पर ध्यान करो। नयी वासना मत करो स्वर्ग की, क्योंकि नये नाम से पुरानी ही वासना चलेगी। तुम तो पुरानी ही वासना को ठीक से समझ लो कि वासना क्या है? जब तुम वासना का ठीक साक्षात्कार करोगे, वासना गिर जाती है। वासना को देखने में ही दिख जाता है कि वासना में सिवाय दुख के बीजों के और कुछ भी नहीं है। वासना गिर गयी, उस दशा का नाम मोक्ष है।
अब तुम फर्क समझ लेना। मोक्ष की कोई वासना नहीं होती। वासना के गिर जाने के बाद जो चित्त की मुक्त दशा होती है, उसका नाम मोक्ष है। निर्वाण को कोई चाह नहीं सकता। क्योंकि तुम जो भी चाहोगे वह संसार हो जाएगा। चाह मात्र संसार की निर्मात्री है।
तो ईश्वर भाई की मां चाहती रही होंगी--आमतौर से यही हो रहा है, इस तथाकथित धार्मिक देश में यही हो रहा है, लोग चाह रहे हैं। और लोग बड़ी योजना बना रहे हैं। और लोग यह भी मन-मन में हिसाब लगा रहे हैं कि देखो, हमने इतने सुख नहीं भोगे, हमें इसका बदला खूब मिलेगा, अच्छा मिलेगा, पुरस्कार मिलेगा। लोग अपने को दंड दे रहे हैं और प्रतीक्षा कर रहे हैं कि हमारे खाते-बही में इतना पुण्य लिखा जा चुका। बड़ी आतुरता से, उत्सुकता से राह देख रहे हैं कि कब द्वार खुले ईश्वर का, कब परमात्मा के घर पहुंचें; स्वर्ग कहो, मोक्ष कहो, जो भी तुम्हें नाम देना हो, कब वहां पहुंचें कि अपनी फेहरिश्त रख देंगे निकालकर--इतने व्रत किये, इतने उपवास किये, इतने मंत्र पढ़े, इतना नमोकार की जाप की, इतना-इतना-इतना, सारी फेहरिश्त निकालकर रख देंगे कि लाओ बदला।
यह नयी वासना हो गयी। यह शराब पुरानी रही, बोतल नयी है। बोतल बदलने से कुछ भी न होगा। पहले संसार की मांग करते थे, अब स्वर्ग की मांग करने लगे; पहले यहां सुख चाहते थे, अब वहां सुख चाहने लगे, मगर कुछ भेद न हुआ, कोई चित्त की क्रांति न हुई। चित्त की क्रांति तो एक ही बात से होती है कि तुम वासना का स्वभाव समझो। चाह मात्र दुख लाती है--चाह मात्र। मुझे दोहराने दो, चाह मात्र दुख लाती है। मोक्ष की चाह भी दुख लाती है। चाह का स्वभाव दुख लाना है। इसलिए चाह को समझकर चाह से मुक्त हो जाना है। मोक्ष की कोई कामना नहीं होती। कामनारहितता मोक्ष का द्वार है।
मगर यह कठिनाई ईश्वर भाई की मां के लिए ही हो, ऐसा नहीं, इस देश में करोड़ों लोगों की है, तथाकथित धार्मिक लोगों की। फिर मौत के समय अड़चन आती है। फिर मौत के समय सारा जीवन बदला मांगता है, प्रतिशोध मांगता है। मौत के समय बहुत हाथ-पैर कंपने लगते हैं--यह तो मौत आ गयी। सुख तो कुछ मिला नहीं, यह सुख तो गया; यह संसार गया और दूसरे संसार का अब कुछ भरोसा नहीं आता। क्योंकि उस भरोसे के लिए भी जो बल चाहिए वह भी मौत तोड़ने लगती है। जवान आदमी को भरोसा होता है।
एक युवक मेरे पास लाया गया। दिल्ली की बात है। जिनके घर मैं मेहमान था, उनको उस युवक के प्रति बड़ा लगाव था। उस युवक ने कहा कि मैं ब्रह्मचर्य की साधना कर रहा हूं। बस किसी तरह दस साल और गुजर जाएं--तब उसकी उम्र पैंतीस साल थी--दस साल और गुजर जाएं तो फिर मैं छुटकारा पा जाऊंगा। बस एक दफा पैंतालीस साल के पार हो जाऊं! तो मैंने उससे कहा, सुन, पैंतालीस साल के बाद ही असली झंझट आनी शुरू होती है। जो तुम्हारे तथाकथित ब्रह्मचारी हैं, अगर पतित होते हैं, तो पैंतालीस साल के बाद पतित होते हैं। वह कहने लगा, यह कैसी बात! क्योंकि मेरे गुरु ने तो यह कहा कि अभी जवानी है तो जोश है वासना का, बस एक दफा जवानी का जोश चला जाए--कुछ दिन और गुजार ले, एक दफा जवानी का जोश चला गया तो फिर वासना में बल नहीं रह जाएगा। मैंने कहा, वह तो मैं समझा, लेकिन इस कामवासना को दबाने में भी जवानी ही हाथ बंटा रही है, जवानी की ही ताकत काम आ रही है। जब जवानी की ताकत खो जाएगी तो दबाने वाला भी कमजोर हो जाएगा; पैंतालीस साल के बाद तुझे पता चलेगा। जब दबाने वाला भी कमजोर हो जाएगा, तब जन्मभर की दबाई हुई वासनाएं पूरी तरह से विस्फोट लेंगी।
उसने मेरी बात नहीं सुनी। दस साल बाद मेरे पास आया और उसने कहा, आप ठीक कहते थे, आपने तो बिल्कुल तारीख, पैंतालीस साल क्या मेरा भाग्य का निर्णय

कर दिया। यही हो रहा है। अब मैं कमजोर हो गया हूं और अब कमजोर होने में ऐसा लगता है कि अब थोड़े दिन और बचे हैं, कहीं ऐसा न हो कि यही संसार सब कुछ है, और मैं यहां भी चूका और वहां का कुछ पता नहीं कि है भी या नहीं!
दूसरे संसार का तुम्हें पता कहां है! तो न रहे घर के न घाट के, अब वासना बड़ी प्रबल हो गयी है और उसने कहा कि अब मैं नहीं दबा पाता। तब मैं दबा पाता था, आप ठीक कहते थे, मेरे में बल था, ऊर्जा थी।
जिस ऊर्जा से तुम वासना को दबाते थे, वह वासना की ही ऊर्जा है, उसी को तुमने वासना के ऊपर चढ़ा दिया है। अब वासना भी शिथिल होने लगी भीतर, तो ऊर्जा भी शिथिल होने लगी। और जब ऊर्जा शिथिल होने लगी तो जिस वासना को तुमने बीस-पच्चीस या तीस वर्ष तक दबा रखा है, वह बदला लेगी, जैसे दबाया हुआ स्प्रिंग खुल जाए, उठ जाए। दबी बातें बलशाली हो जाती हैं।
तो ईश्वर भाई की मां के साथ वही हुआ है--पचास वर्षों की जैन-साधना! अब मौत द्वार पर खड़ी है, अब मोक्ष दिखायी नहीं पड़ता। अब वह सपने देखने की क्षमता भी नहीं रही। अब तो मौत दिखायी पड़ती है। इधर गया हुआ जीवन दिखायी पड़ता है, जिसको ऐसे ही गंवा दिया, कभी भोगा नहीं, इस अकड़ में रहे कि क्षणभंगुर को क्या भोगें; कभी ठीक से खाया नहीं, कभी ठीक से पहना नहीं, कभी ठीक से राग-रंग नहीं किया, इस सबको उस आशा में बिता दिया और यह खड़ी मौत, और मौत के पार कुछ है, अब यह पक्का नहीं होता। अब कौन पक्का दिलाए, कौन भरोसा दिलाए! तो जीवेषणा बहुत जोर से उठेगी।
मेरी प्रक्रिया मूलतः भिन्न है। इसलिए मैं तुमसे कहता हूं, वासना से भागना मत, वासना को दबाना मत, वासना को जीना--समग्रता से जीना। इस जीवन के अवसर को छोड़ना नहीं, इस जीवन के अवसर में जितने गहरे उतर सको उतर जाना। एक ही बात ख्याल रखना, जागरूक रहना और देखते रहना कि इस जीवन में कितने ही गहरे उतरो, कुछ मिलता है कि नहीं मिलता?
मैं तुमसे उपवास करने को नहीं कहता, मैं कहता हूं, जितना स्वाद ले सको भोजन का, लेना। लेकिन स्वाद ले-लेकर बार-बार जागकर देखना, मिला क्या? पानी पर बबूला उठा और मिट गया। जितनी कामवासना में उतरना हो उतर जाना, लेकिन हर बार कामवासना को ध्यान बना लेना, उतरते वक्त देखना कि मिल क्या रहा है? और मैं तुमसे यह नहीं कह रहा हूं कि तुम कहो कि कुछ नहीं मिल रहा है। ख्याल रखना, वह तुमने कहा तो गड़बड़ हो गयी, तुमने दमन शुरू कर दिया। मैं तुमसे यह नहीं कह रहा हूं कि तुम दोहराना कि क्या रखा है, यहां कुछ भी नहीं मिल रहा है! मैं यह कह ही नहीं रहा। मैं यह कह रहा हूं, तुम गौर से देखना, कुछ मिल रहा है? कौन जाने मिलता हो! मिलता हो तो ठीक। और भय क्या है?
लेकिन कभी यहां, किसी को कभी कुछ नहीं मिला। इसलिए अगर तुमने गौर से देखा तो तुम पा ही लोगे, सब राख है। यह जो राख की अनुभूति है, यह सारे जीवन पर तुम्हारे राख का जो अनुभव होगा, यही तुम्हें कह देगा, इस जीवन में कुछ भी नहीं है। फिर मौत आएगी तो तुम डरोगे क्यों? भयभीत क्यों होओगे? जिस जीवन में कुछ था ही नहीं, अगर वह जाने लगा, तो पकड़ने की क्या बात है?
हम पकड़ते इसीलिए हैं कि हम ठीक से देख नहीं पाए कि जीवन में क्या है। मैंने सुना है; एक राजस्थानी लोककथा है। एक लड़का सिर्फ दही ही दही खाता था। सब समझा-बुझाकर हार गये। साधु-संन्यासियों के पास ले जाया गया, उसने एक न मानी। जितना समझाते उतना उसका दही में रस बढ़ता जाता, जो कि बिल्कुल स्वाभाविक है।
करो निषेध, रस बढ़ता है। किसी को कह दो कि इस दरवाजे के भीतर झांककर मत देखना, फिर मुश्किल हो जाती है, फिर झांककर देखना ही पड़ता है। आखिर आदमी आदमी है, उत्सुकता जगती है। जिस चीज को दिखाना हो लोगों को, उसको छिपाना। मगर इस ढंग से छिपाना कि लोगों को पता चल जाए कि तुम छिपा रहे हो, बस फिर लोग आ जाएंगे। तुमने देखा न, जिस फिल्म में सब बच्चों को बुलाना हो, उस पर लिख दो--केवल वयस्कों के लिए। सब चले! छोटी उम्र के लड़के दो आने की मूंछ लगाकर पहुंच जाएंगे। अगर वयस्कों के लिए है तो जाना जरूरी है, जरूर कुछ मामला है। निषेध तो वहीं होता है जहां कुछ हो रहा हो। विज्ञापनदाता लिख देते हैं--पढ़ना मना है, विज्ञापन के ऊपर, कृपा करके इसको मत पढ़िये; फिर आप बिना पढ़े आगे नहीं निकल सकते। कैसे निकलेंगे!

जितना समझाया साधु-संन्यासियों ने, गुरुओं ने कि दही बहुत बुरा है-- उन्होंने बड़े-बड़े आयुर्वेद से उल्लेख किये कि दही के क्या-क्या नुकसान हैं--उतना ही उसका रस दही में बढ़ता गया। आखिर एक बूढ़े आदमी के पास उसे ले जाया गया--रहा होगा बूढ़ा कुछ मेरे जैसा! उसने क्या कहा! उसने कहा--बेटा, दही खाना कभी मत छोड़ना। इसमें बड़े गुण हैं। यह तो लाख दवाओं की दवा है दही।
वह बेटा भी चौंका कि इतने दिन हो गये कभी किसी ने यह नहीं कहा, जिसके पास गये वही दही के खिलाफ था, यह बूढ़ा होश में है! मानता तो वह भी था कि खराब है, क्योंकि तकलीफ तो वह भी भोगता था दही के कारण। सर्दी-जुकाम पकड़े रहता, बुखार आ जाता, अभी जवान था लेकिन फीका होने लगा था, दही मारे डाल रहा था। मगर जितना लोग समझाते थे उतनी ही जिद्द पकड़ती जाती थी, उतना अहंकार भी अकड़ता जाता था।
इस बूढ़े की बात उसने भी जरा चौंककर सुनी। उसने कहा, क्या कह रहे महाराज! दही में बड़े गुण हैं! उसने कहा, अरे लाख दवाओं की दवा है दही, रामबाण समझो। इसे तुम कभी भूलना ही मत, चूकना ही मत, दुनिया कुछ भी कहे, तुम डटे रहना। उसने कहा, तो जरा बताइये क्या गुण हैं? क्योंकि उसने दुर्गुण तो बहुत सुने थे, उसे एक आदमी नहीं मिला था कभी जिसने कोई गुण बताए हों।
तो उस बूढ़े ने कहा, कौन से गुण! गुण ही गुण हैं। जैसे समझो पहला, एक कि दही खाने वाले की कभी चोरी नहीं होती। वह युवक भी चकित हुआ कि यह भी खूब गुण है, दही खाने वाले की चोरी नहीं होती! दो, कि दही खाने वाले की कभी पानी में डूबकर मृत्यु नहीं होती। उसने देखा कि बूढ़ा पागल तो नहीं है। दही से और पानी में डूबने का क्या संबंध! और तीन, कि दही खाने वाले को कभी कुत्ता नहीं काटता। उसने कहा, आप होश में तो हैं, क्या बातें कर रहे हैं, किस शास्त्र में लिखा है, आयुर्वेद में कहां लिखा है? और बूढ़े ने कहा, सुन, और चार, कि दही खाने वाला कभी बूढ़ा नहीं होता। वह युवक तो बोला कि मैंने बहुत ज्ञानी सुने, मगर आप कुछ अलग ही तरह के ज्ञानी हैं! जरा मुझे विस्तार से समझाइये।
यह सुनकर उस बूढ़े ने कहा, सुनो, पहले तो बिल्कुल साफ है, सारी बात साफ है। दही खाने वाला रातभर खांसता है, चोर उसके घर में घुस कैसे सकते हैं? इसलिए दही खाने वाले की कभी चोरी नहीं होती। दही खाने वाला सर्दी से इतना पीड़ित रहता है कि पानी के पास जाने से डरता है, नदी में डूबकर मरेगा कैसे? और दही खाने वाला इतना कमजोर हो जाता है कि लाठी टेक-टेककर चलता है, कुत्ता उसको काटेगा कैसे? और दही खाने वाला जवानी में मर जाता है, बूढ़ा होगा कैसे? तू बेटा खूब दही खा!
कहते हैं, उसी दिन उस युवक का दही खाना छूट गया।
मैं भी तुमसे यही कहता हूं, खूब दही खाओ। न तुम्हारी चोरी होगी, न कुत्ता तुम्हें काटेगा, न पानी में डूबकर मरोगे, न तुम बूढ़े होओगे।
वासना से छूटने का एक ही उपाय है कि वासना की पीड़ाओं को ठीक से जान लो।
और वासना की पीड़ाओं को जानने का एक ही मार्ग है कि तुम वासना में बोधपूर्वक उतरो। इसलिए मैं तुमसे कहता हूं, वासना से लड़ो मत, भागो मत, जागो। जिस दिन वासना की व्यर्थता साफ हो जाएगी, उस दिन यह सारा जीवन व्यर्थ हो गया। फिर मौत द्वार पर आएगी तो तुम मौत को धन्यवाद दे सकोगे; शिकायत क्या है! मौत तुम्हें मुक्त कर रही है उस सब उपद्रव से जो चल रहा था। मौत तुमसे छीन ही नहीं रही है कुछ, क्योंकि तुम्हारे हाथ में कुछ था ही नहीं। तब तुम मौत का आलिंगन करोगे, अभिनंदन करोगे। और जो व्यक्ति मृत्यु का अभिनंदन करने में समर्थ हो गया, मौत उसके लिए मोक्ष का द्वार बन जाती है।

तीसरा प्रश्नः संसार में ईश्वर के खोजी इतने कम क्यों हैं?

पहली बात, क्योंकि संसार की खोज पूरी नहीं हो पाती। और जब तक संसार की खोज पूरी न हो जाए, ईश्वर की खोज कैसे शुरू हो? तुम्हारे महात्मा तुम्हारी संसार की खोज पूरी नहीं होने देते, वे तुम्हें अटका रखते हैं। वे तुम्हें

अपने ही जीवन में, अपने जीवन के अनुभव में उतरने नहीं देते। वे तुम्हें कच्चा ही वृक्ष से तोड़ लेते हैं, तुम पक नहीं पाते।
ईश्वर की खोज तो तभी हो सकती है जब संसार बिल्कुल व्यर्थ है, आत्यंतिक रूप से व्यर्थ है, ऐसा बोध गहन हो जाए। जब तुम जान लो कि इस संसार में कुछ भी नहीं है; तभी तो तुम किसी और संसार की खोज पर निकलोगे। जब तक तुम्हारा मन यहां अटका है, जब तक तुम्हें लगता है शायद कुछ हो ही, अभी मैंने पूरा खोजा कहां, अभी मैंने पूरा देखा कहां; अभी बहुत कोने अभी अनखोजे रह गये हैं; अभी बहुत सी गलियां अपरिचित रह गयी हैं, तो तुम ईश्वर को खोजोगे कैसे! ईश्वर की खोज का मौलिक अर्थ इतना ही होता है कि संसार की व्यर्थता प्रमाणित हो गयी। अपने ही अनुभव से प्रमाणित हो गयी। फिर तुम उसे ईश्वर नाम दे सकते हो, या मोक्ष, या निर्वाण, या सत्य, जो भी तुम नाम देना चाहो। लेकिन उसके पहले खोज शुरू नहीं होती।
संसार में ईश्वर के खोजी इतने कम इसलिए हैं कि ईश्वर के नाम पर बहुत धोखा-धड़ी है, और ईश्वर के नाम पर कच्चे लोगों को धर्म की दिशा में निष्णात किया जाता है। ईश्वर के नाम पर लोगों का लोभ उकसाया जाता है। लोभ से मुक्ति नहीं होती, लोभ उकसाया जाता है।
तुम्हें तुम्हारे शास्त्र अधिकतर यही समझाते रहते हैं कि छोड़ दो तो बहुत पाओगे। और जब कोई बहुत पाने के लिए छोड़ता है तो छोड़ता ही नहीं। पाने के लिए छोड़ा तो छोड़ा कहां! एक रुपया छूटा और हजार मिलने वाले हैं तो छूटे कहां! तुमने तो बड़ा सौदा कर लिया, एक रुपया छोड़ा और हजार पाने का इंतजाम कर लिया। तो तुम्हारे लगाव तो वही के वही हैं, तुम बदलते तो रत्तीभर नहीं, तुम्हारा ईश्वर भी तुम्हारे साथ झूठा हो जाता है--तुम झूठे हो, तुम्हारा ईश्वर झूठा हो जाता है। तुम अभी सच्चे नहीं। तुमने अभी इस जीवन का जो अवसर तुम्हें मिला है, इसकी ठीक-ठीक जांच-परख नहीं की।
तो पहली तो बात मैं यह कहता हूं, इसकी ठीक जांच-परख करो; यह अवसर बहुमूल्य है, इसे ऐसे ही मत गंवा दो। इसे फिजूल बातों में मत गंवा देना। किसी ऐरे-गैरे की बातों में मत गंवा देना। यह तुम्हारा जीवन है, इस जीवन को तुम अनुभव करो।
तुम्हें अगर क्रोध उठता है तो क्रोध का अनुभव करो, ताकि क्रोध की पीड़ा साफ हो जाए। इतनी साफ हो जाए कि उसी स्पष्टता के कारण क्रोध करना मुश्किल हो जाए। तुम्हें काम है, तो काम में उतर जाओ, मगर इतने गहरे उतर जाओ कि तुम्हें काम में कुछ भी सार नहीं है, ऐसा सूत्र उपलब्ध हो जाए--जीवंत अनुभव से। तुम्हें धन की दौड़ है, कोई हर्जा नहीं, दौड़ लो, जल्दी कुछ भी नहीं है। अगर तुम बिना धन की दौड़ में गये और महात्मा हो गये तो तुम महात्मा होकर भी धन की दौड़ ही जारी रखोगे। कुछ फर्क न पड़ेगा। अगर तुम्हें राजनीति में रस है तो लड़ ही लो चुनाव, उतर जाओ उसी उपद्रव में, हो ही लो पागल। अगर तुम बीच में ही लौट आए, गये नहीं कि अरे उसमें क्या रखा है, बुद्धिमानों की बात मान ली, उधार बात मान ली कि बुद्धिमान कहते हैं, राजनीति में क्या रखा है और तुम गये नहीं, तुम महात्मा हो जाओगे, लेकिन तुम्हारी जिंदगी राजनीतिज्ञ की ही जिंदगी होगी। तुम बैठ जाओगे आसन लगाकर, लेकिन तुम्हारे भीतर राजनीतिज्ञ मौजूद रहेगा।
जीवन में रूपांतरण अनुभव से आते हैं। भीतर की बदलाहट से आते हैं, बाहर
की बदलाहट से नहीं। धर्म के नाम पर लोगों ने बाहर खूब बदलाहटें कर ली हैं। मैंने सुना है, एक रूसी कथा है। एक कौवा बड़ी तेजी से उड़ता जा रहा था।
एक कोयल ने उसे देखा और पूछा, चाचा, कहां जा रहे हो? पूरब को जा रहा हूं, यहां मेरा रहना दूभर हो गया है, कौवे ने कहा। कोयल ने पूछा, क्यों? कौवे ने कहा, यहां मेरे गायन पर सभी को एतराज है। मैं गाता नहीं, मैंने शुरू गाना नहीं किया कि लोग एतराज करने लगते हैं कि अरे बंद करो, बकवास बंद करो, कांव-कांव बंद करो! यहां गाने की स्वतंत्रता नहीं और सब को मेरे गाने पर एतराज है। कोयल ने पूछा, लेकिन जाने मात्र से तो तुम्हारी समस्या हल नहीं होगी। पूरब जाने से क्या होगा! कौवे ने कहा, क्यों? कौवे ने साश्चर्य पूछा। इसलिए कि जब तक तुम अपनी आवाज नहीं बदलते, पूरब वाले भी तुम्हारे गाने पर

एतराज उठाएंगे। पूरब वाले भी तुम्हारे गाने को इसी तरह नापसंद करेंगे। कुछ फर्क न पड़ेगा। तुम्हारी आवाज, तुम्हारा कंठ बदलना चाहिए।
परिस्थिति बदलने से कुछ नहीं होता, मनःस्थिति बदलनी चाहिए। एक आदमी गृहस्थ था, गृहस्थी से अभी मुक्त तो मन न हुआ था लेकिन संन्यस्त हो गया, अब वह संन्यस्त होकर नयी गृहस्थी बसाएगा। एक आदमी के बेटे-बेटी थे, उनसे छूट गया तो शिष्य-शिष्याओं से उतना ही मोह लगा लेगा; कोई फर्क न पड़ेगा।
मेरे एक मित्र हैं। उनको मकान बनाने का बड़ा शौक है। अपना ही मकान बनवाते हैं ऐसा नहीं, मित्रों के भी मकान बनवाते हैं, वहां भी छाता लिये खड़े रहते थे। धूप हो, वर्षा हो, मगर वह खड़े हैं, उनको मकान बनाने में बड़ा रस। और बड़े कुशल हैं--सस्ते में बनाते हैं, ढंग का बनाते हैं। और शौक से बनाते हैं तो कुछ पैसा भी नहीं लेते।
फिर वह संन्यासी हो गये। आठ-दस साल संन्यासी रहे। एक दफे मैं उनके पास
से गुजरता था तो मैंने कहा जाकर देखूं। मैंने सोचा तो कि लिये होंगे छाता! खड़े होंगे! बड़ा हैरान हुआ, जब मैं पहुंचा वह छाता ही लिये खड़े थे--आश्रम बनवा रहे थे। मैंने उनसे पूछा, फर्क क्या हुआ? उधर तुम अपना मकान बनवाते थे, मित्रों के मकान बनवाते थे, इधर तुम आश्रम बनवा रहे हो। छाता वही का वही है, छाते के नीचे धूप में तुम वही के वही खड़े हुए हो। फर्क कहां हुआ? मकान के लिए उतनी चिंता रखते थे, उतनी अब आश्रम की चिंता हो गयी, चिंता कहां गयी!
कोयल ने ठीक कहा कि चाचा, पूरब जाने से कुछ भी न होगा। लोग वहां भी तुम्हारी कांव-कांव पर इतना ही एतराज उठाएंगे।
हम धर्म के नाम पर ऊपर-ऊपर से बदलाहटें कर लेते हैं, और भीतर का मन वही
का वही। वह भीतर का मन फिर-फिर करके अपने पुराने जाल लौटा लाता है। महात्मा हैं, मगर राजनीति पूरी चलती है। महात्माओं में बड़ी राजनीति चलती है। हालांकि धर्म के नाम पर चलती है। जहर तो राजनीति का, उसके ऊपर धर्म की थोड़ी सी मिठास चढ़ा दी जाती है, बस इतना ही। और यह और भी खतरनाक राजनीति है। ईश्वर के खोजी संसार में इसलिए कम हैं कि ईश्वर के झूठे खोजी बहुत ज्यादा हैं। और ईश्वर के झूठे खोजी होने में बड़ी सुगमता है--कुछ बदलना नहीं पड़ता और बदलने का मजा आ जाता है, धार्मिक होना नहीं पड़ता और धार्मिक होने का रस और अहंकार।
कच्चे लोग वृक्षों से तोड़ लिये गये हैं--कच्चे फल, पके नहीं थे, पकने
का मौका नहीं मिला था। मैं तुमसे कहता हूं, नास्तिक रहना अगर नास्तिकता अभी तुम्हारे लिए स्वाभाविक मालूम पड़ती हो, अभी आस्तिक होने की जरूरत नहीं, फिर अभी घड़ी नहीं आयी, जल्दी क्या है? अभी कच्चे हो, पको। जिस दिन नास्तिकता अपनी ही समझ से गिर जाए और जीवन में स्वीकार का भाव उठे, उसी दिन आस्तिक बनना, उसके पहले मत बन जाना।
नहीं तो झूठा आस्तिक सच्चे नास्तिक से बदतर हालत में हो जाता है। सच्चा नास्तिक कम से कम नास्तिक तो है, सच्चा तो है। कम से कम जो भी उसके भीतर है वही उसके बाहर तो है। अधिकतर लोग भीतर से नास्तिक हैं, बाहर से आस्तिक हैं। मंदिर में जाते हैं, सिर भी झुका आते हैं, मस्जिद में नमाज भी पढ़ आते हैं, और भीतर न नमाज होती है, न सिर झुकता है, न प्रार्थना उठती है। भीतर तो वे जानते हैं--कहां रखा है परमात्मा इत्यादि; मगर ठीक है, औपचारिक है, कर लेने से लाभ रहता है, लोग देख लेते हैं धार्मिक हैं, दुकान अच्छी चलती है। लड़की की शादी करनी है, बेटे को नौकरी लगवानी है, अगर लोगों को पता चल जाए नास्तिक हो, तो लड़के को नौकरी न मिले, लड़की की शादी मुश्किल हो जाए। मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं, आपकी बात बिल्कुल जंचती है, लेकिन अभी लड़की की शादी करनी है, अभी बेटे को नौकरी लगवानी है, अभी जरा ठहरें! आपकी बात बिल्कुल जंचती है, मगर जरा पहले हम निपट लें, नहीं तो झंझट होगी; असुविधा होगी खड़ी। आप जो कहते हैं, ठीक हमें मालूम पड़ता है; और जो हम मानते हैं, वह गलत मालूम पड़ने लगा है। लेकिन अभी हम छोड़ेंगे नहीं, अभी औपचारिकता निभा लेंगे। ऐसे लोग औपचारिक रूप से धार्मिक हैं, दिखावे के लिए धार्मिक हैं। यह एक तरह की सामाजिकता है, इसका कोई धर्म से संबंध नहीं है।

फिर ईश्वर की खोज पर कठिनाइयां हैं। सुगम नहीं है बात। पहाड़ की चढ़ाई है। घाटियों में उतरने जैसा नहीं है। जैसे एक पत्थर को लुढ़का दो चोटी पर से, तो फिर कुछ और नहीं करना पड़ता, एक दफे लुढ़का दिया तो खुद ही लुढ़कता हुआ घाटी तक पहुंच जाता है। लेकिन पत्थर को पहाड़ पर चढ़ाना हो तो लुढ़काने से काम नहीं चलता, खींचना पड़ता है। थक जाओगे, पसीने-पसीने हो जाओगे; जटिल है, दुरूह है, दुर्गम है, खतरनाक है। और जैसे-जैसे ऊंचाई बढ़ेगी वैसे-वैसे मुश्किल होता जाएगा। उतना ही बोझ कठिन होता जाएगा। आखिरी ऊंचाई पर पहुंचने वाले को बड़ा दुस्साहस चाहिए। ईश्वर की खोज कायरों का काम नहीं है। और अक्सर कायर ईश्वरवादी हैं। इसलिए ईश्वर की खोज नहीं हो पा रही है। ईश्वर की खोज दुस्साहसी का काम है। ख्याल रखना, साहसी भी नहीं कह रहा हूं, दुस्साहसी। क्योंकि बहुत कुछ गंवाना पड़ेगा, पाने के लिए गंवाना पड़ता है। बहुत कुछ दांव पर लगाना पड़ेगा। यह सुविधा और सरलता से नहीं हो जाएगा। पूरा जीवन जुआरी की तरह लगाने की जिनकी हिम्मत होती है, वे ही। और अड़चन यह है कि मार्ग कठिन और मंजिल का पक्का नहीं कि कहां होगी, होगी कि नहीं होगी, पूरब होगी कि पश्चिम होगी। पता नहीं कौन ठीक कहता है! बुद्ध ठीक कहते हैं, कि महावीर ठीक कहते हैं, कि कृष्ण, कि क्राइस्ट, हजार विकल्प हैं। और मंजिल बहुत दूर है, कुहासे में छिपी है और रास्ता बड़ा दुर्गम है। चार कदम तक दिखायी पड़ता है, फिर रास्ता अंधेरे में दबा है।
इसलिए जो लोग जीवन की व्यर्थता को पूरी तरह समझ गये हैं और जो जानते हैं कि चाहे ईश्वर न भी हो तो भी खोजने योग्य है, क्योंकि यहां जीवन में तो बैठे रहने से कुछ भी सार नहीं है। यहां जीवन तो व्यर्थ हो ही गया, अब उठ पड़ो और चल पड़ो, अब दांव पर लगाया जा सकता है। खोने को कुछ भी नहीं है, अगर मिला तो ठीक, नहीं मिला तो कुछ भी नहीं खोया। खोने को कुछ था ही नहीं, जीवन को तो देख लिया था, सब पन्ने पढ़कर देख लिये थे।
फिर सत्य की खोज पर बड़ी कसौटियां आती हैं।
मैं एक छोटी सी घटना पढ़ रहा था। ईसाई संत हुई, अपूर्व महिला हुई, टेरेसा। दुनिया में थोड़ी सी महिलाओं ने ऐसी ऊंचाई पायी है--किसी मीरा ने, सहजो ने, दया ने, लल्ला ने--बहुत थोड़ी सी महिलाओं ने। टेरेसा उनमें से एक है। टेरेसा एक बार एक नाले को पार कर रही थी। चूक से उसका पैर फिसल गया और वह बाढ़ आए नाले में डूबते-डूबते बची। पैर में चोट भी खा गयी, मोच भी आ गयी, चमड़ी भी छिल गयी पत्थर पर गिरकर, संभवतः हड्डी भी टूट गयी हो। वह बूढ़ी भी हो गयी थी, किसी प्रकार किनारे लगी और उसने सिर उठाकर ईश्वर से कहा, आकाश की तरफ देखकर कहा, हे प्रभु, मुझसे व्यवहार करने का यह कैसा तुम्हारा ढंग! इज दिस दि वे यू ट्रीट मी! यह कोई बात हुई! एक बूढ़ी औरत को ऐसे गिरा देना बीच नाले में!
सब छोड़ दिया था परमात्मा पर। तो जिन्होंने सब छोड़ा है, वही इस तरह की दिल खोलकर बात भी कर सकते हैं--कि यह कोई बात हुई, यह कोई ढंग हुआ तुम्हारा, यह कोई व्यवहार है! और उत्तर में उसने आकाशवाणी सुनी, कभी-कभी मैं अपने मित्रों के साथ ऐसा व्यवहार भी करता हूं। बट समटाइम्स दिस इज हाऊ आई ट्रीट माई फ्रेंड्स। ईश्वर की आवाज गूंजी कि हां, ऐसा--ऐसा कभी-कभी मैं व्यवहार अपने मित्रों के साथ करता हूं।
शत्रुओं के साथ तो ईश्वर बड़ा दयालु है। क्षमा करने को तैयार है। मित्रों के साथ बहुत कठिन है। कारण है। मित्रों को कसता है। मित्रों के लिए परीक्षा। शत्रुओं को क्या कसना, वे तो वैसे ही भटके हैं, उन पर दया करता है। मित्रों को कसता है, पहुंचने के करीब-करीब हो रहे, घर करीब आ रहा, कसावट बढ़ती जाती है, उनकी परीक्षा लेता है, परीक्षण करता है। सो ईश्वर की आवाज ने कहाः बट समटाइम्स दिस इज हाऊ आई ट्रीट माइ फ्रेंड्स। अपने मित्रों के साथ ऐसा व्यवहार कभी-कभी मैं करता हूं। टेरेसा ने कहा, तब सुन लो, तब कोई आश्चर्य नहीं कि तुम्हारे मित्र इतने थोड़े क्यों हैं! देन नो वंडर यू हैव सो फ्यू आफ देम!
तुम पूछते हो, "ईश्वर के इतने खोजी कम क्यों हैं?" इसीलिए, ईश्वर खूब परीक्षा करता है। मगर टेरेसा जैसी हिम्मत की औरत ही ऐसी बात कह सकती है। तो सुन लो, उसने कहा, फिर इसीलिए बैठे रहते अकेले, संगी-साथी भी नहीं मिलते,

क्योंकि जो मिलते हैं उनको तुम सताते हो उलटा। अब यह बूढ़ी औरत को ऐसे फिसला देना, ऐसे गिरा देना, हड्डी तोड़ देना, यह भी कोई बात हुई! आदमी थोड़ा शिष्टाचार का भी ख्याल रखता है, इसका भी तुम्हें ख्याल नहीं! मगर ये बड़े प्रेम में बातें कही गयीं। बात महत्वपूर्ण है। महत्वपूर्ण यह है कि टेरेसा ने कहा, इसीलिए तुम्हारे मित्र इतने कम हैं। अब मैं जान गयी कि तुम्हारे मित्रों की संख्या कम क्यों है। कसौटी है।
हजार में एक भी ईश्वर का खोजी हो जाए तो बहुत। लाख में एक पहुंच जाए तो बहुत। हजार में एकाध खोज पर निकलता है, लाख में एकाध पहुंचता है।
तुम हजारों में से एक बनो। चुनौती स्वीकार करो। तुम लाख में से एक बनो। क्योंकि उसी अद्वितीय अनुभव से जीवन तृप्त होता है, संतुष्ट होता है। ईश्वर के बिना कोई तृप्ति नहीं है, सत्य के बिना कोई संतोष नहीं है।

चौथा प्रश्नः ओशो, मुझे लगता है कि मैं अब तक आपकी एक बात भी न सुन सका हूं, न समझ सका हूं। और न आपका एक भी उपदेश ग्रहण कर पाया हूं। वर्षों पूर्व आपके साथ प्रथम साक्षात्कार में जो बात आपने कही थी, वह भी समझने को ही पड़ी है। ऐसा क्यों है? मैं इतना मंदमति क्यों हूं?

पूछा है आनंद मैत्रेय ने।
मंदमति नहीं हो, इसीलिए। मंदमति तो सुनकर ही समझते हैं सुन लिया। मंदमति तो सुनकर ही समझते हैं समझ लिया। मंदमति तो शब्द को पकड़ लेते हैं और सोचते हैं सत्य की उपलब्धि हो गयी। मंदमति तो पंडित हो जाते हैं, सुन-सुन कर ज्ञानी हो जाते हैं। शब्दों का कूड़ा-करकट इकट्ठा कर लेते हैं और सोचते हैं, हो गया सब। नहीं मंदमति नहीं हो, इसीलिए।
महाभारत की कथा तुम्हें याद है न! द्रोण पाठ देते हैं अपने विद्यार्थियों को। सब विद्यार्थी पाठ याद कर लाए, सिर्फ युधिष्ठिर नहीं याद कर पाया। उसने कहा, अभी नहीं हुआ याद। एक दिन क्षमा हो गयी, दूसरे दिन क्षमा हो गयी, फिर तो द्रोण चिंतित होने लगे; और यह तो बात उलटी हुई जा रही है। द्रोण ने सोचा था, युधिष्ठिर सबसे ज्यादा बुद्धिमान है। दूसरे भी, दुर्योधन भी याद कर लाया, भीम भी याद कर लाया, जिनमें बुद्धि का कुछ आसार नहीं है, जिन्हें मंदमति होना ही चाहिए--नहीं तो भीम न हो सकेंगे--वह भी याद कर लाए, सिर्फ युधिष्ठिर पिछड़ते जाते हैं।
आखिर द्रोण ने पूछा, बात क्या है? तुझे याद क्यों नहीं होता? युधिष्ठिर ने कहा, याद इसलिए नहीं होता कि जब तक जीवन में न उतरे तब तक याद का मतलब भी क्या! पहला पाठ था, सत्य बोलना चाहिए। वह किताब का पहला पाठ था। उस जमाने की किताबें! बड़े अदभुत लोग रहे होंगे, पहला पाठ, सत्य बोलना चाहिए। युधिष्ठिर ने कहा कि यह तो मुझे भी याद हो गया कि सत्य बोलना चाहिए, मगर इसको याद करने से क्या सार है जब तक यह मेरे जीवन में रच-पच न जाए। मेरी स्मृति में रहे तो उसका क्या सार है, जब तक मेरा बोध न बन जाए। समय लगेगा। आप मुझे क्षमा करें, मैं बहुत मंदबुद्धि हूं।
युधिष्ठिर ही मंदबुद्धि नहीं थे। दूसरे तो याद करके आ गये थे, कि सत्य बोलना चाहिए--इसको याद करना था, तो मंत्र की तरह कंठस्थ कर लाए, आकर दोहरा दिया था, बात खतम हो गयी थी। शायद युधिष्ठिर को जीवनभर लगा उस छोटे से पहले पाठ को पूरा करने में। और मजा यह है कि पहला पाठ पूरा हो गया तो आखिरी भी तो पूरा हो गया! इसलिए मैं कहता हूं, बड़े अदभुत लोग थे। पहला पाठ ऐसा था जो कि आखिरी पाठ भी है।
अब सत्य से और बड़ा पाठ क्या है? बात ही खतम हो गयी वहां। यहां पहला कदम
ही तो आखिरी कदम हो जाता है। जिस दिन युधिष्ठिर ने पहला पाठ याद कर लिया होगा--युधिष्ठिर के ढंग से, कि रोएं-रोएं में पच गया होगा--उस दिन और क्या करने को बचा! सारे शास्त्र पूरे हो गये। सारे आश्वासन पूरे हो गये। यात्रा समाप्त हो गयी।
मैत्रेय ने पूछा है, "मुझे लगता है, अब तक आपकी एक भी बात मैं न सुन सका हूं, न समझ सका हूं।"

शुभ है ऐसा लगना। नहीं कि तुमने सुना नहीं, तुमने सुना--मैत्रेय के कान बिल्कुल ठीक हैं, ध्यान से सुनते हैं--लेकिन सुनने से ही क्या होता है! यह बोध बना रहे तो असली सुनना भी एक दिन हो जाएगा। अगर यह बोध खो गया और सुनकर ही समझ लिया कि सुन लिया, तो फिर कभी बोध की कोई संभावना नहीं है। "और न आपका एक भी उपदेश ग्रहण कर पाया हूं।"
ये उपदेश ऐसे हैं कि रूपांतरण करते हैं जीवन का। यह ग्रहण करने और न ग्रहण करने की बात भी नहीं है। ये तो जीवन और मरण के प्रश्न हैं। ये तो धीरे-धीरे उतरेंगे, आहिस्ता-आहिस्ता उतरेंगे। और जब तक ये उतर न जाएं, तब तक थोथी बातों में पड़ भी मत जाना। यह मत सोचना कि समझ लिया, कर भी लिया, अब तो बात सब समझ में आ गयी, अब तो हम दूसरों को भी समझाने में योग्य हो गये। यहां कुछ हैं जो पंडित हो गये हैं। अब रोज मुझे सुनेंगे तो बच भी कैसे सकते हैं बिना पंडित हुए। सब बातें उन्हें याद हो गयी हैं, वे दूसरों को समझाने लगे हैं। अभी खुद की समझ में आया नहीं, लेकिन ज्ञान का दंभ भी पैदा हो जाता है। मंदमति तो वे हैं जिन्हें ज्ञान का दंभ हो जाता है।
ठीक कहा कि "वर्षों पूर्व आपके साथ प्रथम साक्षात्कार में जो बात आपने कही थी, वह भी समझने को ही पड़ी है।"
जो समझने को निश्चित उत्सुक हुआ है, वह पहली बात भी समझना मुश्किल है। पहला पाठ भी समझना मुश्किल है। और पहला पाठ पूरा हो गया तो सब शास्त्र पूरा हो गया।
"ऐसा क्यों है? मैं इतना मंदमति क्यों हूं?"
यह प्रश्न भी इसलिए उठता है कि मंदमति नहीं हो। मंदमति कभी नहीं सोचता कि मैं मंदमति हूं। तुमने कभी किसी पागल को सुना है कहते कि मैं पागल हूं? पागल तो जिद्द करता है, कौन कहता है मैं पागल हूं? पागल तो लड़ने- झगड़ने को तैयार रहता है। मैं और पागल! सारी दुनिया होगी पागल। मंदबुद्धि तो सारी दुनिया को मंदबुद्धि कहता है, अपने को छोड़कर। बुद्धिमान ही अपने को मंदबुद्धि स्वीकार करते हैं। यह बुद्धिमानी का लक्षण है।
यह ज्ञान का पहला चरण है, यह पहली किरण है। इस किरण को सम्हालो। इसी किरण के सहारे एक दिन अनंत की यात्रा हो जाती है।

आखिरी प्रश्नः आपने कहा कि आलस्य से भी मार्ग है। वह कैसे? मैं भी आलसी हूं, कृपाकर थोड़ा प्रकाश डालें।

मैं तो सोचता था कि शीला ही एक दास मलूका है। कोई और भी हैं! वस्तुतः बहुत होंगे। शीला का परिवार बड़ा होगा।
लेकिन ख्याल लेने की बात है, अगर सच में ही तुम आलसी हो, तो आलस्य से भी मार्ग मिल जाएगा। मगर ध्यान यह रहे कि सच में तुम आलसी हो?
ऐसा हुआ जापान में। एक सम्राट बहुत आलसी था। और स्वभावतः उसे लगा कि मैं तो सम्राट हूं, आलसी हूं, कुछ अड़चन नहीं आती, जो दीन हैं और दरिद्र हैं और आलसी हैं, उनको बड़ी मुश्किल आती होगी। उसने सोचा कि अगर मैं सम्राट न होता तो मैं कितनी मुश्किलों में पड़ता, न मैं कमाता, न कमा सकता हूं--उठता ही नहीं था अपने बिस्तर से, अक्सर तो आंखें ही बंद किये पड़ा रहता था। भोजन कर लिया, फिर सो गया। फिर उठ गया, फिर भोजन कर लिया, फिर सो गया। तो उसने सोचा, मैं तो सम्राट हूं, ठीक है--ऐसा पड़े-पड़े याद आयी होगी कि और भी होंगे आलसी इस देश में, उन बिचारों पर क्या बीतती होगी! उनको तो काम करना ही पड़ता होगा। तो उसने सोचा कि जब ऐसा मौका आया है कि एक आलसी सम्राट हो गया है तो और आलसियों को भी राज्य की तरफ से सुविधा मिलनी चाहिए। स्वाभाविक। उसने अपने वजीरों को बुलाकर कहा कि खोज की जाए, जो भी आलसी हों, सबको राज्याश्रय दिया जाए।
जापान में डुंडी पीट दी गयी कि जो भी आलसी हों, उनको राज्याश्रय मिलेगा। कतारबद्ध लोग आने लगे। एक-दो नहीं, हजारों आने लगे। वजीर तो बहुत घबड़ाए, उन्होंने कहा, इतनों को राज्याश्रय देंगे तो खजाना खाली हो जाएगा। इनको अगर राज्याश्रय दिया तो थोड़े दिन में राजा भी निराश्रित हो जाएंगे।
यह तो मामला खतरा है। तो उन्होंने सम्राट से कहा कि यह तो बड़ी अड़चन की बात

है, इतने लोगों को राज्याश्रय दिया नहीं जा सकता, यह तो ऐसा लगता है कि सभी चले आ रहे हैं। कौन चूके यह मौका! अगर सिर्फ यही कहने से कि मैं आलसी हूं और राज्य का आश्रय मिलता हो, तो कौन चूकेगा! जो कर्मठ थे वे भी चले आ रहे हैं। तो सम्राट ने कहा, कुछ उपाय करो। वजीरों ने कहा, उपाय हम करेंगे, आपकी आज्ञा चाहिए।
जो-जो लोग आए थे--हजारों की संख्या थी--उनके लिए घास के झोपड़े बनवा दिये राजमहल की भूमि पर और उनसे कहा, सब ठहर जाओ। परीक्षा होगी, परीक्षा से जब तय हो जाएगा कौन आलसी है, उसको ही राज्याश्रय मिलेगा। और आधी रात में आग लगवा दी। घास-फूस के झोपड़े थे, भभककर जल उठे। भागे लोग निकलकर। सिर्फ चार आदमी न भागे। वे चार तो अपना कंबल ओढ़कर सो गये। लोगों ने उनसे कहा भी कि भागो, आग लगी है! उन्होंने कहा, जाओ भी, नींद खराब न करो!
उन चार को वजीरों ने चुना कि ये आलसी हैं। बाकी को तो भगा दिया, निकाल बाहर किया कि तुम भागो, यह कोई आलसी होने की बात हुई! आग लगी देखी तो भाग खड़े हुए! ये हैं आलसी। इन्होंने और कंबल ओढ़ लिया। इन्होंने कहा, भई, अब गड़बड़ न करो, अभी नींद में बीच रात खराब न करो। अब लगी है तो लगी रहने दो, अगर किसी को निकालना हो तो निकाल लो, खींच लो। उनको खींचकर निकालना पड़ा, दूसरों को निकालना पड़ा, वे अपने सोये ही रहे।
शीला तो निश्चित आलसी है। अभी भी सो रही होगी। ज्यादातर सोती है, जब मैं बोलता हूं तब वह सोती। मगर उसको मैंने आज्ञा दी है कि सो सकती है। चलो सोये-सोये सही, तरंगें तो पड़ेंगी, कुछ हवा से तो मिलेगा, कुछ सुगंध तो मेरी पहुंचेगी, सोये-सोये सही!
तो पहली बात ख्याल रखने की जरूरत है कि अगर तुम सच में ही आलसी हो तो आलस्य से भी मार्ग है। मगर अगर सच में नहीं हो तो मार्ग नहीं है। तुम जो सच में हो, वहीं से मार्ग है, क्योंकि सच से सच का मार्ग है। इसको ख्याल में रख लेना। अगर तुम कर्मठ व्यक्ति हो तो आलस्य तो तुम्हारे लिए मार्ग नहीं होगा। तब तुम्हें कुछ कर्म का ही मार्ग चुनना पड़ेगा।
कर्म के मार्ग का अर्थ होता है, तुम कर्म को ही अर्पित कर सकोगे परमात्मा को; तुम कुछ करोगे, तो ही अर्पित कर सकोगे। तुम बिना किये तो परमात्मा से दूर पड़ते जाओगे। तुम करके ही प्रसन्न होओगे। तुम्हारी प्रसन्नता ही तो अर्पित करोगे! अगर कर्मठ व्यक्ति को बिठा दो एक कोने में, जबर्दस्ती आलस्य का आरोपण कर दो उस पर, तो वह बेचैन हो जाएगा, उदास हो जाएगा।
तुमने देखा न, छोटे बच्चों को अगर जबर्दस्ती बिठा दो एक कोने में कि चलो शांत बैठो, पिताजी पूजा कर रहे हैं, कि माताजी प्रार्थना कर रही हैं, शांत बैठो। तो बच्चा बैठता भी है तो भी कसमसाता है, निकल भागना चाहता है बाहर, किसी तरह ऊधम करना चाहता है, कुछ कर गुजरे; उदास होने लगता है।
यह दुनिया इतनी उदास है, इसका एक मौलिक कारण यह है कि हम बच्चों को स्कूलों में पांच-छह घंटे बिठा रखते हैं। उनके जीवन के सारे रस को हम सुखा डालते हैं। और जब तक रस नहीं सूख जाता है तब तक हम उन्हें विश्वविद्यालय से बाहर नहीं निकलने देते। बीस-पच्चीस साल--एक तिहाई उम्र, पच्चीस साल में व्यक्ति एम.ए. होकर बाहर निकलेगा विश्वविद्यालय से, एक तिहाई उम्र--जब कि जीवन उत्सव का था, नाच का था, गीत का था, दौड़ने का था, कूदने का था, तैरने का था, तब उनको बिठा दिया स्कूलों में। स्कूल बिल्कुल कारागृह जैसे हैं! तुमने देखा न, जेल भी लाल रंग से रंगे जाते हैं और स्कूल भी। वे जेल ही हैं। और छह-छह, सात-सात घंटे विद्यार्थी बैठे हैं, और मास्टर डंडा लिये खड़ा है, हिलने-डुलने नहीं देता, ध्यान लगाओ, उठो-बैठो नहीं--पच्चीस साल! मार डालते तुम जीवन की ऊर्जा को। फिर निकलते हैं मुर्दा लोग, फिर इन मुर्दा लोगों से समाज भर जाता है। और ये मुर्दा लोग अपने बच्चों को भेजने लगते हैं, क्योंकि जब ये मुर्दा हो गये तो ये फिर किसी को क्षमा नहीं कर सकते, ये भी मुर्दा करके रहेंगे।
दुनिया में जब तक नये ढंग के स्कूल न होंगे तब तक दुनिया में प्रसन्नता नहीं हो सकती। अभी तो व्यवस्था बहुत खराब है। अभी तो व्यवस्था

रुग्ण है। छोटे बच्चे को बिठा देते हो जबर्दस्ती, वह परेशान हो जाता है, उसकी प्रसन्नता छिन जाती है।
ऐसा ही कर्मठ व्यक्ति है। और दुनिया में कर्मठ व्यक्तियों का बाहुल्य है। शायद नब्बे प्रतिशत लोग कर्मठ हैं। नब्बे प्रतिशत लोगों को आलस्य का मार्ग नहीं जमेगा। मगर वे जो दस प्रतिशत लोग हैं, उनको कर्म का मार्ग नहीं जमेगा। और मेरा कहना है, किसी को किसी दूसरे के मार्ग के जमने की जरूरत ही नहीं है।
यह छोटी सी कहानी सुनो--
एक सूफी दरवेश टाइगरिस नदी में गिर पड़ा। किनारे से एक आदमी ने उसे देखा कि वह तैर नहीं सकता है। उसने उससे पूछा कि क्या वह किसी आदमी को बुलाए जो उसे बचाकर किनारे ला दे? उस दरवेश ने कहा, नहीं। फिर उस आदमी ने पूछा, तब क्या वह डूब जाना चाहता है? उस दरवेश ने कहा, नहीं। इस पर उस आदमी ने पूछा, आखिर वह चाहता क्या है? दरवेश ने जवाब दिया, जो परमात्मा चाहता है। उसे स्वयं चाहने से मतलब ही क्या है!
यह आदमी परम आलसी रहा होगा, जिसको अष्टावक्र कहते हैं, आलस्य-शिरोमणि। परम आलसी रहा होगा। यह कहता है, मुझे चाहने से मतलब ही क्या है! उसे बचाना होगा तो बचा लेगा, उसे ले जाना होगा तो ले जाएगा। उसकी मर्जी आए, उसकी मर्जी चले। न अपनी मर्जी आए, न अपनी मर्जी चले, बात ही क्या है करने की! वह तैर भी नहीं रहा है, वह नदी में गिर पड़ा है और वह प्रतीक्षा कर रहा है--परमात्मा जो करे!
जरा इस साधक की दृष्टि समझोगे। जरा इसका भाव समझोगे। इसका भाव बड़ा अदभुत है। यह कह रहा है, उसे बचाना होगा तो बचा लेगा। और नहीं उसे बचाना है, तो मेरे बचाए-बचाए भी कैसे बच पाऊंगा! इसलिए मैं व्यर्थ बीच में बाधा क्यों डालूं? जैसी उसकी मर्जी! उसकी मर्जी पूरी हो!

यह कर्मशून्यता की भावदशा है। इसको अष्टावक्र ने बड़ा ऊंचा माना है। इसको परम अवस्था कहा है। कहा है, कर्ता तो परमात्मा है। हम कर्ता बन जाते हैं, इससे सिर्फ अहंकार पैदा होता है। लेकिन अष्टावक्र की बात थोड़े से ही लोगों के काम की है, जो अकर्ता बनने में समर्थ हैं।
अब फर्क समझ लेना कृष्ण और अष्टावक्र की गीता का। कृष्ण की गीता उन लोगों के लिए है जो कर्मठ हैं। कृष्ण की गीता ठीक उलटी है अष्टावक्र की गीता से। कृष्ण की गीता कहती है, कर्म करो और कर्म में आसक्ति मत रखो, फलाकांक्षा मत रखो, लेकिन कर्म करो। अर्जुन भागना चाहता था। अगर अर्जुन को अष्टावक्र मिल गये होते तो अष्टावक्र कहते, बिल्कुल ठीक, प्यारे, जल्दी भाग! परम आलसी हो जा। करना क्या है? करना-धरना उसका काम है, हम बीच में पड़ें क्यों? मगर अर्जुन भागना चाहता था और कृष्ण ने उसे खींचा और कहा, भाग मत! उसे अटकाया।
लेकिन कृष्ण ने ठीक किया, क्योंकि अर्जुन मूलतः कर्मठ व्यक्ति था, क्षत्रिय था। कर्म के ही लिए तैयार किया गया था। वही उसकी निष्ठा थी, वही उसकी कुशलता थी, वही उसके जीवन की शैली थी। यह अष्टावक्र की बात इसे जम भी नहीं सकती थी। अष्टावक्र अगर इसे चले भी जाने देते, यह जंगल में बैठ भी जाता तो भी बैठ नहीं सकता था। उठा लेता तीर, शिकार करता, लकड़ियां काटता, कुछ न कुछ उपद्रव करता, यह बैठ नहीं सकता था। बैठने की इसकी संभावना नहीं थी, यह क्षत्रिय था, संघर्ष और संकल्प इसका गुण था।
तो कृष्ण ने उसे ठीक वही कहा जो उसके स्वधर्म के अनुकूल था। उससे कहा, स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः। दूसरे के धर्म को पकड़ने में भय है अर्जुन। यह जो तू बातें कह रहा है--संन्यास की, समर्पण की, सब छोड़ देने की, त्याग की, यह तेरा धर्म नहीं है, क्योंकि यह तेरी जीवन-शैली नहीं है। मैं तुझे जानता हूं, तुझे बचपन से जानता हूं, तेरे अंतरतम से जानता हूं, अभी तुझे देख रहा हूं कि तेरे भीतर तो उबाल है, तूफान है, तू आंधी बन सकता है; तू अंधड़ बनेगा तो ही प्रसन्न होगा। और प्रसन्न होगा तो ही परमात्मा को धन्यवाद दे सकेगा। योद्धा तेरे खून में छिपा है, तेरे हड्डी-मांस-मज्जा में बैठा है, तू योद्धा होकर ही प्रभु के चरणों में सिर रख पायेगा। तू अपनी

नियति को इसी तरह पूरा करेगा। यही तेरा भाग्य है। इससे तू भागेगा, बचेगा, तो तू परधर्म में पड़ेगा।
अब ख्याल रखना, परधर्म और स्वधर्म का मतलब यह नहीं होता--हिंदू, मुसलमान, ईसाई, जैन। नहीं, उन दिनों कोई मुसलमान तो थे नहीं भारत में, इसलिए यह तो कोई सवाल ही नहीं था; न कोई ईसाई थे, न कोई यहूदी थे, न कोई पारसी थे। इसलिए कृष्ण ने जब कहा स्वधर्म, परधर्म, तो उनका मतलब साफ है। मतलब इतना ही है कि जो तुम्हारे अनुकूल हो, वह स्वधर्म, जो तुम्हारे प्रतिकूल हो, वह परधर्म।
निश्चित ही, अगर तुम आलसी हो, अगर तुम्हें कर्म करने में कोई रुचि नहीं आती, करने मात्र में तुम्हें कोई रस नहीं आता--अपनी परख करना, अपनी जांच-परख करना, तुम्हें पता चल जाएगा। तुम्हारे जीवन के सुंदर क्षण कब आते हैं, जब तुम कुछ करते हो तब आते हैं, या तुम जब कुछ नहीं करते तब आते हैं, तुम्हारे जीवन के पराकाष्ठा के क्षण कब आते हैं? तुम जब आंख बंद करके बैठे हो तब आते हैं?
एक युवक मेरे पास आया। अमरीका से आया, वह शांत ध्यान करना चाहता था। मैंने उसे देखा, मैंने कहा, नहीं, यह तेरे काम का नहीं, यह परधर्म होगा। मैंने उससे कहा, तू तो एक काम कर, तू रोज सुबह एक घंटा दौड़, दौड़ना तेरा ध्यान है। उसने कहा, आप कहते क्या हैं! आठ साल से मैं यह कर रहा हूं, मैं दौड़ने में बड़ा आनंदित होता हूं। और कभी-कभी दौड़ते-दौड़ते ऐसे क्षण आ जाते हैं, जब न तो मैं देह रह जाता, न मन। आपकी किताबें पढ़कर, आपकी बातें सुनकर मुझे लगा कि और गहरे में उतरना है, इसीलिए तो मैं यहां आया हूं। लेकिन दौड़ना ही आप कहते हैं! मैंने कहा, तेरे लिए यही ठीक होगा।
कोई नाचकर ध्यान को उपलब्ध होता है, कोई शांत बैठकर मूर्तिवत होकर ध्यान को उपलब्ध होता है। ध्यान का कोई संबंध न तो शांत बैठने से है, न नाचने से है। ध्यान का संबंध तुम्हारे स्वभाव की अनुकूलता से है। जब तुम्हारा स्वभाव और तुम्हारा कृत्य अनुकूल होते हैं, दोनों में तालमेल होता है, सामंजस्य होता है, तत्क्षण शांति आ जाती है। तुम्हारे भीतर एक राग बजता है, एक गीत पैदा होता है।
उस युवक ने कहा कि यह मुझे हो रहा है। जब मैं दौड़ता हूं, सुबह की हवाओं में, समुद्र-तट पर पड़ती सूरज की रोशनी में, कभी-कभी मील, दो मील, तीन मील दौड़ने के बाद ऐसी घड़ियां आ जाती हैं जब मुझे न तो देह का पता रहता है, न मन का पता रहता है। बस दौड़ रह जाती है, दौड़ने वाला खो जाता है, तब बड़े शिखर के क्षण मुझे अनुभव होते हैं, बड़ी अदभुत शांति, बड़ा अदभुत आनंद, उत्सव मेरे भीतर पैदा होता है!
अब इस युवक को अगर विपस्सना करने बिठा दिया जाए, या अनापानसती करने बिठा दिया जाए, यह इसके अनुकूल न होगा, यह पगला जाएगा। फिर ऐसे लोग हैं, जैसे अष्टावक्र, इनको अगर दौड़ने को कहा जाए तो संभव नहीं होगा।
तुम अपने स्वभाव को पहचानो।
निश्चित ही आलस्य से भी मार्ग है। लेकिन तब आलस्य को समर्पण बनाना होता है। तब आलस्य को भी रूपांतरित करना होता है। तब आलस्य को अपने अहंकार का विसर्जन बनाना होता है। तब कहना होता है--प्रभु, अब तेरी मर्जी!
बुद्ध का मार्ग आलस्य का मार्ग नहीं है, बुद्ध का मार्ग कर्म का मार्ग है। इसलिए बुद्ध का शब्द जो बुद्ध उपयोग करते हैं, वह है, श्रमण। श्रम का मार्ग है, श्रम से मिलेगी समाधि। अथक श्रम से मिलेगी समाधि। खूब दौड़ना पड़ेगा, तब मंजिल मिलेगी। बुद्ध भी क्षत्रिय थे, इसलिए स्वाभाविक।
अगर तुम आलसी हो, तो ब्राह्मणों की सुनो, क्षत्रियों की मत सुनो। इसलिए ब्राह्मण कहते हैं, प्रसाद से मिलेगा। फर्क समझे? क्षत्रिय कहते हैं, प्रयास से; ब्राह्मण कहते हैं, प्रसाद से। ब्राह्मण कहते हैं, क्या प्रयास करना! उसकी अनुकंपा पर्याप्त है। तुम जरा शांत होकर बैठ जाओ, उसको बरसने दो, वह बरस ही रहा है, तुम जरा द्वार-दरवाजे खोल दो, ब्रह्म बरस ही रहा है, ब्रह्म-वर्षा हो ही रही है, तुम भर जाओगे, कुछ और करना नहीं है। ब्राह्मण-संस्कृति का मौलिक स्वर है, प्रसाद, प्रभुकृपा। और श्रमण-संस्कृति, जैन और बौद्धों का मौलिक स्वर है, प्रयास, श्रमण, श्रम। कुछ करना

होगा। जैन और बौद्ध संस्कृति में ईश्वर को जगह ही नहीं है। कोई जगह की जरूरत भी नहीं है। अपने ही श्रम से मिल जाता है, उसके प्रसाद की कोई आवश्यकता नहीं है। और ब्राह्मण-संस्कृति में मूलतः प्रयास के लिए कोई जगह नहीं है, उसकी कृपा से ही मिलता है। तो तुम उसकी कृपा के योग्य बन जाओ।
अब कृपा के लिए योग्य बनने के लिए क्या करोगे? एक छोटा बच्चा पैदा होता है, वह क्या योग्य, क्या करे? छोटा बच्चा पैदा हुआ है, वह किस तरह से योग्यता अर्जित करे कि मां की उस पर कृपा हो? क्या करेगा? छोटे बच्चे जैसा आदमी है। बच्चा रोने लगता है, मां उसे दूध पिला देती है। ब्राह्मण-संस्कृति कहती है, तुम रोना सीखो। आंसू बहाओ, ताकि परमात्मा तुम्हारी तरफ प्रवाहित होने लगे। जैसे मां बेटे की तरफ जाती है।
पूछा है, "आपने कहा कि आलस्य से भी मार्ग है। वह कैसे? मैं भी आलसी हूं, कृपा कर थोड़ा प्रकाश डालें।"
फिर रोओ, फिर अश्रु बहाओ, फिर शांत बैठो, फिर जो हो होने दो, फिर कहो, प्रभु की मर्जी। जो हो! ध्यान रखना, अच्छा हो तो यह मत कहना, मैंने किया! और बुरा हो तो क्या करें, परमात्मा ने करवाया। फिर तो जो हो, अच्छा कि बुरा, सब उसी ने करवाया।
देखा न टेरेसा को! रही होगी आलसी, आलसी-शिरोमणि! गिर पड़ी तो यही उसने कहा कि यह क्या करवा रहे हो, यह क्या दिखा रहे हो! जरा ख्याल तो रखो, मैं बूढ़ी हो गयी, यह तुम्हारा व्यवहार! यह बड़े प्रेम का निवेदन है। जिसने सब छोड़ा है, उसका निवेदन है।
जीसस सूली पर लटके हैं और आखिरी क्षण चिल्लाकर कहते हैं, यह क्या कर रहे हो? क्या तुमने मुझे त्याग दिया? क्या तुमने मुझे छोड़ दिया? यह मुझे क्या दिखला रहे हो? और फिर एक क्षण बाद शांत हो जाते हैं और कहते हैं, नहीं, तुम्हारी ही मर्जी पूरी हो! तुम मत सुनना। मैं क्या कहूं, इसका क्या मूल्य है! तुम जो करो, वही मूल्यवान है।
आलस्य को समर्पण बनाओ। श्रम हो, कर्म हो, तो संकल्प बनाओ। श्रम हो, तो योगी बन जाओ। श्रम की आकांक्षा न उठती हो, श्रम में रस न आता हो, तो भक्त बन जाओ। द्वार प्रत्येक के लिए है।
लेकिन पहली बात ठीक से पहचान लेना--तुम कौन हो? स्वधर्म को ठीक से आंक लेना! स्वधर्म को ठीक से आंककर चला हुआ आदमी कभी भटकता नहीं है।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।
आज इतना ही।